आध्यात्मिक जीवन पद्यावली

(व्याख्या सहित)

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग

स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज

द्वारा प्रणीत

(भाग-२)
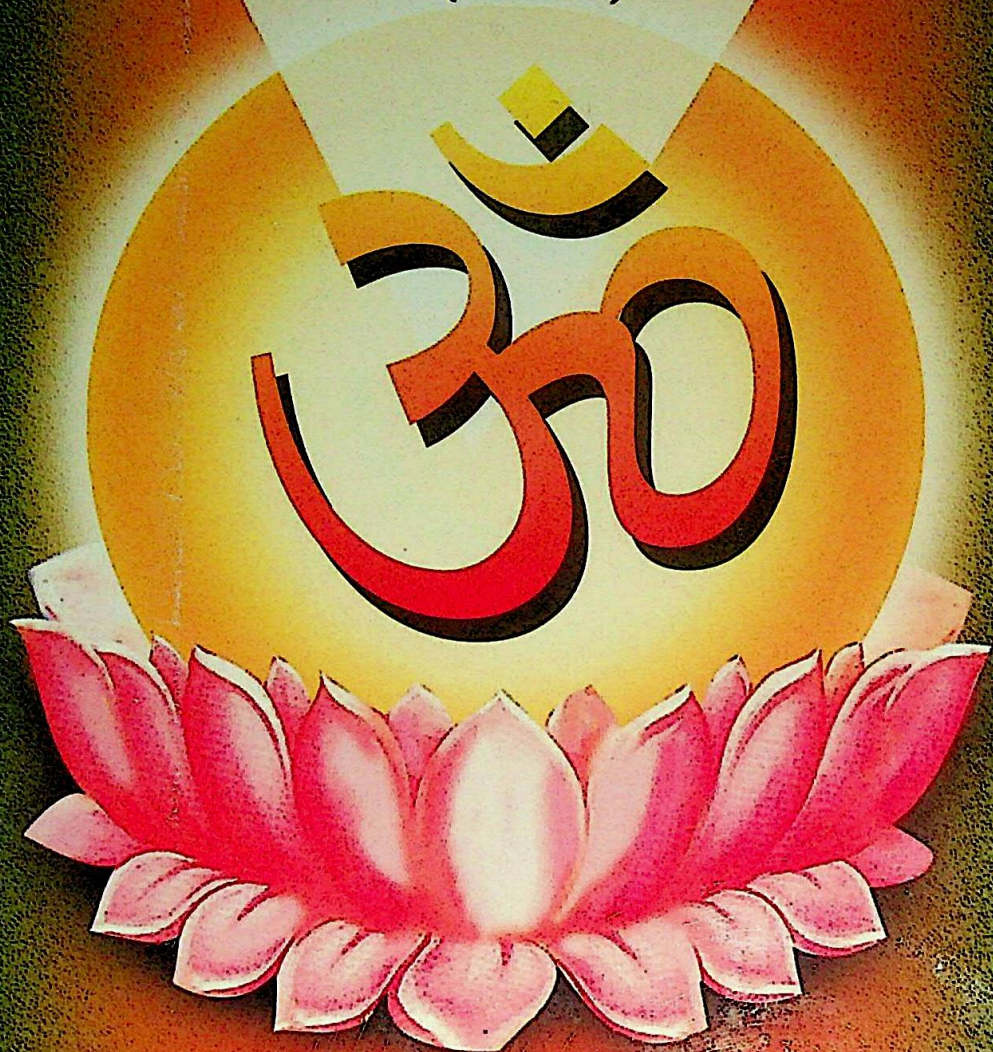
अम्बाला व अन्य स्थानों के धर्मप्रेमी समुदाय द्वारा प्रकाशित
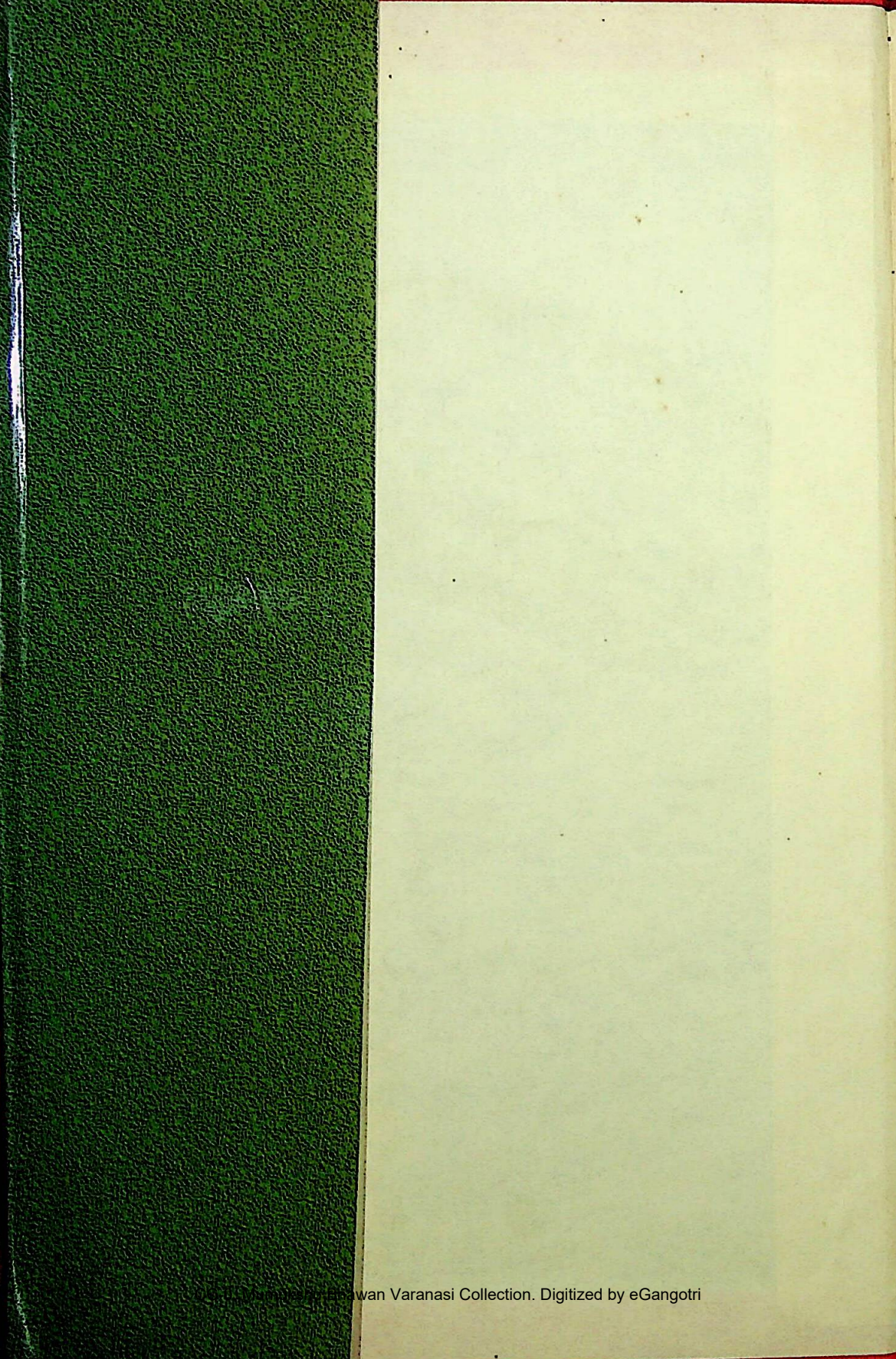
आध्यात्मिक जीवन पद्यावली

(व्याख्या सहित)

(भाग-2)

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग
स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज
द्वारा प्रणीत

चतुर्थ संस्करण

अम्बाला एवं अन्य स्थानों के
'धर्मप्रेमी समुदाय' द्वारा प्रकाशित

मूल्य | श्रद्धा-भावपूर्वक अध्ययन एवं मनन

(निःशुल्क वितरणार्थ)

प्रवर्धित तथा संशोधित चतुर्थ संस्करण : २००३ 2100 प्रतियां

प्राप्ति स्थान :

१. ज्ञान चन्द गर्ग,
६६, प्रीत नगर,
अम्बाला शहर–१३४ ००३ (हरियाणा)
दूरभाष : ०१७१–२५५२७६१

२. श्री अंनन्त प्रेम मन्दिर,
नदी मुहल्ला
अम्बाला शहर–१३४ ००३ (हरियाणा)
दूरभाष : ०१७१–२५१०५४५

३. सन्त निवास,
उजड़ गाँव विरक्त कुटी,
रामा विहार के सामने,
कराला गाँव, दिल्ली–११००८१

मुद्रणालय :
लक्ष्मी प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली–६

विषय-सूची

परमहंस वीतराग स्वामी श्री दयानन्द गिरि जी महाराज

दो शब्द

परम श्रद्धेय श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग परम पूज्य स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज जो स्वयं ज्ञान की मूर्ति हैं की अपार कृपा से **'आध्यात्मिक जीवन पद्यावली'** (व्याख्या सहित) भाग-२ का चतुर्थ प्रवर्धित तथा संशोधित संस्करण धर्म प्रेमी समुदाय द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ के भाग-१ में ग्रन्थ की **भूमिका, चर्या व ध्यानोपासना काण्ड** का निरूपण किया गया है।

अब इसी ग्रन्थ के भाग-२ में **दर्शन काण्ड व प्राणापान स्मृति** का विस्तार से वर्णन किया गया है जिसमें परम पूज्य स्वामी जी ने वेदों और शास्त्रों का सार सरल रूप से खोल कर अपने श्री कर कमलों द्वारा इस ग्रन्थ में प्रकट करके धर्म प्रेमी सज्जनों पर बड़ी अपार कृपा की है।

जिस आदि पुरुष ने यह धर्म या कल्याण के मार्ग को चलाया; साधारण मनुष्य की समझ में बैठाया, ऐसा पूर्ण प्रज्ञा (सत्य ज्ञान) वाला जो सर्वज्ञ भगवान् इस धरती पर कभी प्रकट हुआ, उसने सम्पूर्ण प्राणी मात्र के कल्याण के लिये जो शब्द उस समय उच्चारण किये, वह आजकल के समय के अनुसार साधारण मनुष्य की समझ में न आने योग्य भाषा में थे और वह भाषा इस युग में साधारण मनुष्य की समझ में आनी कठिन है। परम पूज्य स्वामी जी ने एकान्त में अपने ध्यान में प्रकट सत्य के शब्दों के भावों को ज्यों की त्यों जैसे आदि पुरुष ने उच्चारण किये थे अनुभव किया और उन्हीं भावों को आज की बोल चाल की भाषा में इस ग्रन्थ में धर्म प्रेमी सज्जनों की अन्तिम भलाई के लिये समझ में आने वाले शब्दों में बड़े सुन्दर ढंग

से खोल कर इस धर्म ग्रन्थ में व्यक्त (प्रकट) कर दिया है जिनका समस्त धार्मिक समाज युग–युगान्तरों तक ऋणी रहेगा।

इन सत्यों के शब्दों को बुद्धि द्वारा समझने पर तथा उनसे हमारी भलाई प्रकट झलकती हुई दीखने पर मन हर्षयुक्त होता है; और उन्हीं सत्यों को न अपनाने के कारण से ही दुःख से जलता हुआ संसार दीखने पर ऋषियों के शब्द हमारे मन को दीप्त प्रचण्ड करते हैं कि हमें अवश्य इस संसार की अग्नि से इन्हीं सत्यों को अपनाकर बचना है। वे पहले के ऋषि इसी मार्ग पर स्वयं चल कर अन्त में परम सत्य को पाकर स्वयं आनन्दित और कृत कृत्य हुए; इससे हमें भी उन्हीं के परम सत्य को पाने के लिये उन्हीं के अत्यन्त विश्वास वाले शब्दों से प्रेरणा भी मिलती है कि हम भी स्वयं उन्हीं के पद चिन्हों पर चलकर इस भव सागर से पार होकर अनन्त शान्ति को अपनी आत्मा में ही प्राप्त करें।

ग्रन्थ के भाग–१ में जो भूमिका लिखी है उस भूमिका में पूज्य स्वामी जी ने वर्णन किया है कि इस ग्रन्थ में जो कुछ भी विषय चर्चा में आया है वह सब कोई नवीन या आधुनिक किसी एक व्यक्ति का मत नहीं हैं; किन्तु युग के आदि से बुद्धिमान्, विचारशील तथा ध्यान में सत्य को पहचानने वाले ऋषियों का, वेद तथा अन्य मोक्ष या कल्याण के मार्ग को दर्शाने वाले शास्त्रों में प्रकट रूप से प्रतिपादन किया गया, केवल अपनी आत्मा या अपने आप में ही निर्विरोध रूप से पाये जाने वाले नित्य शान्त सुख का उपाय रूप धर्म ही है। केवल शब्द या बोलचाल की भाषा ही आधुनिक हो सकती है; सत्य धर्म तो प्राचीन ऋषियों का ही है। उनके शब्द पुनरुक्ति (दोबारा बोलना) या ग्रन्थ के अधिक विस्तार के भय से नहीं लिखे गये जो कि अधिक करके संस्कृत भाषा में ही हैं; परन्तु सार या उनका कल्याण के उपयोगी जितना कुछ अंश है वही सब इस ग्रन्थ का विषय है।

इस ग्रन्थ के छपने से पहले जिन–जिन सज्जनों ने पुस्तक के पूर्व संस्करण में जहाँ कहीं भी अशुद्धियां व त्रुटियां थीं उनके बारे में

सूचना दी, उन अशुद्धियों को सामान्य रूप से पूज्य स्वामी जी का बहुमूल्य समय लेकर संशोधन करने का प्रयास किया गया तथा स्वामी जी के आशीर्वाद से लगभग संशोधन कर ही दिया गया है। जिन धार्मिक जनों ने ऐसा सेवा का कार्य किया है हम सभी उनके अत्यंत आभारी हैं।

हम उन सभी सेवापरायण भक्तों के भी बहुत आभारी हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक जीवन पद्यावली ग्रन्थ भाग–१ व भाग–२ के चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन में आर्थिक योगदान बड़ी उदारता से देकर अपने धन का सदुपयोग किया है।

संसार के लोग इस समय रोग–शोक–भय से कांप रहे हैं, सभी दुखी हैं। रोग से छूटने के लिये, अनेक उपाय कर रहे हैं पर दुखों से छूटने की बजाय और दुखी हो रहे हैं; सुख और शान्ति अपने अन्दर है, उसको ढूंढने की कोई कोशिश नहीं कर रहा है आध्यात्मिक जीवन पद्यावली में अन्तर्मुखी होने की विधि पूज्य स्वामी जी ने बतायी है। इसको पढ़कर इसके अनुसार आचरण करने से सबका कल्याण होगा, पाप नष्ट होकर शान्ति मिलेगी।

जो भी श्रद्धालु भक्तजन इस ग्रन्थ को ध्यान से पढ़ेगा तो उसको इसमें लिखे पद्यों या छन्दों में ऐसे महापुरुष की झलक पड़ेगी कि जो कुछ भी इन पद्यों की पंक्तियों में लिखा है, वही उनका अपना जीवन भी है। इन पद्यों तथा इनकी व्याख्या को पढ़ कर ऐसा लगेगा मानों महापुरुष स्वयं हमारे अंग संग बैठ कर आध्यात्मिक कठिनाईयों को हल करने के लिये स्वयं हमारा मार्ग दर्शन कर रहे हैं। उनका उपदेश बड़ा मार्मिक व आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर करने वाला है। परम पूज्य स्वामी जी के श्री चरणों में इस अपार कृपा दृष्टि के लिये हम कोटिशः प्रणाम करते हैं। हम सभी धर्म प्रेमी सज्जन विनम्र प्रार्थना करते हैं कि पूज्य स्वामी जी महाराज हमारे ऊपर सदैव अपनी कृपा दृष्टि बनाए रखें।

सेवक
ज्ञानचन्द गर्ग
अम्बाला शहर

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

दर्शन काण्ड

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐卐卐

卐 अथ अविद्या परिचय वर्ग 卐

जहाँ सूझ न बूझ कछु, अविद्या तहाँ रुलाये।
इन्द्रियगण तो मन को, थोड़ा ही भ्रमाये।।
। १६६ ।

भूमिका :- गत पद्यों में जो यह कहा कि धर्म के मार्ग पर चलते जाने से तथा धर्म के सब अंगों को कार्य रूप से अपनाने पर जो भगवान् में शान्ति व सुख सदैव बना रहता है, वही साधक पुरुष अपने आत्मा में पाता है। अब इस पद्य में यह दर्शाया जा रहा है कि निकटतम (सबसे निकट) आत्मा में स्थिति पाने और सब दुःखों से मुक्ति पाने के लिए अन्तिम बन्धन जो अविद्या नाम वाला है, उसको साधक पुरुष को अपने जीवन में प्रथम ध्यान द्वारा समझना या पहचानना; और उसे, 'पूर्णतया कैसे-कैसे जीव को बाँधता हुआ संसार में ही बनाये रखता है', ऐसा जान कर इससे पूर्ण मुक्ति पाकर नित्य आत्मा में टिकाव प्राप्त करना है। इसी उद्देश्य के लिये संक्षेप से अविद्या का स्वरूप दर्शाते हुए, 'वह कैसे मनुष्य को इन्द्रियों के जगत् में ही बाँधती है या बाँधे रखती है', इसी सत्य को यहाँ दिग्दर्शन (संक्षेप से दर्शाना) किया गया है।

पद्यार्थ :- यहाँ कुछ भी सूझ (सुधी) या बूझ (बुद्धि) नहीं जागती और अविद्या नाम वाला बन्धन जीव को ऐसी अन्धकार जैसी अज्ञान की रात्रि में रुलाता है। और जब उस अज्ञान के अन्धकार में ज्ञान शून्य हुआ-हुआ जीव अपना विनाश सा प्रतीत करने लगता है तो हठात् अविद्या पुराने संस्कारों को प्रबुद्ध (जगा) करके उन्हीं पुराने

इन्द्रियों के विषयों की स्मृतियाँ (यादें) सम्मुख उपस्थित करती है; उन विषयों की स्मृतियों के साथ काम या इच्छा बन्धी रहती है। काम या इच्छा तो संसार में प्राणी और पदार्थों के ही संग से पूर्ण होगी। इसलिये जीव को पुनः संसार में ही कुछ का कुछ होना पड़ता है। यही भव नाम से शास्त्रों में कहा है। परन्तु इन इन्द्रियों के सुख के जगत् में मन की तृप्ति तो अल्प (थोड़े) समय तक की ही होगी। किसी भी इन्द्रियों के सुख या तृप्ति का सदा बने रहना तो असम्भव ही है। जब वह सुख न रहा तो मन पुनः अविद्या में निमग्न या लीन हो पुनः चित्त रूप चिन्तन धारा को उत्पन्न करके पुनः वैसे ही संस्कार जगा-जगा कर संसार में ही बहाता रहेगा।

ज्ञानशून्य तो जीव रहना नहीं चाहता। ज्ञान ही मनुष्य की आत्मा है। जब संसार के पदार्थों के संग से कुछ भी ज्ञान उपजता रहा तब तो क्षण-क्षण कुछ न कुछ ज्ञान रूप आत्मा का पता चलता रहा। परन्तु सदा बाह्य इन्द्रियों के सहारे कहाँ तक ज्ञान जागता रखा जा सकेगा। इन्द्रियों के विषय तब तक ही प्रिय, ज्ञान में रखे जाते हैं जब तक इनसे कोई प्रयोजन या स्वार्थ सिद्धि होती है। जिन घास-फूस आदि से कोई प्रयोजन या स्वार्थ पूर्ण नहीं होता, उनको कोई दृष्टि में भी नहीं लाता। सकल आयु जब विषय या विषयों का सुख रूप स्वार्थ भी हमारा नहीं बना रह सकेगा तो हमारा मन विषयों के ज्ञान से भी अपनी आत्मा की तृप्ति नहीं पा सकेगा और तब केवल उनसे दुःख होता देखकर इस दुःख से द्वेष करता हुआ केवल अविद्या में ही रुलता रहेगा। मतलब का (सुख वाला) प्रिय

ज्ञान तो मिलता नहीं। बेमतलब का पुराने सुख का वियोग मन को भाता नहीं। ऐसी स्थिति में मन केवल अविद्या वाले चित्त में ही बहता रहता है। विवेक ज्ञान जगाने के बिना दूसरा ऐसी अवस्था में कोई सहारा नहीं बन सकता। यदि ऐसी अविद्या की रात्रि में पुराने सुख के वियोग और उसके दुःख को ही सम्मुख रखकर अर्थात् ध्यान में बसाकर, इसी दुःख को साक्षात्कार करता हुआ, प्रकट रूप से दृष्टि में लाता हुआ, मनुष्य इसी दुःख के कारण की खोज करने लग जाये, तो वह अविद्या की इस रात्रि में विवेक और विचार का दीपक जलाकर उसके प्रकाश में जगत् के सब सत्यों को पा जायेगा। और अन्त में सब दुःख की जड़ (मूल) उन्हीं बिछुड़ने वाले सुखों की तृष्णा को समझकर उससे मुक्ति पाने के मार्ग पर भी आरूढ़ हो जायेगा। इसी तृष्णा का ही अन्धकारमय स्वरूप अविद्या है। जब संसार के विषयों की ओर मन की प्यास है तो इसका नाम तृष्णा है; जब यही विषयों की याद के बिना शक्ति रूप से टिकी बैठी है और केवल उसी पुराने सुखादि की सोच में खोयी हुई चित्त की अवस्था में है तो सब सूझ-बूझ से रहित अविद्या की दशा है। इसी में पुनः मन में विचार विवेक शून्य होने पर या रहने पर वही पुराने संसार के संस्कार जाग्रत होकर संसार में ही जीव को धकेलते हैं। इस अवस्था में अधिक समय तक चित्त का प्रवाह नहीं टिक सकता। जब तक यंह अवस्था बनी रहती है, तब तक ज्ञान की चूक बनी रहती है। यदि ज्ञान की अवस्था न प्राप्त हो तो निद्रा आदि भी इसी की अवस्था है। यह सब सत्य ध्यान द्वारा ही अपने अन्दर पाने के हैं। बाहर के

तर्क-वितर्क से इन सब आध्यात्मिक सत्यों का थोड़ा ही ज्ञान होता है। इस अविद्या को क्षण-क्षण देखते-देखते जो टाल सकता है, उसके आत्मा का सुख स्वरूप साक्षात्कार अपने आप में सम्पन्न हो जाता है। यही सुख स्थायी है।

बिन विचारे जाने कैसे ? कैसा जिया जाये।
पूर्ण खाली मन तो पुनः शून्य में रमाये।।
। २०० ।

भूमिका :- गत पद्य में अविद्या का अपने आप में साक्षात्कार करने योग्य स्वरूप दर्शाया गया और अविद्या से प्रेरित होकर पुनः इन्द्रियों के जगत् में (ज्ञान पाने के लिये) जाने से तो थोड़ा (अल्प) ही सुख बतलाया गया। उस अल्प सुख के साथ चिपकाव के कारण मन भ्रम में फंसकर उस विषयों के जगत् में ही होना और बने रहने में अपना हित समझ बैठता है। यही भ्रम है जो कि इन्द्रियों के विषय संग से उत्पन्न हो जाता है। इस सब भ्रम और अविद्या के बन्धन से मुक्त होने के निमित्त आगे के कई एक पद्य साधन की चर्चा करते हैं।

पद्यार्थ :- बिना अपने जीवन को समझे और समझने के लिये बिना विचारे मनुष्य अपने जीवन को जैसे साधना है, यह सब सत्य कैसे जान सकेगा ? और बिना जाने पहचाने कैसे अन्तिम फल तक पहुँच सकेगा ?

यदि विचार द्वारा मनुष्य पूर्ण ज्ञानवान् हो जाये तो वह जगत् के सब बन्धन टालने पर अपने मन को पूर्णतया जगत् की तृष्णा से रहित कर देगा। यही मन तृष्णा के नष्ट होने पर खाली हो गया अर्थात् इसमें अब संसार का

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

मल नहीं रहा। ऐसी खाली या रिक्त अवस्था में जो बोध के साथ इस अवस्था का दुःख न मानकर इसमें टिकाव प्राप्त कर सका तो वह बोध-युक्त (बुद्ध) शून्य में रम जायेगा अर्थात् इसमें पूर्णतया सन्तुष्ट रहेगा। जैसे किसी मकान में कूड़ा-कर्कट भरा पड़ा हो; दुर्गन्ध-युक्त वह घर (मकान) मनुष्य को अन्दर घुसने मात्र से दुःखी करे। परन्तु यदि इसका सब कूड़ा कबाड़ बाहर पटक दिया जाये; इसे धोकर स्वच्छ बना दिया जाये तो खाली (शून्य) मकान रहने योग्य व सुखकारी होता है। इसी प्रकार तृष्णा के बन्धन राग, द्वेष, संशयादि के संसार को बाहर पटक कर मन को सब मलों से रहित करके खाली करना पड़ता है। पुनः सब प्रकार के सद्भावों और बलों द्वारा इसे धोकर स्वच्छ बनाना पड़ता है और पुनः ज्ञान के प्रकाश में स्वयं इसमें बसना है। यही बोध युक्त शून्य मन होगा। यहाँ केवल आत्मा का सुखमय प्रकाश सदा विराजमान होगा।

इस पद्य का यह भाव है कि प्रथम जो जीवन मनुष्य ने संसार में पाया है वह बांह्य विषयों और बाह्य प्राणियों के संग वाला है। इसी में बालक की बुद्धि ने अपना हित पहचाना था। इसी से राग-द्वेषादि मल या बन्धनों से मन भरा-भरा सड़ता जाता है। सब संसार के सुख तो समय बदलने पर दुःख रूप हो जाते हैं परन्तु तृष्णा उनको छोड़ने भी नहीं देती; यहाँ वही सुख संस्कार या स्मृति (याद) में दुःख रूप हुए-हुए सड़ने के दृष्टान्त द्वारा सूचित किये गये हैं। यदि विचार करके हम स्वयं ही इस बाह्य जीवन का थोथापन न समझ सके तो इसी के साथ ही संसार में बहते रहेंगे, दुःख पाते रहेंगे; मिथ्या आशा के

अनित्य सुखों पर विश्वास रखते हुए, तृष्णा की बेल को ही सींचते रहेंगे और इन सब का परिणाम होगा अज्ञान और दुःख, जैसे कि गत पद्य में दर्शाया था। सांसारिक सुखों की तृष्णा मन में बसाये रखने पर उन्हीं बीते हुए कभी के सुखों की आशा में खोये-खोये ज्ञान शून्य चित्त की अवस्था में पड़े या रुले रहना ही यहाँ अज्ञान शब्द से सूचित किया गया है। इस अवस्था के चिरकाल तक बहते रहने पर जीव को अपना सुख ज्ञान रूप आत्मा न मिलने पर अपने विनाश की शंका हो जाती है। इसीलिए आत्म ज्ञान शून्य वही जीव पुनः जैसा-तैसा संस्कारों का ही ज्ञान जगाकर पुनः संसार में ही आत्म भाव पाता है। संसार से मुक्त नहीं हो पाता। यदि धीरे-धीरे महापुरुषों के चले मार्ग के अनुसार विचार को उन्नत करके अपने सांसारिक जीवन को पहचान कर उसके दुःख को समझकर उससे मुक्ति के मार्ग को भी समझने की चेष्टा करेंगे और मुक्ति के योग्य जीवन की रचना के लिए यत्नशील होंगे, तभी यह हमारी मनुष्य की बुद्धि और मनुष्य का जन्म सफल होगा। बिना विचार के उन्नत किये यह सब असम्भव है। अन्य (मनुष्येतर) सब जीव-जन्तुओं के जीवन में यह नहीं बन सकता। जीवन के सत्यों को समझने और समझकर उचित जीवन रचने का अधिकार केवल मनुष्य की बुद्धि को ही है।

यदि ऐसा जीवन रचा जा सका तो जगत् के सब मल बाहर पटकने पर रिक्त (खाली) मन बोध युक्त शून्यावस्था में भी नित्य (न समाप्त होने वाला) सुख पायेगा अर्थात् जो मन का मैल या तृष्णा का मल इससे बाहर पटका गया

उस सब जगत् रूप मल से इस मन को पुनः भरे बिना भी शून्यावस्था में भी प्रकट बोध या अपने स्वरूप का ही आनन्द इस उद्योगी पुरुष को प्राप्त होगा। यही सब इस पद्य का भावार्थ है। इसी विचार की समुन्नत (उठी हुई) अवस्था प्राप्त होने पर उद्योगी साधक अपनी अविद्या को क्षण-क्षण टलता देखता हुआ अनन्त आनन्द चेतन या ज्ञानात्मा में विश्राम पायेगा और जीवन काल में ही ऐसी मुक्ति का अनुभव करेगा । तब उसे कभी भी अज्ञान की अवस्था में अपने या आत्मा के विनाश की शंका नहीं होगी।

शून्य में मन रमता नहीं, तब तृष्णा की रात।
निज से लड़ना सीख ले, बोध की हो प्रभात।।
। २०१ ।

गत पद्य में दर्शाया गया था कि विचार द्वारा जीवन को अपनी भलाई या कल्याण के लिये सन्मार्ग पर आरूढ़ करे। इससे शनैः-शनैः मन संसार में बने रहने की तृष्णा से छुटकारा पा जायेगा।

अब यह (२०१) पद्य यह दर्शा रहा है कि यदि संसार से मन विरक्त भी हो जाये तो भी मन खाली या शून्य में तो रह न सकेगा; पुनः संसार के ही संस्कार जगा-जगा कर जीव को संसार में ही बांधने का यत्न करेगा। ऐसी परिस्थिति में मन को खाली न रखकर सत्य के ज्ञान रूप बोध को जगाये; विचार द्वारा सांसारिक जीवन का अन्त मन की दृष्टि (नज़र) के सामने लाये; तथा जो भी संसार में खींचने या पटकने वाली तृष्णा अपने काम, क्रोध आदि विकार उत्पन्न करके संसार में घसीटती है; उसका तनाव

या दुःख भी स्मृतिपूर्वक कांटे की चोभ या खुजली के दुःख के समान सहन करता हुआ अपने आप में या आत्मा में ही मिटा दे। इससे आनन्द रूप आत्मा का प्रकाश हो जायेगा तथा सम्पूर्ण संसार का दुःख इस व्यक्ति के लिये सदा के लिये शान्त हो जायेगा।

पद्यार्थ :- जब भी कोई विचारवान् मनुष्य संसार के सुखों को विचार द्वारा तुच्छ समझकर अपने आप में शान्त बैठना चाहता है तो संसार में रमण या क्रीड़ा वाला मन संसार का चिन्तन छोड़ने पर खाली या शून्य-सा हुआ अपने आप में सुख नहीं पाता। यद्यपि आत्मा अपने आप में आनन्द स्वरूप है तब भी उसकी आत्मा का सुख केवल संसार से विरक्त मात्र हो जाने से प्रकट नहीं भासता; इसीलिये एकान्त में या केवल अपने आप में मनुष्य सुख नहीं पाता; उसे अकेलापन या सन्नाटा (शून्य) भला नहीं जचता। क्योंकि उस जीव की लम्बे सांसारिक जीवन की तृष्णा अन्तःकरण में छिपी रहकर उसको संसार की ओर ही कुछ समझने और करने के लिये धकेलती है। इसी संसार की विपरीत दिशा वाली लपक से आत्मा का आनन्द स्वरूप तथा ज्ञान स्वरूप ढका रहता है। जब यह तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ आदि विकार जनाकर मनुष्य को संसार में कर्म करवा कर अल्प सुख देती है तब तो यह तृष्णा का जागता हुआ स्वरूप है। जब यह अधूरी छूटी रहे तो यह अन्दर ही अन्दर अन्तःकरण में अज्ञान या अविद्या रूप अन्धकार के स्वरूप में छिपी-छिपी जीव के वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं होने देती; उसे ढके रखती है। वास्तविक स्वरूप है सत्, चित् (ज्ञान) और आनन्द का

स्वरूप। तृष्णा इस वास्तविक स्वरूप को ढांक कर पुनः जीव को ज्ञान रूप आत्मा या अपना आपा पाने के लिए संसार की ओर ही धकेलती है। संसार के ही संस्कार जगा-जगा कर उसी की वस्तुओं और प्राणियों में सुख दिखलाती है। ज्ञान भी प्रकट नहीं होने देती। ज्ञान प्रकट करने का यत्न करने पर निद्रा ला देगी। ढीले ढाले यत्न से जागते रहने पर संसार के ही संस्कार या ख्याल सामने लायेगी। अब यदि जीव इस तृष्णा के बल से मुक्त हो जाये तो आत्मा का ज्ञान और उसका आनन्द रूप प्रकट भासे।

इसी अपनी आत्मा में रमण करने के लिए तथा शून्य में भी मन सुखी करने हेतु मनुष्य अपने सांसारिक 'आत्मा' या 'मैं भाव' से लड़ना सीख ले; अर्थात् अपने सांसारिक आपे से युद्ध करने का अभ्यास कर ले। सांसारिक अपना आपा मनुष्य को संसार में ही सुखी होने के लिए खींचता है। मनुष्य अपने आपे या अकेलेपन में कभी भी सुखी नहीं होता। बालपन से यही सांसारिक अपना आपा बल पकड़ चुका है। इसकी बात न मानने पर यह क्रोध भी करता है, दूसरों से सही बर्ताव भी नहीं करता; जीवन धारण तक की इच्छा भी इसे भली नहीं जचती क्योंकि संसार वाली 'आत्मा' या 'मैं' जो इसने संसार में पायी है वह संसार के त्यागने पर कहीं भी नहीं मिलती। ऐसी अवस्था में संसार वाला आत्मा अपने आप में उजड़ा हुआ-सा, प्रतीत होता है। इस संसार वाली आत्मा से जो लड़ सके वही, केवल अपने आप में या शून्य में अपनी ज्ञान स्वरूप आत्मा का आनन्द पा सकेगा। इसका तात्पर्य यह है कि बोध या

असलीयत के ज्ञान को उपजाकर अपने आपको सम्भाले रखे। इस संसार वाली 'आत्मा' या 'मैं' के चक्र में पड़कर संसार की किसी भी वस्तु या संगत को अच्छा न समझे।

विचार से बोध या सत्य का ज्ञान प्रकट होता है। जिधर-जिधर सांसारिक आत्मा मनुष्य को सुख दिखलाकर खींचे उधर-उधर से ही विचारवान् मनुष्य दुःख देखता हुआ अपने आप को सम्भाले रखे। इस साधन में कष्ट न माने। ज्ञान द्वारा अपने आप को सही मार्ग पर बनाये रखे। जब बोध या असलीयत का ज्ञान मन में प्रकट (उदय) हो जायेगा तो मन तृष्णा के सुखों में प्रकट दुःख देखता हुआ अपने आप ही संसार में नहीं जाना चाहेगा। जैसे प्रभात होने पर अन्धकार नष्ट होने लगता है, वैसे ही बोध जागने पर तृष्णा की दबी हुई अवस्था रूप अविद्या अन्धकार के समान स्वयं ही टलने लगेगी। किसी प्रकार से भी मनुष्य का मन संसार में जाना या होना नहीं चाहेगा। उधर दुःख-ही-दुःख दीखेगा। यही बोध की प्रभात है। ऐसा बोध वाला मन अपने आप में बल वाला होकर तृष्णा के सब तनाव अपने आप में सहन कर लेगा। तब शून्य में भी बोध युक्त हुआ-हुआ प्राणी तृष्णा के सब दुःखों को सहन करता-करता इस दुःख को क्षीण करके आनन्द और ज्ञान स्वरूप आत्मा में सदैव के लिये रमण करेगा। तब शून्य बुरा नहीं लगेगा।

खाली मन डटता नहीं, आदत डाले तनाव।
कड़वा खाना वरण कर, मीठा पाछे ठहराव।।
। २०२ ।

गत दो (२००-२०१) पद्यों में क्रम से यह सत्य दर्शाया

卐卐

गया कि ध्यान में विचार को जगाये बिना अपनी अन्तिम (सर्वश्रेष्ठ) भलाई का मार्ग पाना असम्भव है, क्योंकि साधारण जन इन्द्रियों के मार्ग पर ही संसार में भटकते रहने का अभ्यासी (आदी) है। यदि संसार से मन को पूर्णतया खाली करके कोई टिक सके तो वह भली प्रकार से बोध पूर्ण शून्य में भी परम सुख पा सकेगा। शून्य शब्द का यहाँ यह अर्थ है कि जहाँ मन ने सब संसार को अपने से निकाल दिया और केवल अपने आप में ही टिका है। परन्तु जन साधारण का मन संसार से खाली होकर केवल शून्य में नहीं रमता अर्थात् शून्य में उसे कोई तृप्ति या संतोष प्रतीत नहीं पड़ता, वहीं जगत् के शक्तिशाली झुकाव रूप तृष्णा की रात्रि में मनुष्य ज्ञान रूप प्रकाश से शून्य सा होकर किसी भी ज्ञान के प्रकाश को पाने के लिये उतावला होकर पुनः संसार के संस्कार जन्मा कर संसार में ही होना चाहता है अर्थात् संसार में ही बना रहना चाहता है। परन्तु जो विचार को जन्माकर संसार में ही होने या बने रहने के दुःख और शोक को समझने के लिये अपने आप से लड़कर कुछ सीख सके तो उसे संसार में होने या बने रहने के दुःख का साक्षात्कार हो जायेगा। वैसा बोध होने पर वह शून्य में बोध सहित बसे रहने को ही अच्छा समझेगा।

अब यह (२०२) पद्य इसी ऊपर कहे गये पद्यों के भाव को ही स्पष्ट करता है कि जब मन से संसार को निकाल दिया गया तो मन खाली हो गया, परन्तु खाली मन अपने आप में डटता (ठहरता) नहीं, क्योंकि संसार के संग से ही मन को जागते रहने की आदत पड़ी हुई है। इसलिये मन

की खाली अवस्था में दुःख का तनाव होता है जो कि संसार में ही होने के लिये प्रेरित करता है। ऐसी अवस्था में दुःख का अनुभव मनुष्य को शून्य में खाली मन के साथ टिकने नहीं देता। परन्तु यदि मनुष्य थोड़ा दुःख में भी धैर्य रखने का अभ्यास करे (यही कड़वा खाना स्वीकार करना है) तो ऐसे धैर्ययुक्त व्यक्ति को बोध या प्रत्यक्ष ज्ञान में यह सत्य भासेगा कि यदि शून्य में खाली मन रखकर रमण करने का अभ्यास न किया गया तो पुनः संसार की अविच्छिन्न (अटूट) धारा में बहने का दुःख सदा के लिये स्वीकार करना पड़ेगा। यदि ऐसे आदत के तनाव के दुःख को सहना स्वीकार कर लिया गया तो पुनः ज्ञानपूर्वक तपस्या मनुष्य को वह बल देगी जिससे कि एक दिन यह इसी शून्य या खालीपन में नित्य, सहज, स्वाभाविक आत्मा का ज्ञान रूप प्रकाश पा सकेगा और वह नित्य आनन्द रूप से अनुभव में आयेगा। यही आत्म साक्षात्कार रूप होगा और अन्त में ब्रह्म के साक्षात्कार में सम्पन्न होगा; और यही अन्त में आनन्द स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार स्वरूप होने से मीठा लगने लगेगा और संसार के सुख और उनके लिये संसार में होना या बने रहना भी दुःख रूप दीखने से कड़वा लगने लगेगा। यही सब तीनों पद्यों का सार या भाव है।

निज में मन ठहरे नहीं, अविद्या चाहे खेल।
दृढ़तर सब झेलत रहे, टरे दुःख सुख मेल।।
। २०३ ।

गत पद्यों में शून्य में टिकाव प्राप्त करने की कठिनाई को दर्शाया गया। खाली मन में सुख का न होना ही मनुष्य

को संसार की दिशा में ले जाने का कारण बताया गया और इनमें स्थिर रहने के लिये दृढ़ता रखने का सुझाव भी दिया गया।

अब इस (२०३) पद्य में शून्य या खाली मन में जो टिकने नहीं देता ऐसे बन्धन की सूचना दी गयी है जिससे कि इस बन्धन को ध्यान में ज्ञान दृष्टि द्वारा समझकर, पहचानकर इसके भी परिहार या त्याग के कष्ट को सहन करने का धैर्य रखा जा सके और अन्तिम उद्देश्य (आत्मा में नित्य टिकाव) को प्राप्त करके दुःख का मूल ही उखाड़ा जा सके। दुःख की जड़ या मूल है अविद्या। अब आगे के कई एक पद्यों में इस अविद्या के बन्धन का जीव के अन्दर का स्वरूप दर्शाया गया है जो कि मनुष्य को अपने अन्दर प्रेरक रूप से कार्य करता हुआ दिखायी दे सकेगा और मनुष्य को इसे दुःखकारी बन्धन पहचानकर निकट रूप से त्यागने की प्रेरणा भी हो सकेगी।

पद्यार्थ :- संसार के सब प्रकार के विषयों और उनके भावों से रहित होकर साधारण जन अपने आप में या अपने ज्ञान स्वरूप में सहज रूप से ठहरता नहीं, क्योंकि ऐसी अवस्था में अविद्या नाम का बन्धन इस जीव में तनाव उत्पन्न करके पुनः सांसारिक खेल की इच्छा करता है जिससे कि अविद्या के अन्धकार से निकलकर कोई तो ज्ञान का प्रकाश रूप आत्मा मिले। परन्तु सांसारिक ज्ञान से जो कुछ भी मनुष्य को आत्मा या अपने आप के होने का ज्ञान होगा, वह स्थिर रहने का नहीं। इसलिये मनुष्य को संसार के अवलम्बनों (सहारों) के बिना जो सहज, नित्य ज्ञान रूप आत्मा या अपने आप का प्रकाश मिलेगा,

卐卐卐

वास्तविक (असली) सहारा तो वही हो सकेगा। इसलिये मनुष्य को और भी दृढ़ता के साथ सब दुःखों को झेलते रहकर अन्त में आत्मा के नित्य ज्ञान के प्रकाश को ही पाना चाहिए। इससे एक दिन सब दुःख टलेगा और नित्य सुख का मेल होगा। इसी नित्य सुख को ढांकने वाला तत्त्व ही अविद्या है। जब वह (जीव) नित्य आनन्द रूप ज्ञानात्मा प्रकाश को प्राप्त हो गया तो अविद्या जड़ मूल से ही नष्ट हो जायेगी। इसके लिये थोड़ा दुःख में स्थिर रहने या दुःख देखने में धैर्य को दृढ़ रखना चाहिए। अविद्या का तत्त्व मनुष्य को ध्यान दृष्टि में ज्ञान को ढांकता हुआ प्रतीत पड़ता है। जीव अविद्या की अवस्था में ज्ञान शून्य हुआ-हुआ सा कुछ भी समझने के लिए या कोई भी ज्ञान पाने के लिये लालायित रहता है। परन्तु जब तक कुछ समझ नहीं मिलती तब तक अविद्या अपना तनाव रखती है। जब कुछ समझ लिया या जान लिया तो अल्पकाल के लिये इसका तनाव दूर हो जाता है। परन्तु संसार की समझ सदा एक जैसी कभी भी नहीं रह सकती। इसलिये अविद्या संसार के ज्ञानों से नहीं मिटती। जब नित्य प्रकाशमान आत्मा का ज्ञान ही झलके तो ही यह पूर्ण रूप से मिटती है। जब तक कुछ भी सांसारिक जानने की भूख या लपक है तब तक अविद्या का ही राज्य समझना चाहिए। मन का स्वरूप भी यही है कि इस अविद्या के बन्धन से निकलने के लिये क्षण-क्षण कुछ-न-कुछ समझते रहना, क्षण-क्षण कुछ भी बाह्य जगत् के पदार्थों के बारे में कुछ कामना रखकर कर्म करने का भाव रखना। यह सब अन्त में दुःख या खेद ही करेगा और उस खेद या दुःख

की अवस्था में बने रहने की इच्छा कभी भी नहीं रह सकेगी, यही मृत्यु को निमन्त्रण देना है। यदि केवल ज्ञान मात्र, बिना कुछ करने कराने या इच्छा रखने के जाग्रत रहे तो यह नित्य ज्ञान रूप आत्मा की प्राप्ति दुःख और खेद के ताप से रहित होगी। इसी से सब दुःख टलेगा और अन्त में नित्य सुख की प्राप्ति होगी।

बाह्य विषयों या पदार्थों में मन का स्पन्दन (स्वाभाविक फुरणा) यद्यपि अपने विनाश की शंका को हटा देगा, क्षणिक आत्म भाव की प्राप्ति जैसा भी दर्शा देगा क्योंकि कुछ भी मन का स्पन्दन (फुरणा) ज्ञान रुप ही तो होगा। परन्तु दुःख या खेद के साथ होने से अन्त में इससे भी मुक्ति पाने के लिये जीव आकांक्षा करेगा। तभी दूसरी तृष्णा जो कि विभव नाम से कही गयी है उसे स्वीकार करके निद्रा या मृत्यु की आकांक्षा करेगा। कुछ भी अपना आपा या आत्म भाव पाने के लिए संसार में होने का नाम भव है, इसी का तीव्र झुकाव तृष्णा रूप से (भव तृष्णा नाम से) कहा गया है। परन्तु यह संसार में होना (बाहर प्राण शक्ति का भटकन वाला रूप) अनुभव में आने पर इससे विपरीत न होना रूप (विभव की ओर) भी मन का झुकाव होता है। यही विभव तृष्णा है। इन दोनों से वही मुक्त होगा जो दुःख से न डरे और संसार में कुछ होने की इच्छा न करके दुःख को देखता-देखता टाल दे। और संसार में बाह्य मन की भटकना और उसी से बाह्य प्राण शक्ति की क्षीणता ही दुःख, खेद रूप से जीव को एक दिन बाहर जगत् से निराश और हताश बनाकर मृत्यु की कामना करवाती है। दिनों दिन निद्रा में आराम पाना भी इसी के

कारण सुख रूप प्रतीत होता है। इन्हीं दो प्रकार की संसार में होने और न होने की तृष्णा के कारण जीव अपने आत्म रूप में प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। इसीलिये मनुष्य संसार में ही ज्ञान को चाहता है और पुनः उसमें दुःख देखकर समेटने में सुख पाता है।

परन्तु संसार के मार्ग से जीव कभी भी ज्ञान की पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें व्यक्ति का बाह्य स्वार्थ टिका बैठा है जो कि दूसरों से विरोधी भी है। सब ओर से अपने-अपने स्वार्थ की खींच मनुष्य के ज्ञान को आगे-आगे चित्त या चिन्तन को उत्पन्न करके कुछ-न-कुछ अपने हित के लिये समझने को प्रेरित करती रहती है। यह ज्ञान कभी भी पूर्णता को प्राप्त नहीं करता अर्थात् मोक्ष तक नहीं पहुँचाता। शंका, भय, अपने बाह्य सुख-दुःख और मान-अपमान के कारण से सोच और समझ का मार्ग सदा अधूरा ही दिखता है। बाहर सोचता-भटकता मन श्रान्ति (थकावट), दुःख, खेद से दुःखी होकर तथा रोगों के दुःख से परेशान होकर कोई उपाय न देखता हुआ अन्त में मृत्यु की शरण चाहता है। यही ज्ञान का अधूरा रहना, पूर्ण न होना ही आगे से आगे सोचने समझने के मार्ग को पूरा नहीं होने देता। ज्ञान पूरा हुए बिना अविद्या का अन्धकार ही बसा रहता है। ऐसी अविद्या की रात्रि में केवल एक ही ज्योति जो कि शुद्ध ज्ञान रूप की है, वह जगे तभी यह अविद्या क्षण-क्षण टले। प्रथम जगत् के स्वार्थ से वैराग्य; पुनः अल्प मात्रा में दुःख को स्वीकार करना; दुःख-सुख में समभाव प्राप्त करके जैसा भी मन दुःख वाला या सुख वाला स्फुरित हो उसे ज्ञान रूप में ही पहचानकर उस

卐卐卐
ज्ञान स्वरूप में ही रमण करने से नित्य ज्ञान रूप से आत्म ज्योति सिद्ध होगी। दुःख देखते-देखते टलेगा, काम या इच्छा तो न्याय संगत (युक्ति-युक्त) न होने से मन से ही उतर जायेगी। मन का स्वभाव तो क्षण-क्षण बदलते रहना है, ऐसा सत्य पहचानकर दुःख में धैर्य रखकर सब दुःखों की समाप्ति अपनी आत्म ज्योति में ही देख लेनी है। यह ज्योति पुनः कभी बुझने वाली नहीं क्योंकि ज्ञान कभी भी नष्ट नहीं होता।

अविद्या रात कराल में, जो जगे निरन्तर ज्योत।
अन्त बन्ध तासे टरे, छूटत जन्म और मौत।।
। २०४ ।

गत पद्य में कहा गया कि 'निज में मन ठहरे नहीं, अविद्या चाहे खेल', इत्यादि। इसका भाव यह है कि मन अपने में या अपने केवल ज्ञान स्वभाव में स्थिरता या टिकाव प्राप्त नहीं कर पाता क्योंकि अविद्या संसार के ही खेल की अपेक्षा रखती है।

इस अविद्या रूप सब बन्धनों के अन्तिम बन्धन को छुड़ाने या इससे छूटने के लिये मनुष्य को इस अविद्या के बन्धन को प्रकट अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से अपने मन में कार्य (काम) करते हुए देखना या साक्षात्कार करना पड़ेगा। इस अविद्या के प्रत्यक्ष (प्रकट) ज्ञान बिना इसका परिहार या त्याग होना असम्भव है। यह वार्ता कई बार कही जा चुकी है। यद्यपि प्रत्येक बन्धन और उससे होने वाले सब विकारों के ज्ञान के बिना ये सब (बन्धन) त्यागे जाने असम्भव हैं। परन्तु अविद्या के पहचाने जाने पर ही उन सब बन्धनों की जननी (माता) का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर ये सब बन्धन जड़

से त्यागे जा सकेंगे। इसलिये अविद्या का परिचय और उसका परिहार करने के लिये आगामी तीन पद्य इसी (अविद्या) का ही परिचय दे रहे हैं। केवल शब्द मात्र द्वारा इस बन्धन और बन्धनों के परिवार को जानने से इनका छूटना नहीं बन पायेगा। परन्तु इन शब्दों के ज्ञान द्वारा ध्यान करके अपने जीव स्वभाव में इस अविद्या और उसके सब बन्धनों की लीला (प्रकट दुःख रूप भयंकर) समझकर ही मनुष्य त्यागने के लिये प्रेरित हो सकेगा।

पद्यार्थ :- अविद्या एक रात्रि के समान है। रात्रि में वस्तुओं का स्पष्ट ज्ञान न होने से जीव को भय और अनिष्ट की शंका होती है, इसलिये अविद्या रात्रि के समान है। ज्ञान पर पर्दा डालने के कारण से भयंकर रात्रि के समान ही भयंकर है। ज्ञान स्वरूप जीव अपना वास्तविक (असली ज्ञान) स्वरूप प्रकट न होने पर अपने विनाश की शंका करता हुआ भयभीत होता है। अविद्या का कार्य यही है कि वह जीव के ज्ञान रूप प्रकाश को ढककर भयंकर रूप से रात्रि के समान कार्य करती है। जब जीव अपने ज्ञान स्वरूप को पाने के लिये आत्म ज्योति में रमण करने का आदी या अभ्यासी नहीं हो सका तो जीव अविद्या के कारण उन्हीं संसार के ही संस्कारों को जगा कर संसार में ही होने या कुछ रूप में जन्मने के खेल की क्रीड़ा को ही रुचिकर मानता है। इससे कुछ सांसारिक ज्ञानों को पाकर थोड़ी-थोड़ी देर के लिये अविद्या टल तो जायेगी परन्तु स्थायी या नित्य रूप से तो वह वैसी की वैसी ही छाई रहेगी। जैसे कि बैटरी का बटन दबाने पर थोड़ी देर के लिये अन्धकार टल गया और जैसे ही बटन को ढीला

छोड़ा कि पुनः अन्धकार छा गया। ऐसे ही सांसारिक ज्ञानों से थोड़े समय के लिए अविद्या का अन्धकार टलता है, परन्तु शुद्ध आत्मा का ज्ञान प्रकट होने से सदा के लिये टल जाता है। क्योंकि संसार की कोई भी सत्ता या किसी भी भाव का ज्ञान सदा तो बना रहेगा नहीं, जब भी वह नष्ट हुआ तो पुनः मन अविद्या (न समझने की अवस्था) रूपी अन्धकार में डूब जायेगा। यदि पुनः मन कुछ क्षणों के लिए सांसारिक ढंग से स्फुरित हुआ तो वह स्फुरण भी नित्य तो रहेगा नहीं, पुनः वही अन्धकार छा गया। इस प्रकार जगत् की कोई भी स्थिति देश, काल और वस्तुओं के साथ बन्धी रहने से अनित्य ही होगी। जब उनके सहारे की वह सत्ता हटी नहीं कि अविद्या भी भय रूप से दिखने लगी। वही रात्रि रूप से जीव में पुनः (ज्ञान छुपने की अवस्था में) विनाश की शंका उत्पन्न करने लगी। यदि आत्मा के ज्ञान की ज्योति निरन्तर जगती रहे तो यह अविद्या रूप अन्त का बन्धन टले और जन्म-मरण से मुक्ति भी प्राप्त हो।

जग से मुखड़ा मोड़ के, मन कछु आने न दे।
रिक्त न सुख को पावता, बुरा हाल न टिकने मन दे।।

। २०५ ।

गत पद्य में दर्शाया गया था कि निरन्तर (लगातार) ज्योति या आत्मज्ञान रूप ज्योति यदि जगती रहे तो अविद्या का अन्तिम बन्धन टलने पर पुनः जन्म-मरण नहीं होगा और उसके सब दुःखों से मुक्ति भी मिल जायेगी।

अब इस पद्य में तथा आगामी पद्य में इसी आत्म ज्योति को निरन्तर जगाये रखने का उपाय दर्शाया जा

रहा है। यही उपाय मनुष्य को अपने दैनिक जीवन में उतारना पड़ेगा। तभी वह (मनुष्य) जीवन काल में अविद्या के बन्धन से व्यावहारिक रूप से छूट कर पूर्व के ऋषियों द्वारा बतलायी गई अनुभव में आने योग्य मुक्ति को अपने अनुभव से प्रकट या प्रत्यक्ष देखकर कृत-कृत्य होगा।

यहाँ थोड़ा मन के स्वरूप को पुनः स्मरण कराया जा रहा है कि मन का क्षण-क्षण स्फुरण का स्वरूप भी इसी कारण से बना हुआ है कि जीव में अविद्या इसके ज्ञान स्वरूप को ढांकने में कभी भी रुकावट नहीं पड़ने देती और इस जीव को भी इसीलिए हर समय मन के स्वरूप में क्षण-क्षण स्फुरित होकर ज्ञान प्रकट करके अविद्या के अन्धकार को दूर करते रहना पड़ता है। यही क्षण-क्षण स्फुरण मन का स्वरूप और स्वभाव हो गया है। मन स्फुरित हो तो जीव को अपने आप के होने या बसे रहने का ज्ञान हो। यही ज्ञान छुपने पर विनाश का भय हो जाता है। इसलिये मन सदा स्फुरण रूप से ज्ञान को जगाये रखता है। परन्तु यह (सांसारिक) मन का स्फुरण अन्त में दुःख रूप से ही अनुभव करने में आता है। इसलिये मनुष्य इसके टिकाव में ही सुख मानता है, परन्तु मन के इस क्षणिक स्फुरण के साथ-साथ टिकाव कैसे बन सकेगा ? इसलिये इस मन से भी परे केवल शुद्ध ज्ञान का ही नित्य प्रकाश यदि कहीं हो सके तो ही सब दुःखों से छुटकारा (मुक्ति) मिले। अपने आप का विनाश किसी एक को भी भला प्रतीत नहीं होता। अपने आप का बने रहना यदि दुःखों के साथ भी प्रतीत हो तब भी जीव दुःख के साथ होता हुआ भी स्वयं को बनाए रखने के लिए तत्पर

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

रहता है। यहाँ भी यही कहानी या वार्ता है। अविद्या के कारण अपने विनाश की शंका या भय से जीव पुनः संसार के ही संस्कारों को जगाकर संसार में ज्ञान को पाकर दुःखी होता हुआ भी बने रहना चाहता है।

पूर्व के मोक्ष मार्ग को बतलाने वाले ऋषियों ने इस दुःख से छूटने और अपनी विनाश की शंका या भाव से मुक्ति पाने का मार्ग बतलाया है कि मनुष्य संसार में ज्ञान और विचार द्वारा वैराग्य को प्राप्त होकर मन को शून्य में टिकाये। जब मन संसार से अत्यन्त निवृत्त हो जाये तो उसके टिकाव में भी ज्ञान रूप ज्योति का अनुभव करने से जन्म-मरण से और उसके दुःख से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। सो इसी भाव को यह पद्य सादे शब्दों में यूं दर्शाता है--

पद्यार्थ :- जग से अर्थात् जगत् के सुख और सुख साधनों से मुख मोड़कर ज्ञान विचार द्वारा इनके दुःख को देखता हुआ उन सब में मन के स्फुरण को न जागने दे।

यद्यपि ऐसी अवस्था में खाली मन सुख को नहीं पाता और उस समय मन का बुरा हाल या दुःखमयी स्थिति प्रतीत पड़ती है। मन की वह दुःखमयी दशा मनुष्य को टिकाव प्राप्त करने नहीं देती।

इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य रिक्त या खाली मन की दुःखमयी अवस्था या स्थिति में धैर्य को खो बैठता है और पुनः इस अविद्या का ज्ञान शून्य अवस्था में आत्म विनाश या अपने आपको खो बैठने की शंका या भय से निकट पड़े आदतों वाले पुराने संसार के संस्कारों को जगाकर सांसारिक ज्ञान द्वारा ही पुनः क्षण भर के लिये

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

आत्म प्राप्ति करके सुखी जैसा मानता है। मनुष्य आत्म विचार या शुद्ध ज्ञान मात्र आत्मा में अपने मन को टिकाये नहीं रख सकता।

ऐसे जब-जब रिक्त मन, हालत यही सुझात।
खाली मन लगता नहीं, अविद्या यही चिन्हात।।
। २०६ ।

गत पद्य में दर्शायी गयी रिक्त (खाली) मन की स्थिति के दुःख में ज्ञान की ज्योति जलाने को यह पद्य यूं सुझाता है किः-

जब-जब संसार के सुख व दुःख के साधनों की तुच्छता विचार में लाकर और उसे ध्यान दृष्टि से पहचानकर वैराग्य द्वारा मन को उधर संसार में जाने से मोड़े रखा तो यह ठीक है कि खाली (रिक्त) मन अपने ज्ञान स्वरूप में अभी टिकने का बल नहीं प्राप्त कर सकने के कारण इस अवस्था में अधिक समय तक नहीं टिक सके और न ही इसे सुख मिले, परन्तु ऐसी मन की अवस्था में अविद्या नाम के अन्तिम बन्धन या सर्व अनर्थ की जड़ (मूल) को निकट से पहचानने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। केवल इस अवस्था के दुःख की अधीरता से इस अवसर को न खोकर यहीं बैठी, टिकी, कार्य करती हुई अविद्या को पहचाने। यह अविद्या यहीं चीनने या पहचानने में आयेगी और पहचानी जाने पर त्यागने के योग्य भी दीख पड़ेगी। यत्न करके त्यागने पर तुरन्त ज्ञान की अखण्ड ज्योति का सनातन (सदा बना रहने वाला) सुख और तृप्ति भी प्राप्त होगी।

इस सब का तात्पर्य यूं स्पष्ट समझने में आयेगा कि

मनुष्य अनादिकाल से या जन्म से ही संसार में ज्ञान को पाता आ रहा है। सांसारिक, इन्द्रियों और मन बुद्धि के ज्ञान में ही इसे अपना आत्म भाव (अपना आपा) प्रकट प्रतीत होता है। जब यह सब समय के अनुसार ज्ञान न जन्मे या इन ज्ञानों का कारण काम या सांसारिक स्वार्थ न रहे तब मन खाली-खाली सा हुआ-हुआ अपना आपा भी खोया हुआ सा अनुभव करने लगेगा क्योंकि उन-उन समयानुसार ज्ञानों के साथ ही इस जीव को अपना आपा बने रहने या बसे रहने का अनुभव हुआ था। ऐसी खाली या खोयी हुई सी अवस्था में दुर्गति को प्राप्त होकर जीव पुनः संसार के ही ढंग से यत्न करके अपना दुःख दूर करना चाहेगा। यही भव (संसार में होने की) तृष्णा का नमूना है। असलीयत में ज्ञान देव अपने आप में विनष्ट तो क्या होगा और न कभी खोया हुआ ही होगा, परन्तु अज्ञान के कारण छिपा हुआ अपने प्रकाश के लिये पुनः वैसे ही संस्कार जन्मा कर अपने कर्मों के अनुसार स्वप्न के समान एक नया जन्म रचकर अपने आपको पायेगा या आत्म लाभ करेगा। इस प्रकार अपने आप में आत्म ज्ञान के बिना यह जन्म कभी भी मिटने का नहीं। संस्कार मिथ्या आत्म ज्ञान को प्रकट करते हुए जीव को सदा इस संसार में ही बनाये रखेंगे।

यह पद्य यही दर्शाता है कि जन्म का कारण है ज्ञानों का छुप जाना, ज्ञान की छिपी हुई अवस्था ही अविद्या है। इस अवस्था में मनुष्य कुछ भी ज्ञान उपजाने या कुछ भी समझने के लिए सदा झुका रहता है, इसी समझने की झोंक को अपने मन द्वारा झांकने का प्रयास रखे। जो कुछ

भी समझने के लिए झुका हुआ मन समझेगा, वह संसार की ही कोई परिस्थिति होगी। उसका कोई स्थायी फल तो है नहीं। इस कुछ भी समझने की झोंक को देखते-देखते क्षण-क्षण जागते रहने से यह समझने की इच्छा अन्त में मिट ही जायेगी। इसके मिटने पर पुराने संस्कारों के अनुसार कुछ भी जानने की इच्छा नहीं रहेगी। केवल स्वरूप ज्ञान जो कि विनाश रहित है वह प्रकट हो जायेगा और सुख स्वरूप से प्रकाशमान होगा। तब संसार में कुछ भी समझने और करने कराने का भाव नहीं रहेगा। यह भाव तब तक ही था जब तक ज्ञान पर ढक्कन पड़ा हुआ था। उस ढक्कन को दूर करने के लिए आदतों का मार्ग अपनाया जाता था। जब केवल स्वरूप ज्ञान प्रकट हो गया तब ढक्कन सदा के लिये ही चल बसा। निरावृत्त (ढक्कन बिना) ज्ञान के प्रकाश में अपने आपके विनाश की शंका हो ही नहीं सकती। चाहे निद्रा का सुख हो या जागृत अवस्था के कोई भी भाव, इन सब में केवल देखते रहने का (द्रष्टा या साक्षी) भाव इन सब अवस्थाओं के आने जाने को देखता हुआ और दुःख में भी अपने ज्ञान स्वरूप को पहचानता हुआ सदा अडिग रूप से विराजमान है। दुःख की अवस्था केवल सांसारिक उपाय से ही दूर नहीं हो सकती, केवल द्रष्टा भाव (देखते रहने के भाव से) और अकर्तृत्व भाव (कुछ भी न करने के भाव) से स्वयं ही शनैः-शनैः प्रकृति के नियम के अनुसार चेतन के प्रभाव से मिट जाती है। क्षण-क्षण प्रकृति का परिवर्तित होते (बदलते) रहने का स्वभाव है। कुछ समय तक धैर्य रख कर दुःख की अवस्था में टिके रहने से यह अवस्था प्रकृति

के नियम से बदल कर जागते हुए द्रष्टा (देखने वाले) मन के लिए सुख रूप से स्वयं प्रकट हो जायेगी; केवल धैर्य की आवश्यकता है और वह धैर्य भी ज्ञान के दीपक के साथ सत्य दर्शन के संग होना चाहिए। यदि मनुष्य ज्ञानपूर्वक अविद्या आदि सब बन्धनों को समझता हुआ धैर्य बनाये रखे तो स्वयं ही सब बन्धन और काम आदि विकार और उनके संस्कार या वासनाएं (धैर्य और ज्ञानयुक्त व्यक्ति में) अपने आप शान्त हो जायेंगे। शान्त होने पर जानने की भूख रूप अविद्या सदा के लिए ही मिट जायेगी। जो ज्ञान देव अविद्या को भी प्रकट करता है तथा दीपक के समान चमक कर जनाता है वह अविद्या की दशा में मरा नहीं केवल मिथ्या भूख से छिपा पड़ा है, इसे प्रकट करना चाहिए। इसके लिए अविद्या को चीनना या पहचानना अति आवश्यक है। यही सब इस पद्य का अभिप्राय है। पद्य में चिन्हात शब्द का यही तात्पर्य है कि अविद्या की पहचान ऐसी ही अवस्था में होती है जब कि खाली मन अपने आप में नहीं लगता। इस अविद्या को पहचानकर धैर्य से देखते-देखते साक्षी रहकर मनुष्य (अविद्या को विदा करके) ज्ञान ज्योति प्रकट करे।

हिम्मत कर जो याही में, मन को लेवे टिकाये।
भाव जो तंगी रचावता, उसी में मन को लगाये।।

। २०७ ।

गत पद्य में दर्शायी गयी अविद्या की निवृत्ति और उसी के भाव को स्पष्ट करते हुए ये आगे के चार पद्य साधन स्वरूप को प्रकट करते हैं।

गत पद्य में इन आगामी पद्यों के संयुक्त अर्थ और भाव

को प्रकट कर दिया गया है। यहाँ केवल संक्षेप से इनका अर्थ सूचित किया गया है।

खाली या मन की रिक्त अवस्था में भी मन को टिकाये रखने की हिम्मत (वीर्य) जो कर सके वह साधक पुरुष इसी अवस्था की तंगी (कष्ट) को रचाने वाले भाव को पहचान कर उसी में मन को लगाये अर्थात् जोड़ दे, उसी का अध्ययन करे। अध्ययन करके उसके स्वरूप को समझने का यत्न करे; पुनः स्वरूप को समझने पर सत्य ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न हो, दुःख में धैर्य रखकर इस दुःख को भी देखते-देखते ही समाप्त कर देने की तपस्या को अपनाये। यदि इस प्रकार देखते-देखते दुःख शान्त न किया गया तो पुनः अन्य प्रकार से सांसारिक उपाय करने पर तो यह दुःख और भी बढ़ेगा। ऐसा सत्य ज्ञान या सत्य दर्शन रखकर दुःख के सहन करने में धैर्य बनाये रखे। यही ज्ञानपूर्वक तपस्या है। दुःख केवल उसी अविद्या की अन्धकारमयी ज्ञान शून्य अवस्था का ही है। यदि यहाँ भी ध्यान द्वारा मन जोड़कर, सत्य ज्ञान जगाकर अविद्या के तत्त्व को पहचान लिया गया तो ज्ञान का दीपक तो जग ही गया; ज्ञान के साथ-साथ अपना आपा या आत्मा भी प्राप्त हो गया।

इस प्रकार यह अविद्या को पहचानने का दीपक रूप ज्ञान जब अविद्या को नष्ट कर देगा तो स्वयं भी अपने आप शान्त हो जायेगा और अविद्या का दुःख तो मिट ही जायेगा।

इसका भाव यही है कि ज्ञान के लिये अपने आप में कर्ता का भाव न रह कर सदा द्रष्टा का भाव बना रहना

चाहिए। यहाँ यह सत्य भी ध्यान में लाना चाहिए कि जब आप मन को विषयों के जगत् से हटाकर शान्त भाव से टिकाने के लिये खाली रखना चाहेंगे, तो जो भाव तंगी रचाने वाले हैं, वे सम्मुख पड़ेंगे। सबसे प्रथम तो खाली मन में ज्ञान का न होना ही दुःखदायी सा प्रतीत होगा। उससे मन झटपट किसी भी ज्ञान रूप से अपनी आत्मा को पाने के लिये बाहर आँख, कान आदि द्वारा किसी भी बाह्य पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न करके ही सुखी होना चाहेगा। पुनः उन देखे सुने पदार्थों के बारे में सोच विचार और कुछ समझता हुआ भी अपने ज्ञान स्वरूप को बनाये रखना चाहेगा। यही सब दृष्टि बन्धन है। कहीं मित्र की, कहीं पुत्र की, कहीं वैरी आदि की दृष्टियों में (मन) खेलता रहना चाहेगा, खाली रहकर केवल स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप में तृप्ति नहीं पा सकेगा क्योंकि अभी उतना साधन नहीं है। पुनः बाह्य जगत् में ही इन्द्रियों को फैलाये रखकर अपनी स्वार्थ की वस्तुओं की शंका या संशयों में ही ज्ञान को भटकायेगा। बाहर कौन है ? कौन, कोई क्या कर रहा है ? इत्यादि-इत्यादि बहु विध समझने का प्रयास करता हुआ केवल जानने की शक्ति को भटका करके अन्त में दुःखी, खिन्न हो कर बिना अपने ज्ञान को पूर्ण किये निद्रा में पड़ जायेगा। यह सब मनुष्य को इसलिये करना पड़ता है कि खाली मन का दुःख सहन करने में नहीं आता; और ज्ञान शून्य मन को अपने अन्दर ही पढ़ना और पहचानना भी अभी तक नहीं बन पाया। यदि यह प्रकृति या स्वभाव ही बन जाये तो अन्दर के सत्य समझने की दृष्टि खुल जाये और उन सब अन्दर के बन्धनों की पहचान और उनको

देखते-देखते टालने का मार्ग भी सूझने लगे; बाहर जगत् में मन न भटके। तब पुनः क्यों जीव को प्रत्येक व्यक्ति की तथा उसकी क्रियाओं की दृष्टि बनाकर, उन्हें कुछ-का-कुछ व्यर्थ में समझने के लिये बाहर मन को दौड़ा कर खिन्न और दुःखी होना पड़े। यही सब इस पद्य का तात्पर्य है।

यत्न से मन जागत रहे, अविद्या उल्टा बुझात।
यूँ चेतन मन होये से, अविद्या सब हर जात।।
। २०८ ।

यह पद्य भी पूर्व अविद्या के प्रसंग का पूरक रूप है।

बड़े यत्न के साथ खाली मन को जगाये रखना चाहिए। अविद्या इस अवस्था में मनुष्य की अन्तिम भलाई से उल्टा कुछ अन्य प्रकार से दुःख की निवृत्ति का उपाय बतलायेगी। या तो मनुष्य को निद्रा आदि में जाने के लिये प्रेरित करेगी या पुनः संसार की ही किसी अवस्था के संस्कार जगाकर संसार में ही कुछ होने या बनने के लिये सुझाव देगी। ऐसी अवस्था में विचार, ध्यान द्वारा सत्य दर्शन को मन के निकट रखना आवश्यक है। इस यत्न से मन जागता रहेगा नहीं तो अविद्या बलात् (बल से) इसे बुझा देगी। इसका तात्पर्य यह है कि विपरीत मति रूप (उल्टी समझ) अविद्या को भी अवकाश न देना चाहिए। जो अन्त में दुःखी करने वाला विषय सुख है, वह भला जचना (शुभ जैसा दीखना), यह उल्टी समझ है। यदि ज्ञान दर्शन बना रहे तो यत्न करने में दुःख भी सहर्ष वीरता के साथ सहा जाता है। यदि अपना स्वास्थ्य किसी भी सुख को छोड़ने पर मिलता हो तो उस सुख को कोई

卐卐

भी बुद्धिमान् मनुष्य छोड़ने के लिये तैयार हो जाता है। इसलिये विपरीत मति रूप अविद्या को सम्यक् ज्ञान या सत्य ज्ञान रूप दर्शन द्वारा हटाते हुए मन को रिक्त या खाली अवस्था में जागते रखने पर समय पाकर सब अविद्या टल जायेगी और आत्मा नित्य रूप में प्रकाशित होगा। इस प्रकार चेतन हुए या चेते जागते मन में सब अविद्या समाप्त हो जायेगी जो कि अपने अन्धकार में जीव को आत्मा के विनाश की शंका करवाकर संसार में धकेलती है। ''अविद्या सब हर जात''---- इस पद्य के अन्तिम चरण का अभिप्राय कुछ अधिक जानना भी होगा। पिछले पृष्ठों में एक तो अविद्या का स्वरूप यह बतलाया गया कि अविद्या, ज्ञान पर पर्दा डालकर पुनः ज्ञान रूप आत्मा को पाने के लिये कुछ भी जानने की झोंक या लपक मनुष्य में उत्पन्न करके मिथ्या और व्यर्थ के बाह्य संस्कारों को जगा-जगा कर मिथ्या कई प्रकार के दृष्टि रूप ज्ञानों को उत्पन्न करके कहीं शंका, कहीं भय, कहीं इच्छा, कहीं क्रोध और वैसे ही मोह, मान और दुःख शोक के अनन्त ज्ञान उत्पन्न करके जीव को जड़ जगत् में ही उलझाये रखती है। जीव इन्हीं सब अनर्थों के ज्ञान से ही अपने आप को विनाश से परे समझता है। यह अविद्या जब पुनः ज्ञान को ढक देती है तो मनुष्य में विपरीत मति रूप से ज्ञान उपजाकर मिथ्या प्रकार से प्रेरित करके संसार में उलझाये रखती है। विषयों का संग और सुख अन्त में दुःख रूप ही प्रमाणित होने का है। परन्तु अविद्या ज्ञान को ढक कर विषय संग और सुख को ही शोभन या बढ़िया करके जतलायेगी। यही विपरीत मति रूप अविद्या है। यह

संसार में होने को ही सुख रूप बतलायेगी। संसार के ऐश्वर्य, धन, जन और अधिकार आदि में उलझा व्यक्ति अन्त में सुख का श्वास तक भी नहीं ले सकेगा। परन्तु विपरीत मति रूप से अविद्या इन सब का स्मरण करवाकर और दूसरों में होते हुए इनको दिखलाकर इन्हें शुभ करके जतलायेगी और उसी दिशा में मनुष्य को प्रेरित करेगी। यही सब विपरीत मति (उल्टी समझ) है।

यह अविद्या ध्यान में विचार उत्पन्न करने पर ही टल सकेगी। जहाँ ये सब सांसारिक विषय हैं, वहीं उनका ध्यान करके इनकी उलझन को ध्यान दृष्टि में देखकर वैराग्य उत्पन्न करके इनसे मन मुक्त होगा और ध्यान विचार ही इस मिथ्या मति को सही मति (सम्यक् ज्ञान) उत्पन्न करके नष्ट कर सकेगा। यह विषय पिछले पृष्ठों में खोल कर बतला दिया गया है।

यूँ-यूँ हालत दुःखमयी, परेशानी संग तनाव।
खाली समझता मन जगे; शनैः शनैः छुप जाव।।
। २०६ ।

यह पद्य गत अविद्या के प्रकरण और प्रसंग का उपसंहार (समाप्ति) रूप है।

पद्यार्थः-जैसे-जैसे खाली मन की दुःखमयी अवस्था, अपनी परेशानी या क्लेशमयी अवस्था से मन को तनाव में लाकर पुनः संसार में धकेलती है वैसे-वैसे खाली मन रखता हुआ, परन्तु उस सब तनाव को समझता हुआ जो व्यक्ति जगे, और उस तनाव के कारण को भी समझे, बूझे और पहचाने; और इस प्रकार समझता, बूझता और पहचानने का यत्न रूप ध्यान, विचार और ज्ञान बनाये रखे

卐卐

तो ऐसे सब धैर्य के साथ साधन सम्पन्न होने पर सब दुःख अपनी जड़ (मूल) सहित धीरे-धीरे अदृष्ट हो जायेगा, छुप जायेगा; कहीं देखने समझने में भी नहीं मिलेगा। इससे नित्य पद की प्राप्ति होगी, होगी भी केवल अपने आप में और किसी भी बाह्य वस्तु के बिना। इससे सब दुःख भी सदा के लिये टल जायेंगे।

अविद्या की शक्ति प्रबल, संस्कारन को जगाये।
पिछला सब दुःख भूल के, फिर बाट जगत् की जाये।।
। २१० ।

गत कई एक पद्यों में अविद्या की शक्ति कई एक प्रकार से जीव में कार्य करती हुई बतलायी गई। जैसे कि 'अविद्या चाहे खेल' (पद्य २०३) में, 'अविद्या रात कराल' (पद्य २०४) में, 'खाली मन लगता नहीं, अविद्या यही चिन्हात' (पद्य २०६) में, 'अविद्या उल्टा बुझात' (पद्य २०८) में अविद्या का बन्धन अपनी शक्ति द्वारा जीव को बांध कर जगत् में जिस प्रकार जन्म आदि के लिये प्रेरित करता है, यह सब वहीं-वहीं अविद्या के अर्थ का निरूपण करते हुए दर्शाया जा चुका है। यहाँ इस पद्य में अविद्या की एक रूप से शक्ति की चर्चा करते हुए जिस प्रकार यह जीव को रचती है उसका निरूपण (संक्षेप से वर्णन) किया गया है।

पद्यार्थ :- अविद्या की सत्य को ढाँकने की शक्ति प्रबल है। सत्य जो अनन्त ज्ञान, जो कि पुरुष का वास्तव (असली) स्वरूप है, और जो अपने में परिपूर्ण आनन्द स्वरूप है, उसको यही शक्ति ढांक लेती है। यही अविद्या रूप से जीव में अनादि काल से पड़ा एक भाव जो कि किसी स्वरूप से कहने में तो आता नहीं परन्तु सत्य को

छुपाना और सत्य को छुपाकर विपरीत मति उत्पन्न कर देना रूप दो कार्यों को करता है। इससे पुनः अविद्या की रात्रि में मन रमण करता हुआ जगत् के सब संस्कार जगाकर संसार में ही जन्म लेता है। अविद्या विपरीत मति (उल्टी समझ) उत्पन्न करके संसार के सुख और उन सुखों के साथ मनुष्य के "मैं भाव" को ही प्रिय रूप से सुझाती है। यही उल्टी समझ है। प्रथम अन्धकार स्वरूप में पड़ी हुई ज्ञान शून्य अवस्था को दिखला कर ज्ञान को पाने के लिये संस्कारों को जगाती है और संसार में ही होने को सुख रूप करके दिखलाती है। परन्तु संसार में जो दुःख का अनुभव हुआ है उसे स्मृति में नहीं आने देती। यही शक्ति केवल संसार में आत्म लाभ या अपनी सांसारिक 'मैं' या 'मैं भाव' को पाने के लिये उसी जगत् के आकर्षक चित्रों के संस्कार ही सम्मुख लाती है। जैसे कि अधिक मिठास से चिपका जन, रोगी होने पर भी मीठा खाने की प्रसन्नता और उसके सुख को स्मरण करके पुनः मीठा खाने के लिये उत्सुक हो जाता है, परन्तु उसका दुःख उस समय उसकी दृष्टि में नहीं आता तथा उसे मीठा खाना ही अच्छा लगता है। परन्तु अविद्या की प्रबल शक्ति उस दुःख को भुला कर जैसे मीठा खिला कर मनुष्य को तीव्र दुःख देती है, इसी प्रकार अविद्या की शक्ति सब संसार के दुःखों को तो दृष्टि में लाने नहीं देती परन्तु संसार के सुख की शोभन (बढ़िया जैसी) दृष्टि उत्पन्न करके जगत् में ही ले जाती है। जगत् के सुखों को ही भला करके सुझाती है। इसी अविद्या की शक्ति से सत्य

ढका रहता है। कुछ-का-कुछ मिथ्या होता हुआ भी सत्य जैसा ही दिखायी देता है। इसलिये जीव उसी मिथ्या सुख की तृष्णा से तथा उस सुख वाले 'मैं भाव' या संसार में अपने आप के ज्ञान के कारण संसार की बाट अर्थात् संसार के ही मार्ग को खोजता है।

सांसारिक पदार्थों में मिथ्या सुख रूप का अनुभव होने पर उनमें तृष्णा बढ़ जाने से यही तृष्णा पुनः छिपी अवस्था में, निद्रा तथा मृत्यु में, अविद्या या अज्ञान की (नासमझी की) अवस्था में सब सांसारिक ज्ञानों के संस्कार लिये टिकी रहती है। जब इसी से तृष्णा अपने प्रकट रूप में आती है तो सांसारिक सुख की ओर खींच करती है। यही तृष्णा की खींच, यदि इसे तृष्णा का पदार्थ न दें तो दुःख दिखाती है। दुःख से परेशान करके निद्रा में ले जाती है। यही तृष्णा के रजोगुण और तमोगुण स्वरूप हैं। इस सारी तृष्णा को 'इसकी इच्छा का सुख तुच्छ और अन्त में दुःख देने वाला ही होगा', ऐसा समझकर इस तृष्णा की खींच का दुःख ज्ञान का दीपक रखते-रखते सहन करने से सारी तृष्णा और अविद्या टल जायेगी। इससे ज्ञान की प्रभात होगी और केवल आत्मा मात्र में शान्ति मिलेगी और सब जगत् के बन्धनों से छुटकारा मिलेगा। परमात्मा की माया शक्ति भी पुनः जगत् के मार्ग पर न ले जा सकेगी।

ॐ इति अविद्या परिचय वर्ग ॐ

卐卐

卐 अथ तृष्णा द्वयी वर्ग 卐

(रजोगुण, तमोगुण)

रचना के संग चिपकया, जब रचना रह नहीं पाये।
यूँ बूझे कुल मिट गया, फिर-फिर रचन को धाये।।
। २११ ।

गत कई एक पद्यों में अविद्या का स्वरूप और उसके कार्यों का निरूपण किया गया जिससे कि मनुष्य इसे अपने आप में समझने और पहचानने का पूर्ण अवसर प्राप्त कर सके और पुनः इसको अपने आप में ही त्याग कर अपने आप में ही आनन्द स्वरूप का साक्षात्कार करे।

अब इससे आगे के पद्यों में तृष्णा के स्वरूप को दर्शाया जा रहा है, जिसका स्वरूप अपने अन्तःकरण में पहचान कर और उसके दुःख को समझ कर इससे पूर्ण रीति से छुटकारा (मुक्ति) पाने के लिये मनुष्य पूर्ण यत्न कर सके। यह सब आत्म ज्ञान है; इसके बिना जगत् से छुटकारा मिलना असम्भव है।

पद्यार्थ :- मनुष्य या कोई भी जीव या प्राणी अपने आप को जगाते हुए आनन्द स्वरूप में पाना चाहता है। यह स्वरूप सदा एक रस तो (स्वभाव से) किसी को प्राप्त हो नहीं सकता जब तक कि जीव ज्ञान की भूमि में न उतरे; परन्तु आनन्द स्वरूप अपने आप के अनुभव बिना जीवन रखना भी दुर्भर (भारी जैसा) है। इसलिये मनुष्य संसार में ही विविध प्रकार से पदार्थों और प्राणियों के संग में पिता, पुत्र, मित्र आदि के स्वरूप में अपने आप को रचकर ही आनन्द वाला अपना आपा पाता है।

परन्तु यह रचना समान रूप से जीव को सुखी नहीं कर सकती। समय के अनुसार इस रचना का सुख बिगड़ भी जाता है। तब इस जीव को वह पहले सुख वाला अपना आपा या आत्मा अनुभव में नहीं आता, अब पुनः वह पहले जैसा रचने का समय भी व्यतीत हो जाता है। सांसारिक सब कुछ एक जैसा कभी भी नहीं रहता, तब पुनः उन प्राणी और पदार्थों के संग से वह पहले वाला सुख या आनन्द भी प्राप्त नहीं होता। जब वह आनन्द प्राप्त नहीं हुआ तो वह आनन्द स्वरूप पहले वाला अपना आपा भी नहीं मिलता। क्योंकि मनुष्य (उस पहले समय में) उनके संग से अपने आप को सुखी (सुख वाला) मानता था कि 'मैं सुखी हूँ', जब वह सुख नहीं रहा तो वह पुराना अपना आपा (सुख वाला) अब कहाँ से मिले ? वह खो गया, उसके खोने पर उस में दीखने वाला या प्रतिबिम्बित (अक्स रूप से पड़ने वाला) संसार भी अब वैसा रौनक वाला दृष्टि में या समझ में नहीं पड़ता। इस अवस्था में एक ओर तो अविद्या का राज्य है जो कि पुंराने 'मैं भाव' को ढक कर बैठी है, दूसरी ओर पुनः उसी पुरानी 'मैं' को पाने के लिये वैसी ही तृष्णा भड़कती है; परन्तु वह समय तो निकल गया। वैसा शरीर भी नहीं रहा। उस पहले वाले सुख के समय वाली संसार की रौनक भी अब नहीं दीखती तो जीव अपने आप में यूँ समझता है कि मेरा तो सब सुख का संसार मिट ही गया। ऐसी दुःख वाली अवस्था को प्राप्त हुआ-हुआ प्राणी बिना ज्ञान के धन और साधन के मार्ग के पुनः स्वप्न या निद्रा में भी रचने की ही दिशा में भागता है और वैसे ही मरने पर पुनः वैसे ही स्वप्न देखता

है कि 'वह जन्म गया' और जन्म कर संसार में कुछ का कुछ दूसरों में अपने आप को रच रहा है। क्या-क्या सत्ता (हस्ती) स्वीकार करता है। उसी के सहारे अपने 'मैं भाव' (आत्म भाव या अपने आप) को कुछ समय के लिये पाकर तृप्ति मानता है। यह सब दुःख रूप रचना या जीव के संसार की रचना, कभी भी समाप्त होने की नहीं।

सदा बना रहन को चाहत है, पर समझ ही रचना बनाये।
पर रचना इक दिन बिगड़नी, फिर-फिर रचन को जाये।।

। २१२ ।

गत पद्य में यह दर्शाया गया था कि जीव अपनी सृष्टि रूप रचना या स्वरचित (स्वयं जीव द्वारा रचे गये) संसार में चिपका-सा रहता है। परन्तु उसकी रचना का संसार एक रूप न रहने से उससे प्राप्त होने वाला जैसे अपना आपा नहीं मिलता, वैसे ही उस अपने आपे से अनुभव किया हुआ कुल (व्यापक परमात्मा की सृष्टि) भी नहीं मिलता। उसे तो अपना राग-द्वेष वाला संसार, उन्हीं से सम्बन्ध रख़ने वाले प्राणी ही अपने संसार में होने वाले दीखते हैं। जब उसका यह संसार समय ने निःसार बना दिया तो इसके लिये व्यापक (कुल) जीवन वाला जगत् भी पर्दे में पड़ गया। जैसे नशे वाले को नशा टूटने पर प्रीति का कुछ भी होता हुआ या समझ में नहीं बैठता, सब रूखा-रूखा दीखता है वैसे ही खोयी आत्मा वाले के लिये लहलहाता जग का जीवन भी छुप जाता है जो बच्चों के जगत् में स्पष्ट भासता है। अपने आत्म भाव को पाने के लिये उतावला जीव पुनः अपने ही संसार को रचना चाहेगा। यदि आत्म भाव या अपना आपा सदा बनाये

रखना है तो जिससे यह बना रह सके उसे भी बनाये रखना पड़ेगा। इसी वार्ता को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- कोई भी मनुष्य यह नहीं चाहता कि मैं कभी भी न होऊँ अर्थात् उसे अपना आपा बनाये रखने की चाह सदा रहती है। इस चाह से वह जिस प्रकार अपने आत्म भाव को बनाये रख सकेगा वैसा ही भाव उसे रचना पड़ेगा। पुराने संस्कारों के अनुसार वह राग-द्वेष आदि बन्धनों के संस्कार जगा-जगा कर जैसी-जैसी मन में दृष्टि करता है वैसी-वैसी ही सृष्टि रचाता है। यह समझ ही रचाती है। परन्तु यह रचना सदा एक समान तो रहेगी नहीं। रची हुई रचना समय के अनुसार बिगड़ेगी भी; क्योंकि संसार परिवर्तनशीॅल है। इसलिये यदि बने रहना है तो मर कर भी पुनः रचना पड़ेगा।

रचना जन्म, बिगड़न मरण, अटल दोनों का मेल।
दो ताईं शक्त जो खींच है, दुःख जड़, तृष्णा की बेल।।
। २१३ ।

गत पद्य में कहे गये भाव से जुड़ता हुआ इस पद्य का भाव यह दर्शा रहा है कि :-

पद्यार्थ : जब जगत् में जन्म कर माता, पिता, बहिन, भाई, स्त्री, पुरुष आदि संज्ञाओं (नामों) को अपनी समझ में रचकर जो कुछ 'मैं भाव' मनुष्य को मिलेगा, इसे यदि सदा बनाये रखना है तो ये एक बार के रचे सदा बने तो रहेंगे नहीं, परन्तु 'मैं भाव' या 'आत्म भाव' के लाभ के लिये पुनः-पुनः रचने पड़ेंगे। यही जन्म-मरण का सदा बने रहने वाला चक्र है। इसलिये रचने के साथ-साथ जन्म और समयानुसार उसका सुख बिगड़ने पर उनसे 'मैं भाव'

प्राप्त न होने पर मरण, यह दोनों का मेल अटल रूप से सदा ही बना रहेगा। सदा बने रहने की चाह का तात्पर्य है, जीव जगत् को रचकर उसमें 'मैं भाव' का लाभ करके पुनः मर जाना और पुनः मर कर उत्पन्न होना। यह चक्र कभी भी नहीं टलेगा। इन दोनों को बनाये रखने वाली जो शक्तिशाली खींच है वही तृष्णा का स्वरूप है, यही सब दुःखों की जड़ (मूल) है। इस तृष्णा को बेल (लता) की उपमा दी गयी है। इसका तात्पर्य यह है कि चारों ओर जगत् में यह अपने छोटे-छोटे तन्तुओं से जिस-जिस का सहारा लेती है, उस-उस पर आगे से आगे फैलती चली जाती है।

जिस-जिस प्राणी या पदार्थ से 'मैं भाव' प्राप्त होता होगा, 'मैं भाव' के पाने की खींच से उन-उन का अभाव (न होना) भी न सहा जायेगा। तब अन्दर की समझ उन सब के संस्कार जगाकर उन सब को रचेगी, पुनः बिगाड़ेगी। यह चक्र कभी भी शान्त न होगा, है यह सब दुःख रूप; इससे निकलना ही पुरुषार्थ है। इसी को 'दुःख की जड़ (मूल)', शब्द से सूचित किया है। यह तृष्णा ही है जो कि बनी बैठी, जीव के जन्म तथा मरण के साथ सारा संसार बनाये बैठी है।

याका मुख जग में खुले, रचन दिशा को जाये।
अड़चन का क्षण दुःख है, राह चले क्षणिक सुख पाये।।
। २१४ ।

गत पद्य में जो दो प्रकार की शक्तिशाली खींच को सब दुःखों का मूल (जड़) बताया गया, प्रथम रचना द्वारा संसार में 'आत्म भाव' (मैं भाव) पाना, और जब रचना

卐卐

चेतन या पुरुष के स्वरूप से बाह्य होने के कारण दुःख या खेद रूप से प्रकट होने लगी तो इससे पीछा छुड़ाने के लिये मन की या जीव की दूसरी खींच उस रचना से मुख मोड़ कर ज्ञान-शून्य या अन्धकारमयी अवस्था में अपने आप को लीन कर देना। यह दो प्रकार की खींच जीव में स्वभाव से बसी हुई इसे अपने केवल पुरुष या चेतन स्वरूप में (कैवल्य) टिकने नहीं देती। ये दोनों रजोगुण तथा तमोगुण के रूप हैं।

अब इस पद्य में प्रथम प्रकार की तृष्णा जो कि शास्त्र में रजोगुण के नाम से कही गयी है उसका परिचय दिया जा रहा है। यद्यपि इसकी चर्चा स्थान-स्थान पर कई एक प्रसंगों से की गयी है तथापि यहाँ कैसे-कैसे यह दुःख का कारण बनती है ? इस सत्य के प्रकटीकरण करने के प्रसंग में इसे दर्शाया गया है।

पद्यार्थ :-गत पद्य में चर्चित दो प्रकार की तृष्णा में से जिस तृष्णा का मुख जगत् में ही खुलता है वही तृष्णा रचना की दिशा में बढ़ती है। खाली बैठे जीव को तो सांसारिक अपना आपा मिलता नहीं, वह खोया सा रहता है। कुछ-न-कुछ देह, इन्द्रिय, मन व बुद्धि से रचना रच-रच कर या कुछ-न-कुछ सोच विचार के चक्र में होता हुआ ही वह अपने आप में बसा हुआ पाता है। जब इस रचने की दिशा में थोड़ी भी अड़चन पड़ी तो यह मन अपने आप को खाली-खाली सा अनुभव करता हुआ तथा अपने आप में न लगता हुआ, दुःखी रूप से पुनः रचने के मार्ग पर ही दौड़ेगा। कुछ-न-कुछ संसार का रचकर ही अपने में सुखी होगा। इससे उसे अपना आपा थोड़े समय के लिये

卐卐

मिल जाता है। जब कुछ रचता रहेगा तो ही क्षणिक सुख पायेगा।

इसका रस्ता कठिन है, सब दुःख इसमें मिलाये।
अन्त में क्षण सुख न रहे, दुःख, मौत और नींद बुलाये।।
। २१५ ।

भूमिका :- इस पद्य में भी गत पद्य के विषय की चर्चा करते हुए इसी के साथ ही मिली हुई दूसरी तृष्णा की खींच की चर्चा की गयी है जो कि जीव के स्वरूप में व्यापक रूप से सब संसार के प्राणियों में प्रत्यक्ष लक्षित करने (पहचानने) में आती है। इन्हीं दोनों को जानकर इनके मार्ग को त्यागने से नित्य मुक्ति चेतन के अपने सहज स्वरूप में प्राप्त होती है।

पद्यार्थ :-गत पद्य में चर्चा में आयी हुई रजोगुण रूप शक्ति तृष्णा के नाम से सूचित हुई-हुई जीव को क्षण-क्षण रचते रहने पर ही सुख को दिखलाती अवश्य है; वैसा रचते रहने से क्षण मात्र का सुख भले प्रतीत हो, परन्तु इसका रच करके कुछ सुख दिखलाने का रास्ता बड़ा कठिन है। क्योंकि इस क्षण मात्र के सुख के रास्ते में सब दुःख मिले हुए हैं। संसार में कोई भी प्राणी इतना स्वतन्त्र और शक्तिशाली नहीं कि जैसा उसे रुचता है व भला जचता है, वैसा ही वह मनमाने प्रकार से रच करके सुखी हो सके। दूसरों के साथ वैर-विरोध, संघर्ष आदि के तनाव के साथ ही संसार के रास्ते पर चलना पड़ता है। चाहे आप कितना भी सांसारिक, सामाजिक औचित्य के अनुसार सुख पाना चाहें परन्तु दूसरे सम्भवतः उसे सहन न करके आपको शान्त न रहने देंगे। जो अभावग्रस्त (घाटे वाले) जन हैं उनका मन

सम्पन्नों (सम्पत्ति वालों) के सुख के लिये स्थायी और वास्तविक रूप से भय का कारण है। उनसे अपने आपको और अपने सुखों को बचाये रखना तथा कई एक प्रकार के भय, शंका आदि में रहना कोई सुख का कारण नहीं प्रत्युत् (बल्कि) दुःख का ही स्वरूप है।

इतना सब ही नहीं, किन्तु रच कर सुखी होना दुःखों के साथ ही है। अन्त में रचना के रास्ते से जो सुख होता है, वह भी नहीं रहता। रोग, वृद्धावस्था, अपने में दूसरों की प्रीति का न रहना, आदत के सुख रोगादि के भय से त्यागने पर उनकी तृष्णा या इच्छा का वेग या बल सहन करने में अति तीव्र दुःख या शोक रूप से प्रतीत होकर भयंकर रोग के समान ही दुःखी करने वाला अनुभव में आना इत्यादि-इत्यादि; तृष्णा के रास्ते चलने वालों के लिए इसी तृष्णा के सुखों को पाना अति कठिन बना देता है। इसी के परिणाम स्वरूप (अन्तिम नतीजा के रूप में) मनुष्य अन्त में रचना के मार्ग से खिन्न और दुःखी होकर (रचना से) मुख फेर लेना चाहता है। यही दूसरी तृष्णा जो कि बिगड़ने (विभव) की है, उसी को निमन्त्रण (बुलावा) है। इसी के कारण से रचना में दुःख मानता हुआ व्यक्ति दिनों दिन निद्रा रूपी मौत में समाकर इस प्रथम प्रकार की रजोगुण रूप वाली तृष्णा से मुड़ता है और इसके पश्चात् इससे अत्यन्त मुक्त तो हुआ नहीं, इसलिये तमोगुण रूप से शास्त्रों में कही गयी दूसरी तृष्णा में लीन हो जाता है (निद्रा रूप में या मृत्यु रूप में)। यहाँ इसे केवल रजोगुण वाली तृष्णा या रचना के दुःख से अल्पकाल के लिये ही छुटकारा मिलने से थोड़ा सुख अवश्य मिलता है

परन्तु जब पुनः उसी जगत् में आत्म भाव पाने की तृष्णा जागती है तो संसार में होने की तृष्णा जागकर पुनः इसे पहली तृष्णा के रास्ते पर ही चला देती है। जैसे दिन, रात में यह दो का चक्र है वैसे ही जन्म-मरण भी इन्हीं दोनों का खेल है। एक (प्रथम) दुःख दिखाकर दूसरी को बुलाती है। पुनः दूसरी (विभव तृष्णा) आत्म विनाश की शंका उत्पन्न करके पुनः पहली (भव तृष्णा) को निमन्त्रण देती है। निद्रा में पड़ा प्राणी वही पहली संसार की तृष्णा वाली 'मैं' को न पाकर दुःखी होता हुआ पुनः संसार का ही स्वप्न देखता है। संसार में दुःख पाकर पुनः निद्रा या मृत्यु को शरण मानता है। यही चक्र है।

'नहीं रहा' कभी है नहीं, पर 'नहीं है' फिर भी बुझाये।
या में हेतु भाव यो, सो अविद्या ध्यान लखाये।।
। २१६ ।

गत दो पद्यों में रजोगुण रूप (भव तृष्णा) और तमोगुण रूप (विभव तृष्णा) तृष्णा बतलायी गयी जिससे कि साधक इन्हें अपने अन्दर ध्यान में निकट रूप से देखकर और सब दुःखों की जड़ (मूल) रूप से पहचानकर त्यागने के मार्ग में प्रेरणा पाये और मन सब प्रकार का उद्योग करने के लिये तत्पर हो। अब इस पद्य में अविद्या की चर्चा करते हुए इस तृष्णा को ही अविद्या का स्वरूप बतलाया जा रहा है। इसमें यह सूचित किया जा रहा है कि अविद्या में ही तृष्णा समायी हुई है और तृष्णा ही अविद्या के स्वरूप में छुपी बैठी जीव के स्वरूप को ढाँक कर उसमें 'विनाश' की शंका या 'न रहने की' शंका उत्पन्न करके पुनः संसार में रचती और मारती है। इसमें गुणों का तीसरा स्वरूप सत्त्व गुण चर्चा में

आता है। उसी के बारे में यह पद्य सत्त्व का स्वरूप जानने या बूझने रूप से प्रकट करता हुआ त्रिगुण स्वरूप वाली अविद्या को बतलाता है। इन सब को उद्योगी पुरुष ध्यान द्वारा ही अपने स्वरूप में समाया हुए देखेगा। सोई वार्ता यह पद्य दर्शाता है।

पद्यार्थ:-पुत्र, पिता, मित्र, वैरी, अपना, पराया—ये सब कभी भी किसी में है (सत्) करके समझे भी हों, परन्तु वास्तव में ये सब कुछ कभी भी नहीं रहे, केवल बुद्धि ने ही इन्हें सत्ता (हस्ती) दी थी। वास्तव में ये सब कभी भी नहीं रहे; न अभी वर्तमान में प्रतीत होते हुए भी हैं ही; केवल इनकी बुद्धि (बूझ) ही है; ये सब बुझाते (समझ में आते) ही हैं। केवल बूझने से ही सत् हैं। इसलिये शास्त्रों में इसे बुद्धि सत्त्व का नाम दिया गया है। ये सब वास्तव (असलीयत) में नहीं हैं; परन्तु बुझाते हैं; अर्थात् जानने में ही आते हैं; व्यवहारकाल तक की ही इनकी सत्ता या सत्त्व है, वास्तव में नहीं। बर्तावे के लिये ही ये सच्चे जैसे दीखते हैं।

जब ऐसा ही है कि ये सब दृष्टियों की सृष्टि वास्तव में है ही नहीं तो ये सब प्रतीत क्यों होते हैं ? मनुष्य की समझ में कहाँ से पड़ते हैं ? यह प्रश्न उठता है, शंका भी होती है। इसी का उत्तर या समाधान रूप में पद्य का उत्तरार्ध है, 'या में हेतु भाव यो' इत्यादि। इस पद्य के उत्तरार्ध का तात्पर्य यह है कि अविद्या नाम के भाव के कारण से ये सब जगत् के प्राणी और पदार्थ कल्पित होते हैं। यह अविद्या नाम वाला भाव पदार्थ केवल ध्यान दृष्टि द्वारा ही पहचाना जा सकता है। इस अविद्या के कार्य की चर्चा करता हुआ आगामी पद्य इस अविद्या के व्यवहार में

आने योग्य स्वरूप की चर्चा करेगा।

संक्षेप से इस (२१६) पद्य का यही तात्पर्य है कि पीछे कहे गये के अनुसार जीव को सदा बने रहने की तृष्णा बनी रहती है। यदि वह अपने संसार में बने रहने के भाव को अनुभव न करे तो उसे अपने 'न होने' की या पुनः अपने 'विनाश' की शंका होने लगती है। इससे पीड़ित होकर वह पीछे के सब संस्कारों को जगाकर अपने को बनाये रखने वाले सब प्राणियों और पदार्थों के नाम और रूप कल्पित करता है। माता, पिता, भाई, बन्धु आदि अनन्त नामों और उन्हीं के भावों के उनके अपने निमित्त रूप भी कल्पित करता है। किसी एक का पिता सब का पिता तो है नहीं, दृष्टि वाले का ही है। यह सब तभी है जबकि अविद्या उसके प्रकट स्वरूप को छुपाती है। उसे आत्म भाव या अपनी 'मैं' का भाव नहीं मिलता, क्योंकि वह संसार में ही पाया हुआ था; इसलिये संसार के न रहने की अवस्था में, निद्रा या मौत में जब जीव का स्वरूप या अपना आपा नहीं मिलता तो यह समझो कि अविद्या ने छुपा लिया या ढक लिया। पुनः अविद्या ही पुराने संस्कारों को जगाकर वैसी-वैसी पिता आदि की दृष्टियाँ बना कर उन सब को रच देती है और जीव पुनः एक बार अपना सांसारिक स्वरूप या 'मैं भाव' या 'आत्म भाव' पाता है, तब उसे अपने बने रहने का संवेदन (अनुभव) होने से एक प्रकार की तुष्टि (संतोष) होती है।

'नहीं रहा' तो रहन को, फिर पाछे की खींच।
सो तृष्णा दुःख बल करे, सगला पाछा सींच।। २१७ ।

इसी पीछे के पद्य के उत्तरार्ध की व्याख्या में कहे गये तात्पर्य को ही यह पद्य प्रदर्शित करता है।

पद्यार्थ :- संसार की कोई भी रचना या उसका जो भी भाव है वह सदा एक जैसा कभी नहीं रहता। जो बना है, वह बिगड़ेगा, यह प्राकृतिक नियम है। पुनः जब वह बना बिगड़ेगा तो उसी के सहारे उसके सुख आदि से जीव ने भी जो अपना आपा पाया है वह भी अन्त में बिगड़ेगा ही। परन्तु जीव को दूसरों के बिगड़ने का तो इतना मोह या दुःख नहीं जितना कि अपने आपे के सदा बने रहने का राग है। परन्तु अपना आपा संसार में उन्हीं प्राणी और पदार्थों के संग से ही पिता, पुत्र, मित्र, वैरी, वीर, धनी, अधिकारी, बुद्धिमान् आदि-आदि सब इन नामों के अनुसार अपनी-अपनी तृप्ति और सुख वाला जीव को प्राप्त होता है। समय पाकर जब ये अपने समय का सुख और मान खो बैठते हैं तो जीव को वह पहले वाला मान तथा आदर वाला अपना आपा (प्रिय लगने वाला) नहीं मिलता। वैसा मिलने का समय या सामर्थ्य या समयानुसार उपयोगिता भी नहीं रही तो वह प्रकट सांसारिक आनन्द वाली 'मैं' भी छुप गयी। वास्तव ज्ञान रूप आत्मा तो देखा नहीं, पहचाना नहीं। संसार में मिली पहली मिथ्या सांसारिक आत्मा का वियोग इसीलिये खाये जाता है; काटता है क्योंकि वही संसार वाली पीछे की ही तृष्णा की खींच होती है। सोई पद्य के पूर्वार्ध में कहा गया है कि 'नहीं रहा तो रहन को फिर पाछे की खींच', अब यह पुनः वैसे आत्म भाव या सांसारिक आदर मान वाले प्रकट तृप्ति करने वाले 'मैं भाव' पाने की भूख या तृष्णा इतना दुःख प्रकट करती है

कि उसका बल असह्य हो कर जैसे स्वप्न में संस्कार जागने पर संसार खड़ा हो जाता है ऐसे ही मृत्यु के पश्चात् भी सारा पाछा पुनः रचने के लिये जीव उद्योग शील (यत्न वाला) हो जाता है। वही अविद्या के अन्धकार में पड़ा जीव, जैसे निद्रा में पड़ा स्वप्न को रचता है, वैसे ही पुनः कहीं संसार में अपने आप को जन्मा पाता है। पुनः जन्म कर उन्हीं संसार के संस्कारों को और भी पक्का करता है। उन्हीं पीछे के संस्कारों के साथ तृष्णा की बेल को सींचता है।

तो इन तृष्णा वाले पद्यों का तात्पर्य यह है कि अविद्या में संसार की तृष्णा छिपी बैठी है और तृष्णा ही फूटी हुई या सोई हुई दशा में या अव्यक्त (अप्रकट) भाव में पहुँची हुई अविद्या का भाव या स्वरूप है। इस प्रकार यह सब तृष्णा तथा अविद्या का सत्य अपने मन में ध्यान द्वारा समझ कर मनुष्य को इससे पीछा छुड़ाना चाहिए।

दुःख का तेज तनाव है, धैर्य धरण न दे।
सुख का भी लालच बड़ा, क्षण भर टिकन न दे।।
। २१८ ।

गत पद्यों में अविद्या और तृष्णा जिस प्रकार परस्पर मिली हुई मनुष्य को या जीव मात्र को संसार में ही घेर कर पटकती हैं उस अविद्या और तृष्णा का स्वरूप अपने मन में कार्य करता हुआ देखना और समझना, पुनः समझकर इनसे मुक्ति के मार्ग का स्मरण करके साधन द्वारा इससे छुटकारा पाने के लिये व्यवस्थित कार्य करती हुई अविद्या और तृष्णा का स्वरूप इस पद्य में तथा आगे के कुछ पद्यों में दर्शाया गया है। गत पद्य में तृष्णा अपना

बल दुःख रूप से दिखलाकर जीव को पुनः शीघ्र सुख पाने के लिये प्रेरित करती है। सो वार्ता इस पद्य में कही है। दुःख जब किसी के वेदन या संवेदन में (महसूस करने में) आता है, तो सुख के साथ ही सदा बसने वाला प्राणी उस दुःख का तीक्ष्ण तनाव समझता हुआ उस दुःख में बुद्धि को बनाये रखकर धैर्य धारण करके सहन करने में अपने को असमर्थ (शक्तिहीन) अनुभव करता है। उस दुःख की अवस्था में पुनः मन बार-बार सुख को ही स्मरण में लाता है। उस सुख का लोभ भी दुःख में धैर्य को टिकने नहीं देता। अन्त में दुःख का क्षण भर भी बड़ा लम्बा प्रतीत होता है, जैसे कि वह व्यतीत ही नहीं हो रहा। यही सब तृष्णा का बल है।

इसका तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के दुःख की जड़ (मूल) तृष्णा ही है। यह अपनी छिपी अवस्था में जीव के आनन्द या सुख वाले आत्मा के प्रकट होने में बाधा डालती है। जीव झट चौकन्ना होकर पुनः चिन्तन द्वारा सुख से विपरीत दुःख को न सहन करता हुआ पुराने संस्कारों को जगाकर पुरानी आदतों वाले ढंग से सुख पाने को चल पड़ता है और इसी तृष्णा की बेल को और भी सींचता है।

इस सत्य को हृदयंगम (हृदय में बसाना) करने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है जिससे इस तृष्णा के बल का सही स्वरूप समझ में पड़ जाये। जैसे कोई धूप में, ग्रीष्म काल में चल रहा हो तो वह खाया-पीया हुआ मनुष्य अपनी तृप्ति और सुख वाली 'मैं' को लिये मार्ग चलना आरम्भ करेगा। परन्तु मार्ग में धूप तीक्ष्ण होने पर उसकी

सुख वाली 'मैं' न दीखकर विपरीत इसके दुःख को अनुभव करता हुआ अपना आपा दीखता है। अब उसे वह दुःख से पूर्व अवस्था वाला (सुख वाला) अपना आपा परेशान कर रहा है कि उसी सुख वाली 'मैं' को पाऊँ। दुःख में धैर्य रखने में दुर्बल और सुख का लोभ रखने वाला मन अधिक दुःखी होगा।

जब उस धूप में चलने वाले प्राणी को दुःख हुआ तो उसे केवल सुखी अवस्था में पला हुआ होने के कारण वह सुख वाली तृष्णा ही दुःखी कर रही है। जितना अधिक सुख को स्मरण करेगा उतना ही वह अधिक दुःख का भी अनुभव करेगा। उस अवस्था में सुखीपने वाली 'मैं' की तृष्णा प्रबल होकर उसकी बुद्धि और मन दोनों को अव्यवस्थित बना देती है। यह बुद्धि नहीं रहती कि धैर्य बनाये रखने से, स्मृति और मन की उपस्थिति रखने पर समय के अनुसार दुःख अपने आप मार्ग पूरा होने पर टल ही जायेगा। परन्तु सुख में अधिक लोभी और दुःख से अधिक भीरु मन वाले का मार्ग कटना तो असम्भव हो जाता है। यह भीरु मन दुःख के मार्ग पर चलने की उसे रुचि तक भी नहीं रहने देता। यह सब तृष्णा की दासता ही दुःख की जड़ (मूल) है।

इसी प्रकार मुक्ति का इच्छुक प्राणी भी यदि दुःख में धैर्य रख सके तो संसार के सब तृष्णा के पदार्थों से उसे मुक्ति मिल जाये। बजाय तृष्णा के पदार्थ और उनके संसार में भटकने के, वह अपनी आत्मा में ही सब दुःखों का अन्त देख लेगा। परन्तु सुख के पदार्थ के वियोग के दुःख को सहन करने में उतने ही धैर्य की आवश्यकता है। इसी धैर्य को बनाये रखने के लिये ज्ञान और दर्शन की भी

आवश्यकता है। बिना ज्ञान के और प्रकट सत्य के दर्शन के तृष्णा का बहाव पार करना कठिन है। जैसे धूप से खिन्न, सुख को शीघ्र पाने की इच्छा वाला व्यक्ति यहाँ तहाँ किसी छाया में बैठकर ही मार्ग का चलना छोड़कर अपने नियत स्थान पर, नियत समय पर नहीं पहुँचेगा; इसी प्रकार छोटे-मोटे सुखों की चाह को पूरा करते रहने में, अपनी आत्मा में ही उसे ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान और साक्षात्कार की विभूति का सच्चा सुख न मिल सकेगा।

जो व्यक्ति इन पदार्थों के सुख की तृष्णा का दास नहीं रहता, और इन के वियोग में धैर्य रखकर दुःख में स्थिर बुद्धि वाला होकर बसा रह सकता है, उसे इस जगत् में केवल एक ही सत्य,चेतन रूप से या ज्ञान के नाना प्रकार से व्यक्त रूपों में लीला करता हुआ दीखता है। दूसरों को वह अपने स्वार्थ के कारण पिता, पुत्र, मित्र, वैरी आदि की दृष्टियों से नाना प्रकार के मिथ्या रूपों में राग, द्वेष से बाँधने वाला दीखता है। यही उस चेतन पर पड़ी हुई अविद्या है और यह अविद्या दो रूपों में काम करती है, सत्य को छुपाना और विपरीत रचना करना। यही सब पीछे के पद्यों में व्यक्त (प्रकट) करने की चेष्टा की गई है।

इसी अविद्या के कारण कई एक प्रकार से अपने को और दूसरों को रचना पड़ता है, जो कि अनन्त दुःख रूप है। इतना दुःख, सुख के विषय के वियोग का नहीं जितना कि दुःख वाले विषयों के संयोग से अन्त में मिलता है।

इन दोनों के कारणे, जग में होना चाहे।
बहुतों में इक बन गया, सो भव का नाम धराये।।
। २१६ ।

गत पद्य में यह सत्य दर्शाया गया कि दुःख का तनाव और सुख का लोभ जीव को क्षण भर भी टिकने नहीं देता, तुरन्त संसार का ही मार्ग दिखला कर संसार में ही कुछ होने के लिये उसे बाध्य करता है, आत्मा में रहने नहीं देता। इसी सत्य को पुनः इस पद्य में व्यक्त किया गया है।

पद्यार्थ :- दुःख की दशा के साथ बने रहकर दुःख को सहन करना प्रत्येक प्राणी के वश की बात नहीं। दुःख की दशा में जो सुख की स्मृति (याद) आती है उस सुख को त्याग कर अपने को समाहित (स्थिर) रखना भी हर प्राणी के सामर्थ्य में नहीं। इन्हीं दोनों के कारण मनुष्य दुःख से झटपट छुटकारा पाने के लिये बिना सोचे समझे जो भी मन में स्फुरित हो जाये उधर ही चल पड़ता है। परिणाम तक पहुँचने का यत्न तक नहीं करता कि थोड़ा यह भी समझूँ कि जो दुःख से बचने का मार्ग मैं शीघ्रता में अपना रहा हूँ वह कहीं मुझे सुख से कहीं अधिक बड़े दुःख में तो नहीं पटक देगा जिससे कि रो-रो कर भी पीछा छुड़ाना कठिन पड़े। दुःख में अधीरता और झटपट सुखी होने का लोभ इतना सोचने और समझने का अवसर या अवकाश भी नहीं देता। यह है साधारण जीव की जगत् में बहने की कथा कि झटपट जगत् का ही सहारा लेकर दुःख को टालना। तब पुनः जगत् में ही बहुत जीवों के समुदाय में आप भी कोई मित्र, वैरी या करने कराने वाला कुछ भी होकर अपना दुःख टालना और सुखी होना, इसी का नाम भव है (भव नाम होने का ही है)। यह नहीं कि थोड़ा दुःख में धैर्य रखकर तथा दुःख को सहन करके तथा विचार जन्माकर जो कुछ 'मैं करने को तत्पर या तैयार हूँ',

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

उसके बारे में उसी का परिणाम (नतीजा) विचार करके यदि किसी अच्छे मार्ग से अपने आप में ही दुःख टल सके तो वैसे मार्ग पर डटा रहूँ और अपनी आत्मा में ही बना रहूँ, संसार में न जाऊँ। संसार में दुःख टालने को गया तभी 'भव' सागर में पड़ा। आत्मा या अपने आप में रहा तो वहाँ संसार या भव नहीं है। परन्तु इसके लिये दुःख में धैर्य, विचार, बुद्धि का योग तथा इसके द्वारा सही ज्ञान उपजाना आवश्यक है। यही धर्म की कमाई है।

अब यह संसार में 'होना' किसी एक सीमा तक तो निश्चित है नहीं, अपने स्वार्थ की रक्षा और सुख साधनों की सम्भाल के हेतु कई एकों के वैरी, विरोधी होकर लड़ाई-झगड़े भी करने पड़ते हैं। यही राग-द्वेष रूप भव के साथ तृष्णा के बन्धन जुड़े हैं। पुनः जो पक्ष अपना लिया वही ठीक है, मैं जो कुछ कहता हूँ,'वही ठीक है', 'वही उचित है'-- यह मान का बन्धन भी तो अधिक बल वाला है; अधिक खेल खिलाता है। पुनः संशय और भय में, अनुचित करने पर, बहुत से अनावश्यक कर्तव्यों की सोच और बहुत से व्यर्थ के व्यक्तियों के संग में डालकर मिथ्या रूप से मन और प्राण शक्ति का ह्रास करके अधिकाधिक दुःखी करता है। यही है सब भव (होने की) तृष्णा। जब मनुष्य लड़ाई झगड़े में अपने स्वार्थवश पड़ ही गया तो दूसरों के सम्मुख न जाने वह न चाहते हुए भी क्या-का-क्या प्रकट होता है। तब दूसरे उसे अपने मन में अपने ही ढंग का रचकर उसे अपने मन के उचित लगने के व्यवहार को ही देते हैं। यह सब संसार की लीला बहुत प्रकार से दुःख ही देती है। परन्तु सुख तो कल्पना का ही

है। परन्तु यह सब सत्य भासे कैसे ? बिना ध्यान, बिना त्याग, बिना दुःख को धैर्य रखकर सहन करने के साधन के यह सत्य दर्शन अपने को संसार चक्र या भव-सागर से पार ले जाने वाला कैसे हो सकता है ?

गत पद्य के व्याख्यान में धूप के औष्ण्य (गर्मी) का दुःख कैसे अधीर बनाकर मनुष्य को सुख की स्मृति करवाकर उसे उसके मार्ग से विचलित करता है, यह सत्य बतलाया गया था। अब थोड़ा और अधिक समझने के लिये मनुष्य को यूँ भी समझना चाहिए--कि जन्म से मनुष्य ने अपने सामयिक (समय के) दुःख को टालने के लिये न जाने संसार में किन-किन साधनों का सहारा ले रखा है। इनके बिना खाली बैठा मनुष्य या तो निद्रा में चला जाये, नहीं तो उसे खाली रहना अति दुःखदायी प्रतीत होने लगता है। अपने बाल्य या यौवन काल में तो उसने कई एक प्रकार की संगत और कर्मों का सहारा लेकर खाली समय के दुःख को धक्का दिया। परन्तु जब वह सब उपाय होने का समय नहीं रहेगा तो जीव ज्ञान, ध्यान और साधन विहीन होने पर अपने को दुर्गति में ही पायेगा। अकेले में खाली मन न लगने पर उन्हीं पुराने सहारों की याद करेगा, यह भी तृष्णा का राग बन्धन है; उनके बिछोड़े में दुःख मानेगा--यही मोह बन्धन; पुनः कुछ कर न सकने के कारण ज्ञान शून्य अवस्था में या अविद्या में खोया रहेगा या पुनः बिछोड़े के दुःख को टालने के लिये आगे पद्य में दर्शायी गयी विभव तृष्णा के निद्रा रूप में ऊंघता हुआ इस व्यापक सत्य परमात्मा या आत्मा के उत्तम लोकों के ज्ञान

का अधिकारी भी न हो सकेगा। केवल तंद्रा (निद्रा जैसी अवस्था) या निद्रा में पड़ा मन, अन्दर-ही-अन्दर दुःखी होता रहेगा। जगत् का क्या सत्य है ? किन-किन लोकों में जीव संयम द्वारा पहुँच जाता है; स्वर्ग आदि क्या है ? ये सब उसके लिये अनहोनी बातें ही होंगी। वह तो जगत् की सत्ता या उससे टलकर निद्रा आदि के ही सुख और स्थिति को जानता है। आदत के सुखों से मन विहीन होते हुए व्यापक सत्य को भी समझना नहीं चाहता; इन्द्रियां और मन केवल उनके गत वस्तुओं के ही चित्र उपस्थित करके उसे घोर अविद्या के अन्धकार में डाले रहते हैं। यही सब भव-तृष्णा वाले की कथा (कहानी) है। थोड़ा उन बाह्य सुखों से उठा मन, कुछ बाहर समझता हुआ अपने कल्याण का मार्ग भी अपना सकता है। परन्तु तृष्णा के राग, द्वेष, मोह, मान आदि के क्षेत्र में ही घिरा हुआ मनुष्य जहाँ ये सब नहीं, ऐसी उस संसार की जीवन धारा के बारे में समझने के लिये भी अशक्त (शक्तिहीन) है। मिथ्या निद्रा सी उसे घेरे रहती है। ज्ञान के लिये इन्द्रिय और मन को जागने ही नहीं देती। इन दोनों (भव और विभव) की तृष्णा को जीते बिना कल्याण पाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता।

जो यह यूँ तृष्णा बढ़ी, पावे न भव की राह।
कुछ उलटी रचना राचती, विभव नाम की चाह।।

। २२० ।

गत पद्य में दर्शायी गयी संसार में होने की प्रवृत्ति से विपरीत अब पुनः वहाँ से मन की दूसरी प्रवृत्ति (विभव) दर्शायी जा रही है। इस पद्य में उसी दूसरी प्रवृत्ति का

स्पष्टीकरण है।

पद्यार्थ :- संसार में ही कुछ होकर खालीपने का दुःख, या और कोई भी दुःख टालने की प्रवृत्ति जब बहुत बढ़ जाये तो उसमें मन और इन्द्रिय आदि का इतना विक्षेप या श्रान्ति (थकावट) बढ़ जाती है कि अब उस संसार में होते रहने को बनाये रखना तथा केवल जागते रहना भी असम्भव सा लगने लगता है। तब उस संसार में होने से विपरीत दूसरे प्रकार की रचना ही, इसी बढ़ी-चढ़ी तृष्णा के कारण, जीव को धारण करनी पड़ती है। उस का नाम है 'भव' (होने) से विपरीत 'विभव' (प्रथम रचना का बिगड़ना)। उसी विभव की चाह या इच्छा होती है जहाँ कि श्रान्ति (थकावट) या दुःख, खेद करने वाला संसार अब न दीखे। यही सब जन्म-मरण का चक्र है, इसमें भी जीव सुख का अनुभव करता है। सुख के कारण इस अवस्था में भी जीव को राग रूप तृष्णा हो जाती है। यद्यपि यह सुख पहले संसार में होने के खेद को मिटाने के कारण से है। अपने आप में इसका कोई सुख नहीं। जैसे थके हारे मनुष्य को रास्ता चलने के खेद को शान्त करने के लिए कहीं बैठकर अपनी थकावट उतारने से ही केवल सुख प्रतीत होता है। जब थकावट उतर गयी तब केवल बैठना मात्र उसे सुखी नहीं करता। इसी प्रकार यह विभव तृष्णा भी केवल संसार के दुःख को भुलाकर ही मनुष्य को प्रिय भाती है। यह अपने आप में आनन्द रूप नहीं है। जब संसार में होने की थकावट या खेद शान्त हुआ तो तुरन्त निद्रा टूट जाती है। तृष्णा पुनः संसार में होने की भड़क कर पुनः पहले ही मार्ग पर आरूढ कर देती है।

यही सब आवागमन का चक्र है और यह चक्र बिना विचार, ध्यान और ज्ञान के साधनों के बना और बसा हुआ है तथा चल रहा है। इन साधनों को उन्नत करके इस चक्र से निकलना ही परमपद है।

सुस्ती, आलस, नींद कर, और अन्त समय को मौत।
रचन विघ्न सब दूर कर, नव भव रचन का स्रोत।।
। २२१ ।

गत पद्य में कहा गया कि जब संसार में ही होने (भव) की तृष्णा अपने (संसार के) मधुर लगने वाले संग के कारण आगे से आगे बढ़ती ही जाती है और उससे आत्मा के बाहर मन और प्राण शक्ति को भटकाती-भटकाती सुख के विपरीत दुःख, खेद और श्रान्ति (थकावट) को उत्पन्न करके जीव को संसार में होने (भव) की अपेक्षा (बजाय) इससे टलने के लिये ही प्रेरित करती है; यही टलने की तृष्णा ही भव (संसार में होने) से विपरीत विभव (संसार से टलना) के नाम से कही जाती है। इसे मनुष्य को अपने ध्यान में ही देखने का यत्न करना चाहिए। इसी दूसरी (विभव) तृष्णा को यह पद्य स्पष्ट करता है।

पद्यार्थ :- इसी बढ़ी हुई भव तृष्णा के खेद और दुःख को अनुभव करता हुआ जीव संसार में होने से दुःख मानकर इससे स्वाभाविक रीति से ही टलना या मुख मोड़ना चाहता है। यह नहीं कि संसार में होने के स्थायी दुःख को देखकर जीव विरक्त होकर इससे मुक्त होना चाहता है। यदि उसी संसार के होने में भी ताजगी, स्फूर्ति आदि हो तभी संसार में मन खेलता है। स्फूर्ति आदि के न रहने पर, थकावट होने पर मन पुनः इसे दूर करके पुनः

संसार में ही आनन्द मानता है क्योंकि इसे संसार में ही अपना आपा या आत्मा का लाभ होता है। इसी संसार में होने के साथ जीव अपने आपको बना, बसा, बैठा देखता पहचानता है। इसलिये केवल थकावट उतारकर पुनः निद्रा आदि से ताजगी पाकर जीव पुनः संसार में ही होना चाहेगा, चाहे कोई और आवश्यक कर्म या काम न भी हो तब भी दूसरों के संग व्यर्थ की गप्पें हांकता हुआ; या पुनः यदि दूसरा कोई साथी नहीं मिलता तो अपने मन में इसी संसार के गीत गाता हुआ संसार में ही विचरता है तथा इसी में ही रमता है। यह नहीं कि इसमें न होकर अपनी आत्मा में रहने का यत्न करे तथा इसी आत्मा को या अपने सही स्वरूप को झांकने और समझने व पहचानने के लिये थोड़ा दुःख सहन करने की तपस्या करके आसन पर बैठकर अपने जीवन के सत्यों को समझे या पहचाने; अथवा व्यापक जीवन रूप परमात्मा के सत्य को समझने के लिये मन को जोड़े। साधारण जीव तो संसार में ही अपना आपा समझता है। जब संसार में नहीं तो दूसरी तृष्णा के परिवार वाले आलस्य (सुस्ती) या निद्रा आदि जीव को संसार से अचेत कर देते हैं। वहाँ इन अवस्थाओं में भी संसार में खेलकर थके हुए जन के लिये पर्याप्त (काफी) सुख प्राप्त होता है। इसीलिये इस विभव (होने से विपरीत भाव) में भी एक राग, जीव में उन्नत होता रहता है। इसकी तृष्णा पूर्ति में भी यदि कोई विघ्न करे तो जीव दुःखी होता है और विघ्न करने वाले के प्रति द्वेष और क्रोध करता हुआ उसका भी बुरा करना चाहता है।

यह दूसरी तृष्णा तब तक ही मनुष्य को अपने में लपेटे

या समाये रखती है जब तक कि जागती अवस्था का संसार में होने का खेद, दुःख और थकावट चिकित्सित (उतर) नहीं हो जाते। जैसे ही जीव की थकावट सोने या आराम करने से मिटी कि वह पुनः संसार में ही होना चाहता है। क्योंकि जब आँख खुल गयी, मन अपनी इन्द्रियों सहित जाग गया तो खाली रहने की अवस्था में वह अपना आपा नहीं मिलता जो कि संसार में प्राणी और पदार्थों के संग से मधुर रूप से या सुख रूप से मिल रहा था। अविद्या खाली अवस्था में उसी के संस्कारों को जगा-जगा कर इस जीव को पुनः उसी प्राचीन रचना के लिये ही प्रेरित करती है तथा उकसाती है और बाध्य (लाचार) करती है कि वह उस पुरानी रचना के दुःखों को भुला कर पुनः केवल अपना आपा पाने के लिये उसी संसार में ही खेले। यह सब लीला, जीव अपने दिनों-दिन के जीवन में व ध्यान द्वारा पूर्ण जीवन में जन्म-मरण के चक्र को समझता हुआ खूब जान सकता है, इसके लिये उद्योग चाहिये। इसके जाने बिना कल्याण नहीं। सोई सब भाव मन में रखते हुए इस पद्य के उत्तरार्ध में कहा गया है कि यह 'विभव' तृष्णा केवल पुनः संसार के रचने के सब विघ्न दूर करके नयी रचना का ही स्रोत है।

ॐ इति तृष्णा द्वयी वर्ग ॐ

(रजोगुण, तमोगुण)

卐卐

卐 अथ सर्व तृष्णा निरोध वर्ग 卐

दोनों मिलत हैं ध्यान में, मन खाली जो राखन चाहे।
सब हालत टालत रहे, कहीं जन्म न पाये।।
। २२२ ।

गत दो पद्यों में दो प्रकार की (संसार में होने और उससे टलकर निद्रा आदि में जाने की) तृष्णा की चर्चा की गई। ये दोनों क्रम से जीव में रजोगुण और तमोगुण के स्वरूप में पायी जाती हैं। इन्हीं दो के कारण जीव हो-हो कर पुनः इनसे टलने के रूप में जन्म और मरण को पाता है, जागने और सोने की अवस्थाओं में घूमता है। कोई भी जीव या प्राणी यह नहीं चाहता कि उसका विनाश हो जाये; दुःख में या सुख में वह सदा बना ही रहना चाहता है। उसे बना रहना चाहिए, उजड़ना या पूर्ण रीति से विनष्ट होना उसे कभी भी नहीं भायेगा। यदि संसार में होने को ही वह अपने बने रहने को समझता है तो इसी बने रहने की तृष्णा के कारण जीव को संसार से मुक्ति नहीं मिलती। संसार में बने रहने के लिए ही इसे ताज़गी आदि के लिये कुछ नियत समय के लिये टलना भी पड़ेगा। यही दो तृष्णाओं (भव तृष्णा और विभव तृष्णा) के रूप में जीव का स्वभाव बतलाया गया। परन्तु यदि जीव इस संसार से परे के अपने वास्तव ज्ञान या चेतन स्वरूप को भी पहचान ले तो इसे पुनः संसार से परे या संसार के अनुभव न होने पर भी अपने विनाश की या न रहने की शंका या भय तक भी नहीं होगा। तब पुनः वह सदा के लिए संसार के सब दुःखों से मुक्ति पा जायेगा। परन्तु

卐卐

यदि जीव का परे का स्वरूप छिपा ही रहे, उसे अविद्या ढाके रखे, वह प्रकट न हो जो कि संसार से परे है तो बिचारे जीव ने अपना आपा तो अनुभव करना ही है; तब उसे संसार ही बार-बार खड़ा करना पड़ेगा। अविद्या उसमें (अपने आप को न समझने की अवस्था) संस्कारों को जगा-जगा कर वैसे ही रचती है और पुनः बिगाड़ती भी है। और यदि जीव दोनों तृष्णाओं को पहचाने और उद्योगी, तपस्वी और ज्ञानी पुरुष इनके वशीभूत न हो तो उसका जन्म-मरण के साथ सब संसार ही समाप्त हो जाये। इससे उसे सदा के लिये मुक्ति मिल जाये। इसी भाव को यह पद्य सूचित करता है। इसका पद्यार्थ ऊपर स्पष्ट हो चुका है।

पद्य का शब्दार्थ :- ये दोनों पीछे के पद्यों में कही गई तृष्णायें मनुष्य को ध्यान में ही देखने को मिलेंगी, परन्तु उस व्यक्ति को जो कि थोड़ा अपने मन को संसार से खाली रखने का यत्न करे; इससे (संसार से) यत्नपूर्वक टले, उसकी उत्तेजनाओं—दृष्टि, संशय, काम, क्रोध और निद्रा आदि को टाले।

जब पुनः मन खाली रखने पर संसार के बन्धनों की हालतें (अवस्थाएं), उन्हीं विषयों का चिन्तन रूप राग या द्वेष का चित्त या चिन्तन की हालत में सामने आयें; या पुनः उनके त्याग या सांसारिक सुख के विषय संग के त्याग को दुःख शोकपूर्ण मन से याद करने की अवस्था (मोह रूप) सम्मुख उपस्थित हो; या पुनः उनके संग से प्राप्त होने वाली 'मैं' या 'मैं भाव' ही मान या अभिमान के क्लेश रूप में सताये; या पुनः खाली मन अविद्या में

पड़कर ज्ञान शून्य अवस्था में अपना आपा खोया हुआ सा मानता हुआ दुःखी होकर अपना विनाश समझकर पुनः संस्कार जगा-जगा कर संसार को ही खड़ा करना चाहे, या पुनः यदि यह सब नहीं तो संसार में न होने के दुःख से बचने के लिये निद्रा आदि में ही समाना चाहे तो इन सब अवस्थाओं को ध्यान में (अपने ज्ञान में) समझता हुआ उद्योगी पुरुष टालता ही रहे। स्मृति दृढ़ रखे; मन को जगाता रहे; ज्ञान जगाये रखे, इनके दुःख को पहचाने और मन को परिवर्तनशील (बदलते रहने वाला) समझता हुआ स्थिर रहे और समझे कि समय पाकर ये सब अवस्थाएं अपने आप ही टल जायेंगी। मैं दुःख में स्थिर रहूँ, अधीर न होऊँ, मुझे सनातन, सदा एक रस चेतन अन्त में प्रकट साक्षात्कार करने में आयेगा। तब पुनः नित्य अपने आपे (आत्मा) की प्राप्ति होगी। इसी आत्म भाव या अपने आप को बनाये रखने के लिये संसार में नहीं आना पड़ेगा। जब जन्म समाप्त होगा, तब मृत्यु भी न होगी। यह चक्र सदा के लिए शान्त हो जाएगा। तब पुनः कहीं भी न जन्म होगा और न मरण ही। इतना ही नहीं नित्यानन्द (सदा बने रहने वाला सुख) भी प्राप्त हो जायेगा। संसार की किसी भी वस्तु का वियोग (बिछोड़ा) भी मन को नहीं सतायेगा कि 'वह वस्तु नहीं रही', या 'वे मेरे प्रिय जन खो गये', इत्यादि कुछ भी उसे दुःखी नहीं करेगा। क्योंकि सत्य ज्ञान का बल (वह सब न रहने का ही था) इसके साथ सदा रहेगा। इसी वार्ता को यह आगे का पद्य चर्चा में लाता है।

जाग्रत का जब वेग सब, सब हालत संग जाये।
निद्रा, आलस सब टले, सहज ही सुख मिल जाये।।
। २२३ ।

पद्यार्थ :- संसार में होने के (अपनी सत्ता या हस्ती का अनुभव करने के लिये एक दूसरे के सम्बन्ध वाले जगत् में होने के) जब सब राग, द्वेषादि बन्धनों का वेग (जोर), उन की सब काम, क्रोध आदि हालतों के साथ-साथ स्वयं समय पाकर धैर्य रखने से चल बसेगा और उनके विपरीत दूसरी तृष्णा (पहली संसार में होने की तृष्णा रूप रजोगुण का दुःख देखते हुए इसी संसार में होने की तृष्णा से विपरीत निद्रा आदि अवस्थाओं में या तमोगुण की अवस्था में संसार के दुःख को भुलाने की तृष्णा) की निद्रा, आलस्य आदि मन को अचेत अवस्था में ले जाने वाली अवस्थाएं भी अपना-अपना बल दिखलाकर टल जायेंगी, तो साधक पुरुष को अपने आप में ही सहज सुख का अनुभव होगा। क्योंकि उन अवस्थाओं के रहते-रहते उन्हीं का मान या भाव पूरा करने से सुख होता था। अब उनको रोकने के समय तक का ही दुःख है। वह भी अल्प (थोड़ा) और नाममात्र का ही, और वह दुःख भी समय पाकर उन्हीं अवस्थाओं के न होने पर टल ही जायेगा। तब स्वभाव से ही अपने आप में सुख का अनुभव होगा। यह सुख अपनी आत्मा का और बिना किसी बाहर की उपाधि (शर्त) के होगा। तब पुनः दुःख से चलायमानता भी नहीं रहेगी। उस चलायमानता के कारण मन भी नहीं उपजेगा और संसार के संस्कार या वासनाएँ भी नहीं जागेंगी। जागते आत्म

सुख में अविद्या का बन्धन भी कहीं नहीं दीखेगा और सब अनर्थ की निवृत्ति हो जायेगी।

इस पद्य में दो प्रकार की तृष्णा से मुक्ति पाने पर नित्य, सहज आत्मा या अपने आपे का सुख पाने की चर्चा की गई है--

जब कोई भी मनुष्य या जीव अकेला पड़ जाता है तो उसे अपने आप का पता नहीं पड़ता; क्योंकि उसने अपनेपन का ज्ञान दूसरों के संग से ही अनुभव किया है। दूसरों का संग न रहने पर, दूसरों के संग से ही मिलने या अनुभव में आने वाला अपना आपा या आत्मा ढक जाता है; उस पर पर्दा पड़ जाता है; इसी से उसको अपने आपके न रहने की या विनाश की शंका हो जाती है। तब जीव संसार के ही संस्कार जगा-जगा कर पुनः संसार में ही जन्मने की ओर लपकता है या दूसरों के संग की ओर ही भाव बना बना कर उन्हीं में कुछ-का-कुछ होता है। भले पिता, पुत्र, वैरी, मित्र या अन्य किसी भी संसार की सत्ता को स्वीकार करके अपनी सत्ता या अपने आपके बने रहने को अनुभव करता है। इस संसार में जैसे एक जीव वैसे ही अन्य सारे जीव भी अपने आप की सुख वाली सत्ता (हस्ती) को पाने या अनुभव करने के संघर्ष में सदा बहते रहते हैं। यही सब भव सागर का स्वरूप है। यदि कोई अपनी आत्मा को अपने आप में या एकान्त में भी सदा सुख रूप अनुभव कर सके तो उसे इस भव सागर में क्यों रुलना पड़े। जब वह अपने आप में, इस अपने आप के नित्य सुख को अनुभव नहीं कर पाता तभी अपने विनाश की शंका से दुःखी होकर संसार में ही जन्मता है और वहीं

एक दूसरे के संग वाली तथा बहुत दुःखों वाली राग, द्वेषादि बन्धनों से बन्धी सत्ता या हस्ती को स्वीकार करता है। जब पुनः इस संसार वाली सत्ता (हस्ती) का दुःख अधिक बढ़ जाता है तो मन इस दुःख से खिन्न होकर इसी संसार की सत्ता या हस्ती से मुख मोड़कर आलस्य या निद्रा के चक्र में पड़कर जाग्रत काल की श्रान्ति (थकावट) तथा खेद को भूलता है। यही दूसरे प्रकार की तमोगुण रूप तृष्णा है। संसार में होने की तृष्णा तो रजोगुण रूप है। उसके दुःख को भूलने के लिये पुनः तमोगुण रूप की भी तृष्णा है। इन दोनों में ही जीव सदा बहता रहता है। तमोगुण या निद्रा तथा मृत्यु में भी सदा बने रहना कोई भी जीव नहीं चाहेगा। जैसे संसार के दुःख का अनुभव करने पर, सुख रूप अपना आपा या आत्मा न मिलने पर या उसके विनाश की शंका होने पर जीव निद्रा तथा मृत्यु आदि की ओर लपकता है, उसी प्रकार निद्रा आदि अवस्था में भी जब सांसारिक दुःख भूल गया तो उसमें भी कोई भी जीव बने रहना नहीं चाहेगा। क्योंकि वहाँ जीव का सही स्वरूप जो कि ज्ञान का है वह अनुभव में नहीं आता; इसीलिए ज्ञान स्वरूप का अनुभव करने के लिए पुनः संसार में ही आना पड़ता है। यदि केवल अपनी आत्मा, ज्ञान और सुख रूप से अनुभव कर ली जाये तो सदा के लिये संकट टल जाये। इसी के लिये ही यह पद्य ऊपर कही गई दो प्रकार की तृष्णा को जीतने के लिये प्रेरित करता है। इसके लिए थोड़ा दुःख देखते-देखते इनका (तृष्णा का) वेग टालने का अभ्यास करे।

दोनों वेग जो टालकर, दो तृष्णा की जो राह।
क्षण-क्षण बसना सीख ले, पावे मुक्ति की थाह।।
। २२४ ।

गत पद्यों में दो प्रकार की तृष्णा (संसार में होने की और उससे टलने की) बतलाई गयी। दो प्रकार का ही इनके वेग का बल है। जैसे जब कोई गाड़ी या वस्तु धीमी गति में होती है तो उसे रोकना कोई अधिक कठिन नहीं होता; परन्तु जब वह यान या गाड़ी तीव्र (तेज) गति में हो तो इसको सहज में रोकना कठिन है। उस समय उसमें एक 'वेग' नाम का बल भरा रहता है जो कि टिका रहता है। यही वेग बल तृष्णा का भी है। दो प्रकार की तृष्णा के वेग भी दो ही हैं। ये दोनों इतने तीव्र होते हैं कि साधारण प्राणी इनमें विवेक बल भी खो बैठता है और इन्हीं के द्वारा तृष्णा के मार्ग पर चलने की तीव्र प्रेरणा पाता है। ये तृष्णा के दोनों वेग तब बढ़ते हैं जबकि इनके सुख का लोभ रखता हुआ और अल्प दुःख से भी भीरु (डरपोक) होता हुआ जन झटपट तृष्णा के सुख के लिये अधीर होकर उसी दासता का निर्वाह (निभाना) करता जाता है। तब यही तृष्णा बिना विचार के तथा बिना अपना भला बुरा या परिणाम (नतीजा) सोचे, पूरी करते रहने पर यह (तृष्णा) इतनी तीव्र गति से जीव के मन में बहती रहती है कि इसके वेग को बिना नियम धर्म के मार्ग से रोकने की चेष्टा करने पर तृष्णा मनुष्य में अन्य प्रकार से भी (शरीरादि, मन को अस्वस्थ या अव्यवस्थित करके) केवल दुःख ही रचती है। तब जीव इस जन्म में मुक्ति को पाने का अधिकारी भी नहीं रहता। इसलिये मनुष्य को बड़े आदर

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

के साथ जब से उसने होश सम्भाली है, तब से ही जीवन को अन्तिम भलाई के रास्ते पर चलने योग्य ढंग से ही साधना चाहिए। यह नहीं कि जब कोई तृष्णा जागी और इच्छा जन्मी, तभी उसे पूरा करने चल दिये। यह जड़ प्रकृति का मार्ग है जिस पर कि प्रकृति जगत् के सब जीवों को चलाती है। मनुष्य इस प्रकृति के बन्धन से विवेक, नियम और धर्म की साधना द्वारा मुक्त होकर स्थायी सुख को अपने आप में ही जीवन काल में पा सकता है। परन्तु मनुष्य ऐसा जीवन साधे कि क्या वह कर्म क्षेत्र में हो, क्या वह एकान्त में या ध्यान में, या दूसरों में हो तब भी हर क्षण तृष्णा के वेग बल को पहचानता हुआ अपने में बसा रहे। कहीं उस वेग में खो न जाये और खो जाने पर जैसा कि प्रकृति का बल प्रेरित करता है या जिस दिशा में वह ले जाना चाहता है उसी दिशा में कहीं मनुष्य प्रवृत्त न हो जाये। यदि आप अपने आप में हर समय स्मृति वाले या मन की उपस्थिति (हाज़री) वाले नहीं हैं तो क्षण चूक जायेगा और इससे कुछ भी विपरीत (अपने कल्याण के विपरीत) घट सकता है। कड़वा बोलना, अनावश्यक वस्तुओं का या प्राणियों का संग करना, खाने-पीने, सोने आदि में भी नियम न रखकर इसी प्रकृति के बल द्वारा तृष्णा के मार्ग पर ही बह जाना इत्यादि-इत्यादि सब कल्याण के विपरीत ही हैं। इसी में दूसरों से वैर, विरोध, संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता आदि भी सम्मिलित हैं। इन सब में ज्ञान और स्मृति से सम्भला रहने वाला जन जीवन कमा लेगा और पुनः हर क्षण सम्भला रहेगा और मुक्ति की थाह (गम्भीरता) को भी पा लेगा या माप लेगा। इसी अभिप्राय

से इस पद्य में दर्शाया गया है कि 'क्षण-क्षण बसना सीख ले, पावे मुक्ति की थाह'। इस जीवन को सही रीति से ढालने के लिये संयम के दुःख में भी धैर्य रखने का अभ्यास करना सीखना पड़ेगा। पुनः किसी भी कर्म के परिणामों (नतीजों) पर विचार करने से ही सीखा जायेगा। यही सब इस पद्य का भाव है। किसी भी सुख की इच्छा को बिना विचारे झटपट पूरा करके थोड़ा सुख पाने की मन की लपक तो अवश्य है; परन्तु थोड़ा मनुष्य स्वभाव में होने वाली बुद्धि को चेतन करके या जगा कर यह भी विचारना पड़ेगा कि कहीं यह थोड़ा सुख मुझे अन्त में बड़े भारी दुःख में तो नहीं पटक देगा। जैसे कि, विषयुक्त मधुर भोजन यदि कोई मीठे भोज की तृष्णा से खा ले तो उसे मृत्यु जैसा दुःख देखना पड़ता है। बुद्धिमान् मनुष्य भोजन में विष समझकर कितना भी उसका मीठा खाने की तृष्णा का बल हो, वह उस मारने वाले भोजन को त्याग ही देता है। इसी परिणाम या नतीजे पर विचार करके कर्म करने वाला जीव थोड़े खोटे सुख या भारी दुःख देने वाले सुख को त्यागने के दुःख को भी धैर्य से अपना लेता है। इसी से चारों ओर से सधा सही जीवन अपने को सब तृष्णा से मुक्त करके आत्म सुख पायेगा।

पुनः इस पद्य का सारांश यह है कि जैसी कोई बाहर दूसरों से उकसाहट मनुष्य के मन पर सवार होकर कोई कर्म शीघ्रता से करवाने के लिये बल करती है, या पुनः अपने ही मन की बचपन आदि के समय की आदत इससे झटपट कोई कर्म करवाना चाहती है तो ऐसे अवसर पर मनुष्य अपनी बुद्धि को सम्भाल कर या जगाकर इस कर्म

के परिणाम (नतीजे) के बारे में निश्चय करके ही कोई कर्म करने का अभ्यास करता रहे। सहसा कुछ भी करने को तैयार न हो जाये। इस प्रकार अपनी आत्मा में जागने वाला मनुष्य एक दिन अपने आप में ही सब प्रकार की ऊपर कही तृष्णा को पहचान कर टालने का मार्ग पा जायेगा। केवल ऊपर कही दोनों प्रकार की तृष्णा सुख का लोभ दिखलाकर या पुनः इसे रोकने पर थोड़े दुःख का भय दिखलाकर ही मनुष्य को संसार में बांधे रखती है। यदि जीवन में थोड़ा सुख त्यागने तथा थोड़ा दुःख भी धैर्य से सहन करने की आदत किसी ने जीवन काल में ही बना ली तो वह एक दिन सारे ही दो प्रकार की तृष्णा के वेगों या बलों को अपनी आत्मा में ही देखते-देखते टालकर आत्मा के नित्य सुख में प्रतिष्ठा पा लेगा। पुनः उसे अन्दर की सब विद्याओं का ज्ञान होगा। आत्मा को सर्वरूप या ब्रह्म रूप से पहचानेगा, कोई भी शास्त्र में सुने शब्द का अर्थ उसे प्रकट भासेगा। परन्तु तृष्णा के झूठे वेगों को, उसके मिथ्या शोक, मोह आदि की अवस्थाओं को अपने आप में ही धैर्यपूर्वक देखते-देखते टालने का यत्न प्रथम अवश्य करना पड़ेगा। इसी सुख रूप आत्म साक्षात्कार से मृत्यु पर विजय प्राप्त होगी। 'मृत्यु भी कोई वस्तु है', यह बात मन से ही निकल जायेगी। सदा बनी रहने वाली तृप्ति मनुष्य को अपने आप में सूझेगी; दूसरे सब में भी 'कोई कहाँ टिका बैठा है', इसका प्रकट ज्ञान होगा। यही सब आत्म ज्ञान का फल है।

कठिन है क्षण का राखना, उल्टा उसका बहाव।
धीरज तब डटता नहीं, यत्न शिथिल को चहाव।।
। २२५ ।

गत पद्य में यह सुझाया गया कि जीवन के प्रत्येक क्षण में अपने आप में उपस्थित रहे और कल्याण के विपरीत कुछ भी न होने दे तो उसे इसी जन्म में मुक्ति की गम्भीरता (गहराई) मापने का अवसर मिल जायेगा। इसी से यह सूचित किया गया कि जीवन को ही मुक्ति के योग्य साधे। प्रमाद अर्थात् ढिलाई (शिथिलता) में जैसा कुछ संसार का जड़ (मुर्दा, चेतन से विपरीत) बल रूप से प्रकृति उकसाती है वैसे ही बिना विचारे कुछ करने की दिशा में अग्रसर न हो। प्रकृति के मिथ्या या अल्प सुख रूप फल न चाहे; और प्रकृति के तृष्णा के बल और रागादि बन्धनों को समझता पहचानता रहे। यही ज्ञान और विद्या का अभ्यास है। पुनः जैसे सही ज्ञान उचित दर्शाये वैसे ही चलने का धैर्य भी रखे। ऐसा ही जीवन काल में अभ्यास करता रहे। अब इस पद्य में इससे विपरीत जिस प्रकार प्रकृति का बल तृष्णा रूप से प्रेरित करता है उसकी चर्चा की गयी है।

इस बल को या इस बल द्वारा चलाये जाने की दिशा को भी समझना और पहचानना आवश्यक है, तभी इससे बचा जा सकेगा। जैसे इस मार्ग वाले व्यक्ति का अन्त तो दुःख में ही है, इसे भी जानना पड़ेगा। इसलिये इसके मार्ग में जैसा-जैसा मन बनता है उसे समझकर उससे बचने के लिये सदा यत्न बनाये रखना आवश्यक है। इस सब की सूचना इसमें और कुछ एक आगे के पद्यों में है।

卐卐

पद्यार्थ :- क्षण-क्षण अपने को सम्भाले रखना कठिन अवश्य प्रतीत होता है क्योंकि प्रत्येक क्षण का बहाव (बहना) उल्टा है अर्थात् उल्टी संसार की दिशा में ही ये सब क्षण बह रहे हैं । बचपन से ही सांसारिक सुख और स्वार्थ को पूरा करते रहने की दिशा में ही हर एक क्षण में मन का झुकाव होता है, वह भी बहुत समय से पूरा होता आया है। यौवन काल भी बहुत सा नादानी में ही व्यतीत हो जाता है। अपने साथी भी, मित्र प्यारे भी वैसी ही इसी खेल या ठट्ठे मजाक में उसी संसार की दिशा की ओर ही बहने के लियें प्रेरित करते हैं। इसलिये तृष्णा का वेग और भी तीव्र होकर मनुष्य में प्रतिष्ठित रहता है। हर क्षण उधर संसार की दिशा में ही जाने की प्रेरणा रहती है। तब धैर्य भी नहीं टिक पाता और धर्म या संयम, नियम और ध्यान आदि के मार्ग पर चलने का यत्न भी शिथिल होने की दिशा में ही अग्रसर होता है। मनुष्य में यूं इच्छा होती है कि इन सब संयम, नियम आदि को छोड़ो; इन में क्या रखा है ? इस दुःख से चले जाने वाले मार्ग में पता (खबर) नहीं कि कुछ मिलेगा या नहीं ? इत्यादि-इत्यादि बहुत प्रकार से श्रद्धा भी शिथिल (ढीली) होने लगती है। प्रत्यक्ष आदतों का सुख और उसी की चाह या इच्छा ही मन को लुभाती है और उसी अभ्यस्त (आदत वाले) संसार के मार्ग पर जाने के लिये खींचती है। इससे मनुष्य को भी अपना यत्न ढीला करने की चाह या इच्छा हो जाती है।

प्रतीक्षा में है बैठता, रख आदत सुख की चाह।
दुःख में धीरज छोड़ता, पाव न मुक्ति की राह।।

। २२६ ।

इस पद्य में गत दो पद्यों के भाव को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

पद्यार्थ :- जो जन्म से या अनादि काल से आदत में सुख पड़ चुके हैं; जिन्हें पूरा करते-करते लम्बा समय व्यतीत हो चुका है, उन्हीं सुखों की इच्छा रखता हुआ मनुष्य उन्हीं को पूरा करने की प्रतीक्षा में ही बैठा रहता है। जब एक सुख ले लिया तो पुनः उसी सुख को पाने के लिये दूसरे समयों को भी मन में रखता हुआ संसार में जीवन नौका को जीव धकेलता रहता है। जब ये सुख थोड़ी भी अड़चन (विघ्न) में पड़े तो इसे दुःख होता है और उस दुःख में धैर्य छोड़ देता है और पुनः उस सुख का बुरा परिणाम देखते हुये भी उसे पूरा करने की दिशा में ही जाना चाहता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी इस जन्म में तो मुक्ति पाता नहीं। 'मुक्ति की गम्भीरता कितनी है', वह समझ भी नहीं सकता; इसको माप भी नहीं पाता। इस पद्य का यह भाव है कि जीव संसार में ही होना या पुनः संसार के दुःख को भूलने के लिए आलस्य, निद्रा या अन्त समय में मृत्यु में ही जाकर अपना दुःख टालने की इच्छा रखता है। यही पहली संसार में होने की तृष्णा से विपरीत संसार से टलने की भी दूसरी तृष्णा है। एक (पहले वाली) रजोगुण रूप तथा दूसरी तमोगुण रूप है। सामान्य रूप से जीव इन दो तृष्णाओं के बन्धनों में बन्धे रहने की दिशा में ही बहना अपने लिये अच्छा प्रतीत करता है। इस सत्य को आगे दृष्टांत द्वारा स्पष्ट किया जायेगा जिससे कि यह ऊपर कही दो प्रकार की तृष्णा भली प्रकार से अपने में

और दूसरों में लीला करती हुई प्रत्यक्ष दीखे और दीखने पर इसे त्यागने की प्रेरणा प्राप्त हो।

सब थांह जहाँ मन रमत है, इक-इक रचता जाय।
इनकी भूल-भूलैयों में विवेक रह न पाय।।
। २२७ ।

गत दो पद्यों में दर्शाया गया कि सब समय सम्भले रहना, हर क्षण में अपने को पहचानकर सही मार्ग पर रखना कठिन प्रतीत होता है। क्योंकि आदत के सुखों की चाह (इच्छा) रखता हुआ प्राणी उन्हीं की प्रतीक्षा में ही सदा टिका रहता है 'कि कब इसे उस सुख को अनुभव करने का अवसर (मौका) मिले'। इस प्रकार सब संसार के या तृष्णा के बन्धनों से मुक्त होकर उसे केवल आत्मा (अपने आप) में स्थायी (टिकाऊ) आनन्द प्राप्त नहीं होता। इस सत्य को दृष्टांत द्वारा समझने में सहायता मिलेगी कि किस प्रकार ऊपर कही गयी दो तृष्णायें ही मनुष्य को लपेटे रहती हैं। शास्त्रीय ढंग से इसी तृष्णा के दस बन्धन दर्शाये गये हैं। उन्हीं के नाम तथा स्वरूप प्रकट किये गये हैं। परन्तु इन्हीं सब को अपने जीवन में अपनी बुद्धि द्वारा समझकर ही और अपने ही शब्दों में जान कर मन को सही मार्ग पर प्रेरित किया जा सकता है। दृष्टांत द्वारा इसी दो प्रकार की तृष्णा को अपने तथा सब के मन में पहचानने का यत्न करे। तथापि :-

जैसे कि बालकपन में या बचपन में बालक अपनी इन्द्रियों द्वारा संसार को ग्रहण करता हुआ, हवा (पवन) का सेवन करता हुआ, आँख द्वारा प्रकाश को ग्रहण करता हुआ तथा जगत की आवाजें (शब्द) सुनता हुआ दूसरों में

रमा रहता है। प्रसन्नता के साथ उसका मन समय व्यतीत करता हुआ सुखी होता है। जब इस खेल-कूद में श्रान्त हुआ (थका) तो निद्रा की गोद में जाकर सुख का अनुभव करता है। उसका मन संसार में ही होने में जिस प्रकार रमण कर रहा है यदि उससे उस बच्चे या बालक को वैसी ही परिस्थिति या अवस्था से पृथक् (अलग) रखा जाये तो वह खिन्न, दुःखी या उदास होगा। उसका मन एकान्त में नहीं लगेगा। उसे संसार की वैसी ही सुख वाली परिस्थिति अपनी ओर खींचेगी। उसका संसार में होने का सुख ढक जाने पर वही सुख वाली उसकी 'मैं' या 'आत्मा' भी छुप जायेगी। उसके वियोग में वह उसी का चिन्तन करेगा, उसी के लिये दुःखी होगा इत्यादि-इत्यादि। अब ऐसे दुःखपूर्वक चिन्तन करता हुआ व्यक्ति पुनः जिस-जिस प्रकार से उसे पुरानी आदतों का सुख मिलता है वह सब एक-एक करके रचता जायेगा और उन्हीं की भूल-भुलैयाँ या उन्हीं में खोये हुए रहने पर सत्य आत्म रूप सुख पहचानने के लिये जो विवेक या सत्य ज्ञान आवश्यक है वह टिकने ही नहीं पायेगा। बालक के समान थोड़े सुख के लिए इच्छा रखता हुआ जन; तथा थोड़ा भी उस सुख के बिछोड़े के दुःख में अधीर जन सदा विवेक रहित ही रहता है। जो व्यक्ति संसार में ही होने की तृष्णा के बन्धन को पहचानेगा, ऐसा ही व्यक्ति जीवन को क्रमायेगा। क्षण-क्षण सम्भलने का यत्न करेगा भले वह दूसरों के संग में हो, कर्म कर रहा हो या इन्द्रियों और मन के क्षेत्र में विचर रहा हो, वह अनुचित कहीं भी नहीं होने देगा। जो कुछ संसार

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

की तृष्णा का मार्ग है उससे बचेगा, जैसा मुक्ति और आत्म-प्राप्ति के लिये उचित है, वैसा ही करेगा। अपने ज्ञान को स्वयं बढ़ा कर सब सत्य प्रज्ञा (सही ज्ञान) द्वारा अपने अन्दर साक्षात्कार करेगा, केवल श्रद्धा का ही मनुष्य नहीं होगा। श्रद्धा केवल आरम्भ में चाहिए। अन्त में तो ऐसा ऊपर कहा गया साधक उद्योगी पुरुष अपने ज्ञान से ही सम्भला रहेगा। इसके लिये क्षण को सम्भाले रखना (जो पीछे चर्चा में आया था) कठिन न होगा। वही क्षण-क्षण सम्भला व्यक्ति इसी जन्म में अपने अन्दर मुक्ति का साक्षात्कार करेगा और सब प्रकार के कर्तव्यों से मुक्त हो जायेगा।

इस पद्य का सारांश यह है कि बालपन से जो जीवन उन्नत होता है वह (सुख के राग तथा दुःख से द्वेष वाला) थोड़े से भी सुख के लिये बिना भविष्य का विचार किये कर्म करने का आदी हो जाता है। इसी राग-द्वेष तथा सुख-दुःख के मोह आदि बन्धनों के कारण उस व्यक्ति का विवेक भी खोया रहता है, और वह झटपट अपने भविष्य के भले की सोचे बिना ही कर्म करके पीछे दुर्गति को पाता है। इसलिये इसका तात्पर्य यही है कि जो अपना, मनुष्य की बुद्धि में हो सकने वाला विवेक रख सकेगा वही अपना अन्तिम भला साधने का सब धर्म रख सकेगा। इसलिये मनुष्य सहसा कोई भी कर्म करने की आदत पर पूर्ण संयम रखकर विचारपूर्वक सब कर्म करने का अभ्यासी बने; और इस प्रकार से थोड़े सुख के त्यागने के दुःख को भी पचाना (हज़म करना) सीखे।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

मिथ्या भाव सब कोई बने, अच्छा रचे न जाय।
तेज आँख बन्धन लखे, मन्द मति रुल जाय।।
। २२८ ।

पीछे से यह प्रसंग चला आ रहा है कि संसार में होने की तृष्णा (भव तृष्णा) और पुनः उससे अस्थायी रूप से टलकर तमोगुण में लीन होने की तृष्णा (विभव तृष्णा), इन दो तृष्णाओं के कारण ही मनुष्य सारे जगत् का अधिष्ठान रूप, तथा सब जग में समाया हुआ, और ज्ञान रूप से सब को प्रकाशित करने वाला चेतन स्वरूप जो अपना आपा (आत्मा) है उसे पहचान भी नहीं पाता। वह मनुष्य सदा अविद्या के अन्धकार में ढका रहने के कारण से ही अपने आपको पाने के लिए पुनः-पुनः संसार की शरण लेता है। यह संसार में मिथ्या आत्म लाभ या आत्म भाव ('मैं' भाव) पाने की तृष्णा इतनी मीठी तथा आकर्षक है कि इसकी याद आते ही मनुष्य झटपट संसार में ही होना रुचिकर समझेगा। पापों द्वारा भी जो मनुष्य को सुख और सुख वाले 'मैं भाव' का कभी अनुभव हुआ है, मनुष्य उसी को बार-बार चाहेगा, उसका परिणाम तक भी सोचने के लिए प्रेरित नहीं होता। दुष्ट कर्मों में भी मित्र प्यारे किसी को आदर मान देकर ऐसे उसे फुला देते हैं कि वह उस संसार में होने वाली 'मैं' के कारण उन्हीं के स्वार्थ हेतु सर्व विपरीत कर्म करता है। पापों के आचरण में भी संकोच (हिचकिचाहट) नहीं करता। इसी सब भाव को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जब जीव अपनी सच्ची आत्मा को न पाकर

संसार में ही पुनः होने की तृष्णा से जन्मता है, या इसी संसार में कभी भी पायी, तथा दूसरों के आदर और सुख के साथ अनुभव की गयी 'मैं' का अनुभव करता है तो उसी को बनाये रखने के लिये उस जीव में सब मिथ्या भाव ही बनते हैं; कोई भी अच्छा भाव रचने में नहीं आता। मिथ्या भाव वह है जो इस जीव के कल्याण के या अन्तिम नित्य शान्ति और सुख के विरोधी होकर, इसे उस सत् के मार्ग पर चलने में विघ्न रूप से उपस्थित होता है। इनसे विपरीत अच्छे भाव वे होंगे जो कि मनुष्य को संसार की सब तृष्णा के बन्धनों से निकालकर स्थायी शान्ति के मार्ग पर अग्रसर करें। जैसे कि संसार के पदार्थों को ही सुख देने वाले समझकर, उन्हीं को शुभ समझना, यह एक मिथ्या बुद्धि रूप भाव है। इसी प्रकार उन्हीं को पाने के संकल्प (इरादे) आदि बनाते रहना भी वैसा ही मिथ्या भाव है। उन्हीं के निमित्त काम, क्रोध आदि संशयों में पड़े-पड़े उन्हीं की दलीलों और ध्यानों में खोये रहना, ये सब मिथ्या भाव ही हैं। अच्छे इनसे विपरीत हैं जो कि इस ग्रन्थ में मैत्री आदि बल रूप से कहे गये हैं। पुनः दृष्टि या बुद्धि की शुद्धि और उत्तम संकल्प, वैर-विरोध से रहित मन के सब भाव बनाना। पापों को करने के भाव मन में न रखना; जगत् के सुख दिखाने वाले पदार्थ और सम्बन्ध को अन्त में न समाप्त होने वाले दुःख के कारण होने से उनसे निवृत्त (टला हुआ) होने के संकल्प आदि के भाव ही उत्तम हैं। ये सब मिथ्या भाव संसार में होने या संसार में ही बने रहने के भाव के कारण से ही होते हैं। श्रद्धा, ज्ञान, ध्यान

और विवेक रखने वाले के सब अच्छे भाव होने का भी अवकाश है।

जिस व्यक्ति की ध्यान दृष्टि खुल जाये उसे ध्यान में ये सब सत्य प्रकट भासेंगे। इसी को पद्य में 'तेज आँख' (प्रत्यक्ष ज्ञान को देने वाली) के नाम से कहा है। और जो इस ध्यान दृष्टि को उन्नत करने तक नहीं पहुँच सके उनकी मति संसार में ही खोयी रहेगी। इसलिये परे के छिपे सत्यों को वह मति पहचानने के अयोग्य होने से मन्द मति ही होगी। ऐसे मन्द मति रखने वाले पुरुष प्रत्यक्ष के अल्प सुख के लोभ से उत्तम कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ न हो सकेंगे प्रत्युत् (विपरीत इसके) संसार में ही रुले रहेंगे।

इस पद्य का निचोड़ पुनः यही हुआ कि मनुष्य को प्रातः सायं तथा सकल आयु भर बाहर जगत् को ही दृष्टि में रखकर तथा बाह्य जगत् में ही रुले-रुले रहकर जीवन नहीं बिता देना चाहिए वरन् (बल्कि) शाम-सवेरे सन्ध्या वन्दन के भी निमित्त बैठकर थोड़ा अपने कर्मों पर तथा मन के भावों पर विचार करना तथा उनका भविष्य में भला बुरा परिणाम (नतीजा) बुद्धि द्वारा निश्चय करने का भी नियम रख लेना चाहिए। वैसे ही पुनः कुछ समझ में पड़ने वाला खोटा भी टाल देने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार बुद्धि को चेतन करते रहने से एक दिन उत्तम मार्ग पर आरूढ़ होने का पूर्ण अवकाश भी प्राप्त हो सकता है।

धीरज धर सब कुछ लखे, और पहचाने खेल।
सुख दिखा दुःख रचत है, यह माया अनमेल।।

। २२६ ।

卐卐

अब इस पद्य में यह दर्शाया जा रहा है कि मनुष्य संसार के अल्प सुख के लोभ में न बहकर तथा आदत के सुखों को कुछ सीमा तक त्यागने से जो दुःख होता है, उसमें धैर्य न खोकर ध्यान की प्रवृत्ति बढ़ाता हुआ जीवन (सांसारिक जीवन) के सब सत्य को देखे अर्थात् पहचाने। यह भी पहचाने कि किस प्रकार ये बाह्य जगत् के सुख मिथ्या हैं; सुख दिखला कर केवल दुःख को ही रचते हैं। ऐसे राग-द्वेष आदि के बन्धनों में बांध देते हैं कि उनसे निकलने की इच्छा होते हुए भी मनुष्य ऐसा बन्ध जाता है कि उनसे निकल ही नहीं पाता। मनुष्य स्वयं ऐसा जाल फैला चुका होता है कि वह जाल ही अब पकड़ कर बैठ जाता है। समझता भी है कि सब व्यर्थ का जाल है परन्तु जीवन इस प्रकार रचा जा चुका होता है कि उससे निकलने की इच्छा भी डराती है। यही सब माया है। यह केवल एक व्यक्ति के साथ ही नहीं है प्रत्युत् व्यापक जीवन रूप कुल अर्थात् सब प्राणियों के साथ ही यह जुड़ रही है। संसार के सर्व जीवों की दृष्टि में तो यह संसार की माया संसार के सुख को झलकाती है परन्तु अन्त में देती है यह सभी को दुःख। दुःख की रचना का ही मार्ग है कि यह सुख के लोभ को दिखला कर जीव को भ्रमाती है। इसीलिये इसका नाम माया है। इसी माया को यदि दिनों दिन के जीवन में या संसार में कुछ समझना हो तो मनुष्य स्वयं एकान्त में ध्यान में बैठकर यूं विचार करे कि एक दूसरे के साथ व्यवहार में तो हम यूं अनुभव करते हैं कि 'यह मैं करता हूं', 'मैं सोचता हूं' या कि 'अमुक' (फलां) व्यक्ति ऐसा वैसा सोचता है या करता है। इन सब व्यवहारों

में हम एक दूसरे या अपने आप को उत्तरदायी (जिम्मेवार) समझते हैं। परन्तु जिस देह को हम 'मैं', 'तू', 'वह' या 'अमुक-अमुक' (फलां-फलां) नाम देकर पुकारते हैं, उन देहों में श्वास को कौन चलाता है ? रक्त का संचार, खाने का पाचन, अस्थि, माँस, चर्म आदि की रचना इत्यादि ये सब कौन करता है ? निद्रा में श्वास को कौन लेता व छोड़ता है ? हमें तो निद्रा में कोई होश ही नहीं, 'होश बिना हम ये सब काम करते हैं', ऐसा कहना बनता नहीं। हम तो वहीं तक अपना आपा समझते हैं जहाँ तक समझ या होश में रह कर कुछ करते हैं। परन्तु ऊपर कहे गये बहुत से कार्य हमारी होश के बिना कोई अन्य शक्ति ही क्षण-क्षण चेतती हुई, बदलती हुई करती जाती है और हमें उसकी कुछ खबर तक नहीं। दो सांड लड़ते हैं, मनुष्य भी आपस में कलह करते हुए कही सुनी करने में जो मन में आया बोलते रहते हैं, परन्तु उस समय वे देह के अन्दर के कार्य नहीं कर सकते; परन्तु खाना पचता रहता है; रक्त संचार होता रहता है; अस्थि (हड्डी), माँस, चर्म, जीव की अवस्था के अनुसार अपने ही परिवर्तनों (तबदीलियों) में लगे रहते हैं। कोई भी यन्त्र बिना किसी शक्ति के नहीं चलता; इसी प्रकार देह का यन्त्र भी चाहे वह मनुष्य का हो या किसी भी अन्य जीव का या इससे भी अधिक समझा जाये तो चाहे वह वनस्पति, घास, फूस की ही काया हो, इन सब को समय के अनुसार उत्पन्न करने, बढ़ाने और बढ़ा कर नष्ट करने वाली शक्ति अपने ही नियमों से, बिना पहचाने या सोच समझ में आने के भी अपने कार्य सब स्थानों पर करती ही रहती है। इतना ही

卐卐

नहीं, यह तो एक रूप में एक जीव में इसकी लीला या खेल दर्शाया गया। अब यदि संसार में या कुल रूप से व्यापक जीवन में इसकी लीला को पहचानें तो और भी विचित्र और आश्चर्यजनक प्रतीत होगी। जिस प्रकार गन्दे शरीर में कुछ प्रीति के भाव प्रकट करके शरीर की गन्दगी से भी घृणा नहीं होने देती; एक दूसरे के आमने सामने पड़ने पर क्या-क्या प्रीति, द्वेष, संशय, भय आदि के भावों को रच कर जीव को कैसे-कैसे कर्मों में डाल देती है; चाहे मनुष्य जैसा भी ज्ञानवान् जीव हो, उसे वह अपनी शक्ति से उल्टे मार्ग पर ही घसीटकर ले जाती है। इसे यदि निश्चय करना चाहें तो किसी रूप में भी यह निश्चय करने में नहीं आती। इसे न तो सत् (सदा बने रहने वाली) ही कह सकते हैं क्योंकि अभी कुछ पुनः थोड़ी ही देर में कुछ और हो जाती है। कहीं दीखती भी नहीं। परन्तु सब को चलाती है। इसे असत् भी नहीं कह सकते कि आकाश के फूल के समान इसका कहीं पता ही न लगे। और इसे सत् और असत् इन दोनों रूपों से होने वाली भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एक ही वस्तु सत् भी हो और उससे विरुद्ध असत् भी, यह असम्भव है। इस प्रकार यह शास्त्रों में 'अनिर्वचनीय' शब्द से कही गई है, जो कि किसी प्रकार से भी कही न जा सके। जिस का कोई निर्दोष लक्षण या पहचान का चिन्ह भी समझ में न पड़े; और जिसके कुछ भी होने में कोई प्रमाण भी न दिया जा सके, यही 'अनिर्वचनीय' शब्द का अर्थ है। यही भाव यहाँ वेदान्त शास्त्र का 'अनमेल' शब्द से व्यक्त किया गया है।

इसका तात्पर्य यह है कि इस माया की अधिक खोज करके उद्योगी और विवेकी पुरुष को इससे मुक्ति पाने का ही यत्न करना चाहिए। यह सब विश्व की शक्ति है। यही अविद्या रूप से जीव में बन्धनों की जननी है।

टारन को फिर धैर्य धर, इक-इक कर सब जान।
भले दुःख संग बसना पड़े, पर निश्चय सत्य पहचान।।
। २३० ।

गत पद्य (२२६) में माया के खेल को ध्यान द्वारा दुःख रूप पहचानने की वार्ता कही गयी थी। अब इस पद्य में उसी माया को दुःख रूप पहचान कर उसको धैर्य धारण करके त्यागने या टालने के ढंग से समझने का यत्न करने की युक्ति सुझाई गयी है। क्योंकि इस माया में ऐसी भी शक्ति है कि यह इसी में बने रहने के आकर्षण को भी रखती है। परन्तु मनुष्य को इसके अन्तिम दुःख को देखकर इतना धैर्य रखना है कि इसका सुख न खींच सके और पुनः उसी जाल में न बनाये रखे जिसमें कि जन्म से जीव पड़ रहा है। सत्य को पहचानने से जीव अपने को सही मार्ग पर प्रेरित करे; यद्यपि इस मार्ग पर आरम्भ में दुःख का अनुभव भी क्यों न हो, इत्यादि सब इस पद्य में चर्चित है (चर्चा में आया है)।

पद्यार्थ :- इस माया में जो भी बान्धने वाली शक्तियाँ या भाव हैं उन सब को अपने ध्यान में ऐसे समझे कि मनुष्य का मन उन सब आकर्षणों को तथा उनके सुख और सुख के बन्धनों को धैर्य धारण करके टालने का ही यत्न बनाये रखे। उनके सुख के लोभ या आकर्षण में न पड़े। एक-एक करके उनको ध्यान में लाये और उनका

卐卐卐

परिणाम दुःख देखकर उन्हें त्यागने की प्रेरणा प्राप्त करे। इसके लिये भले मनुष्य को थोड़ा दुःख को भी देखना पड़े; भले थोड़े दुःख के साथ भी जीवन में दिन व्यतीत करने पड़ें। यह साधन का दुःख कोई उतना बड़ा दुःख नहीं होगा जितना कि माया के चलाये मार्ग पर चलकर इसके अल्प सुख से बन्धने पर अन्त में होगा; उस समय उस दुःख से निकलने का मार्ग चलने में भी जीव अपने को असमर्थ पायेगा। इसलिये सामर्थ्य रहते-रहते ध्यान द्वारा बुद्धि प्रकट करके सब माया का खेल समझकर, सत् (असलीयत) पहचान कर सही रूप से अपने को चलाने की प्रेरणा पाये और मनुष्य जन्म सफल करे।

लम्बा जीवन डटा रहे, भली यह सत्य की राह।
चलता ही जन पहुँचता, पावे सत्य की थाह।।
। २३१ ।

गत पद्यों में जिस दुःख से मुक्ति पानी है, वह संसार में होने का दुःख दर्शाया गया; उसी दुःख का मूल (जड़) इस संसार मे होने की तृष्णा (भव तृष्णा) और पुनः इससे टलकर अज्ञान या अन्धकार में लीन होने की दूसरी तृष्णा (विभव तृष्णा) बतलायी गई। पुनः इसी तृष्णा के साथ रहने वाली अविद्या और उसी के संग रहने वाले मान, मोह, राग, द्वेषादि बन्धनों की स्थान-स्थान पर चर्चा की गई। पुनः इस सब तृष्णा की जड़ (मूल) को काटने वाले सत्य ज्ञान के बारे में भी, जितना कुछ उचित समझा, कहा गया। पुनः इस संसार के दुःख से मुक्ति (छुटकारा) पाने पर जिस आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप में स्थायी शान्ति

व सुख मिलता है, उसका भी निरूपण औचित्य के अनुसार कर दिया गया ।

अब आगे के (२३१-२३६) पद्यों में अपना लक्ष्य साधने के लिये जिस प्रकार से उद्योग बनाये रखना है और जैसी साधन मार्ग की लग्न रखनी है, उसकी प्रेरणा दी गई है।

पद्यार्थ :- जब से मनुष्य ने अपनी आत्मा में होने वाले शान्ति रूप आध्यात्मिक लक्ष्य {भौतिक लक्ष्य (सांसारिक सुख) से भिन्न} को पहचानना आरम्भ किया है और उसके लिये श्रद्धा रखकर उस लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग पर चलना आरम्भ किया है, तब से लेकर अब लम्बे जीवन तक इसी पर आरूढ़ होने का यत्न बनाये रखे। इसी मार्ग पर थोड़ा दुःख या क्लेश अनुभव में आने पर भी तथा कई एक प्रकार के विघ्न पड़ने पर भी इस आध्यात्मिक लक्ष्य और उसके मार्ग को त्यागे नहीं; प्रत्युत् अपने (विपरीत इसके) उसी मार्ग पर स्थिर रहे। इसी पद्य में कहा है कि 'डटा रहे', क्योंकि यह सत्य को पाने के लिये उत्तम है, या भला है। दूसरे क्षणिक सुख देने वाले फल या पुरस्कार (इनाम) तो केवल जीवन को मिथ्या प्रकार से व्यतीत करने के लिये ही हैं।

इस भलाई के मार्ग पर चलता हुआ ही मनुष्य अन्त में लक्ष्य स्थान पर पहुँचेगा। मार्ग में ही बैठ जाने वाला या मार्ग को त्यागने वाला, लक्ष्य स्थान पर नहीं पहुँचता। जब वह अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँच जायेगा तो अपने इष्ट (इच्छा की वस्तु) रूप सत्य तथा आनन्द रूप ब्रह्म को पायेगा।

जो भी स्थान पहुँचने के लिये निशाने में रखा है, वही लक्ष्य शब्द से कहा जाता है। मनुष्य का अपनी सब साधना द्वारा पाने का निशाना है 'सदा बना रहने वाला सुख और शान्ति', जो कि उसका अपना ही स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप तथा आनन्द रूप। इसी लक्ष्य (निशाने) को ध्यान में रखना चाहिये। सही साधना द्वारा मनुष्य अन्त में इसी को प्राप्त होगा।

पाछे को न सरकना, हटे तो जरूर पहचाने।
मन पुनः उत्तेजित करे, न अवसर खोये अनजाने।।
। २३२ ।

इस पद्य में भी साधन का उद्योग बनाये रखने की ही प्रेरणा है।

पद्यार्थ :- जैसे गत पद्य में कहा गया कि 'लम्बा जीवन डटा रहे', अब इस पद्य में यह बतलाया है कि 'पाछे को न सरकना, हटे तो जरूर पहचाने'। इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्य साधन के मार्ग पर चलने में विघ्न पड़ने पर भी पीछे की ओर नहीं हटना (सरकना) और यदि मन विघ्न पड़ने पर क्लेश, दुःख होने पर साधन मार्ग से ग्लानि भी करने के लिये उद्यत हो (उछले) तब भी स्मृति और मन की उपस्थिति रखते हुए उस साधन से हटने या टलने की दिशा में मन को सरकते अवश्य पहचान ले कि यह साधन से मुख फेरना चाहता है। ऐसी अवस्था में मन को पुनः उत्तेजित करे अर्थात् नीचे गिरते मन को विचार द्वारा थामे और ऊपर उठाये। साधन से गिरकर जहाँ यह मन सुख देखता है, उस सुख के बारे में जांच करे कि 'क्या यह मन चाहा सुख सदा बना रहेगा ?

कि एक दिन उल्टा दुःखों में ही डालकर रो-रो कर समय व्यतीत करवायेगा'? 'इस साधना के दुःख से कहीं अधिक दुःख में गिराने वाले सांसारिक सुख से तो साधना का दुःख ही भला है', ऐसा निश्चय करके मन को गिरा ही न रहने दे। और यह भी नहीं कि अनजाने में अवसर या मौका (उठने का मौका) ही खो दे और विघ्नों के क्लेश या दुःख उत्पन्न करने पर पुनः अपने पुराने आदतों के गिरावट के मार्ग पर ही चलने को तैयार हो जाये। ऐसी अवस्था में अपना ऊपर उठने का मार्ग रुक जाता है। गत पद्य और इस (२३२) पद्य का यह तात्पर्य है कि मनुष्य के बालक को जन्म से तो अपने सच्चे भले की खबर या ज्ञान है नहीं। क्योंकि तब तो उसमें इस देहादि को बढ़ाने वाली शक्तियों का ही राज्य था। यह राज्य जब तक देह और बच्चे का संसार का ज्ञान नये-नये प्रकार से बढ़ता जाता है, तब तक का ही है। ये लगभग शास्त्र के अनुसार ३३ वर्ष ही हैं। जो बच्चा आज, इस घड़ी या पल में है, वह कल या अगले घड़ी पल में नहीं है। वह प्राकृत नियमों के अनुसार देह में भी कुछ बढ़ गया और ज्ञान एवं अनुभव में भी; और इच्छा, यत्न और अपने इष्ट (इच्छा की वस्तु) को पाने के लिये कर्म करने की शक्ति में भी बढ़ गया। प्रत्येक क्षण अपने ही ढंग से बालक के लिये नयी-नयी प्रेरणा लाता है, परन्तु है यह प्रेरणा सांसारिक विषयों की ही, उनके सुख-दुःख की और उसी में यत्न करने के ज्ञान आदि की ही। इन ३३ वर्षों में तो कौन इस जीवन को पूर्ण रीति से जानेगा ? परन्तु इन ३३ करोड़ देवताओं के राज्य समाप्त होने पर अर्थात् उनका भोग (शरीर का भोग)

समाप्त हो जाने पर शरीर आगे बढ़ना रुक जाता है और मनुष्य पुराने ही भावों के अनुसार जीवन धारण करता है; और पुनः घटने या वृद्ध होने की ओर सरक जाता है। सीखने का या मुक्ति पाने का अधिक यत्न अब इन्हीं आगे के कुछ वर्षों में है। इन्हीं कुछ वर्षों में किया गया उद्योग ही कल्याण पाने में सफल होता है। इस जीवन में ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। अधिक आयु बढ़ जाने पर, रोग तथा शरीर की शक्ति क्षीण हो जाने पर पुनः साधना होनी सम्भव नहीं रहती। थोड़ा भी आदतों के विपरीत चलने पर शारीरिक कष्ट खड़े हो जाते हैं। इसलिये शरीर तथा इन्द्रिय और मन को साधने के लिये वैसे तो जब भी बुद्धि सम्भले, मनुष्य यत्न आरम्भ करे : परन्तु ३३ वर्ष की आयु हो जाने के पश्चात् प्रमादी (साधना में ढीला) न रहे। बहुत बुढ़ापे में तो केवल जीवन के दिन पूरे करने की ही थोड़ी बहुत शक्ति रह जाती है। साधना का समय तो शरीर में शक्ति रहने तक का ही है।

मिलेगा कब मत सोचिये; साधन अपना काम।
मन में इच्छा जो बसी, फिर राह चलना बेकाम।।
। २३३ ।

इस पद्य में भी वही और वैसी ही साधन में बने रहने की प्रेरणा है।

जब मनुष्य को अपने आदतों के मार्ग के सुख में अड़चन पड़ती अनुभव में आती है तो वह उस अड़चन या विघ्नों को दुःख रूप से संवेदित (महसूस) करता है और साधन मार्ग से टलने की सोचने लग जाता है। परन्तु उस पुराने आदत के मार्ग से बचकर परमार्थ लक्ष्य के मार्ग पर

चलना भी यदि मनुष्य को विवेक द्वारा आवश्यक प्रतीत होता है तब भी कई एक बार आदत का सुख बिगड़ने पर वह मनुष्य यह सोचने पर उतर आता है कि 'पता नहीं कब तक यह हमारा परमार्थ सुख रूप लक्ष्य सिद्ध होगा ? हमें कहाँ तक दुःख उठाना पड़ेगा ?' इत्यादि-इत्यादि।

इस सोच विचार में पड़ने वाले साधक पुरुष को यह चेतावनी है कि उसे वैसा कभी भी नहीं सोचना चाहिए। केवल साधन में जुड़े रहना चाहिए। केवल साधन में जुड़े रहने के लिये ही अपने आप को ज्ञान विवेक द्वारा प्रेरित करते रहना चाहिए। क्योंकि हमें मोक्ष मार्ग का साधन तब तक ही दुःख, क्लेश रूप से दृष्टि में पड़ता है जब तक कि हमारी भोग मार्ग की दुर्बलता दूर नहीं हो जाती। थोड़ा भोग या तृष्णा का मार्ग त्यागने से जो दुःख हमें अनुभव में आता है, उसे ज्ञान और धैर्य से सहन करना ही साधन है। यही दुःख में स्थिर रहने का धैर्य एक दिन संसार के बन्धनों से निकलने के लिये हमारा बल रूप सिद्ध होगा। अन्त में यह बल बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जायेगा कि अन्त में साधन मार्ग का चलना ही सुख रूप से प्रतीत होने लगेगा; तब आप उतना मोक्ष के लिये उतावले नहीं होंगे जितना कि साधन के साथ स्वस्थ और सुखकारी जीवन पाने में। इसलिये कब इष्ट मिलेगा ? इसका तो सोचना भी नहीं। यदि यही इच्छा 'कब वाली' उन्नत होती रही तो पुनः मार्ग पर चलना ठीक नहीं बनेगा, बेकार-सा ही होगा। क्योंकि मन तो उस इच्छा द्वारा साधन के दुःख से टलने की ही सोचता रहेगा और मन तो अपने साथ एक ही है;

पुनः ध्यान में कौन मन लगेगा ? कौन ज्ञान जगा पायेगा ? कौन धैर्य आदि का अभ्यास करेगा ? इन सब के लिये आदत्त के मार्ग को रोक कर ही चलना पड़ता है। उसका दुःख स्वीकार करना ही होगा। नहीं तो हम वैसा 'कब' वाला विचार रखते हुए उसी के लिये ही दुःखी होते रहेंगे। साधन के दुःख का सामना करने के अतिरिक्त केवल उससे बचने की इच्छा ही थामे रखेंगे और जहाँ इस दुःख से छुट्टी मिले, उसी निद्रा के समय या अन्य दूसरे कर्मों के समय की प्रतीक्षा में ही रहकर साधन के घण्टे भी व्यतीत कर देंगे। यह साधन कभी भी पूर्णता की ओर न बढ़ सकेगा। इससे लक्ष्य प्राप्ति भी नहीं होगी। इसलिये ऐसे विचारों को छोड़कर साधन में ही जुड़े रहना चाहिए।

जब साधन दुःख रूप से मन को परेशान करे तो यह खोज मन में जगाने के लिए उद्योगी पुरुष यत्न करे कि इस साधन के दुःख से बचकर पुनः 'मैं क्या करूँगा'? 'कहाँ सुख पाऊँगा'? यदि मन किसी को या किन्हीं दूसरों को संसार में यहाँ वहाँ लगे हुओं को सुख रूप से दिखलाये और सोचे कि 'मैं भी उसी मार्ग से सुखी होऊँगा', तो इसके बारे में थोड़ा स्थिरता से, ध्यान विचार में बैठकर खोज करे कि पहले 'मैं उन्हीं जनों के जीवन को टटोलूं जो उस संसार के मार्ग से सुखी दीखते हैं'। यदि आप उनके बाहर संसार में ऊपर के सुख की आशा वाले चित्र या नक्शे को ध्यान में खोजेंगे तो आप को प्रकट प्रतीत होगा कि वे सब सुख की आशा लिये-लिये एक दूसरे को संसार मार्ग में बहते देखकर ही अपनी कल्पना के सुख के चक्र में पड़े हुए हैं। सुख की तो केवल झूठी

आशा ही है। मिलता है केवल वैर, विरोध, न समाप्त होने वाला संघर्ष और अन्त में रोग, शोक, अनादर और पराधीनता इत्यादि का दुःख ही। ऐसा सब ध्यान तथा विचार में प्रकट झलकने पर मनुष्य अपने साधन मार्ग पर ही बना तथा बसा रहना चाहेगा और उसके दुःख को, कड़वी औषधि को खाने के दुःख के समान आराम से सहन कर लेगा और एक दिन अपने निशाने को वेध ही लेगा अर्थात् आत्मा में ही सदा के लिये आराम तथा सुख शान्ति पा लेगा।

जीवन साधन लक्ष्य है, दुःख में जीना आये।
दुःख टले सुख जो मिले, सो सुख आर्य को भाये।।

। २३४ ।

पूर्व पद्य के भाव को ही पूर्ण करता हुआ यह पद्य इस प्रकार प्रेरणा देता है कि सर्वोत्तम फल रूप में अपनी आत्मा में ही नित्य सुख शान्ति पाने वाले का लक्ष्य है, 'जीवन की साधना' या 'जीवन को लक्ष्य प्राप्ति के अनुकूल साधना'। पहला जीवन संसार में ही कुछ निम्न लक्ष्य को सामने रखकर उन्नत हो चुका होता है, उसी आदत में पड़ गया होता है। उधर चलना तो सरल, स्वाभाविक हो जाता है परन्तु उससे विपरीत उसी संसार से निकलने की दिशा में चलना पहले पहल दुःख रूप से अनुभव में आता है। कोई बात नहीं ! यदि मुक्ति का मार्ग प्रथम दुःख रूप में सामने आता है तो यह सदा दुःख रूप ही नहीं रहेगा। यह भी साधन द्वारा सधते-सधते एक दिन सरल, स्वाभाविक, बिना दुःख के भी प्रसन्नता के साथ चला जा सकेगा। जन्म पाकर बच्चा भी प्रथम दुःख और रोने के साथ ही जीवन के दुःख को सुख रूप में देखता है। केवल थोड़ा दुःख में जीने

की या जीवन धारण करने की शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता है। मनुष्य को यह देखना चाहिए कि संसार के भी उत्तम फल मेहनत (उद्योग) करने के दु:ख बिना प्राप्त नहीं होते। इसलिये मोक्ष मार्ग के दु:ख से भी मैं ग्लानि न करूँ और शनैः-शनैः दु:ख सहन करने के अभ्यास को डाल कर दु:ख में धैर्य रखना भी समझूँ। इस प्रकार दु:ख में धैर्य रखकर बसने पर और जीवन को स्मृति तथा मन की उपस्थिति और ज्ञान के साथ साधते रहने पर यही सधा हुआ जीवन हमें ऐसे परमपद रूप फल तक पहुँचा देगा जिससे कि हमें अन्त में मार्ग चलने का खेद और दु:ख भी प्रतीत न हो। सांसारिक जीवन की लम्बे समय की आदतों को जीतने के लिये लम्बा समय लगेगा। इस प्रकार दु:ख में सधा जीवन सब दु:ख को अपने ज्ञान में देखने का धैर्य रखकर उस दु:ख के कारण को भी समझने में सामर्थ्य लाभ कर सकेगा। यदि दु:ख से भागना ही हमने सीखा है, तो दु:ख को अध्ययन करके उसे अपने कारण सहित समझकर सदा के लिये कैसे टाला या त्यागा जा सकेगा। इसलिये दु:ख से भागना नहीं; दु:ख को अल्प मात्रा में तथा युक्ति-युक्त ढंग से सहन करते-करते ज्ञान और बल बढ़ाकर इस समूचे संसार के दु:ख से पार उतरना है।

इस दु:ख के बीतने पर या नष्ट होने पर जो सुख प्राप्त होगा, पूज्य (आर्य) जन को वही सुख उत्तम प्रकार का सूझता है; वही सही और सत्य, सुख रूप से भाता है और जो प्रकृति का है और केवल जन्म देने वाले देवों का ही है वह तो जीव मात्र को बाँधने वाला (पीड़ा देने वाला) तथा अन्त में दु:ख में ही पटकने वाला है।

ऐसे दुःख सब देख ले, और देख ले इसकी टाल।
टाल के सुख जो पा गया, सो नित्य मुक्त सुख भाल।।
। २३५ ।

गत चार पद्यों में साधना के लिये प्रेरणा दी गयी। "साधना" शब्द का अर्थ ही है कि, सिद्धि को अर्थात् जो अभी प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति का उद्योग करना, उस यत्न में स्थिर रहना। यह कभी भी सुख के साथ नहीं हो सकता; इसमें थोड़ा दुःख देखना ही पड़ता है। यहाँ सिद्धि तो इसी उद्देश्य की पूर्ति रूप है कि संसार में होने के दुःख का सदा के लिये अन्त कर देना; परन्तु जब तक इस दुःख रूपी रोग को कोई सही प्रकार से न समझ सका, अर्थात् इस रोग की जड़ (मूल) तक न पहुँचा, तो इसे पूर्ण रीति से त्यागने का बल और साधन कैसे जुटा सकेगा। थोड़े समय के लिये दुःख की टाल तो बाह्य पदार्थ और निद्रा भी कर देगी। परन्तु इतने से अपना मूल सहित दुःख तो समाप्त नहीं होगा। यदि दुःख के मूल (जड़) के बारे में हमें सही ज्ञान नहीं तो उसके मूल को हम उखाड़ कर पटक भी नहीं सकते। मूल (दुःख के मूल) का ज्ञान पाने के लिये प्रथम दुःख में मन स्थिर रखकर दुःख को देखने का धैर्य अपनाना पड़ेगा। एक ही दिन में दुःख की फैली हुई जड़ नहीं दीखेगी। दुःख से भागना और दुःख में रोकर किसी दूसरे से सहायता पाना तो बच्चे ने सीखा है; परन्तु दुःख का सामना करके इसे समझना वृद्धावस्था तक भी नहीं बन पाता। केवल बाह्य संसार के पदार्थों और प्राणियों का सहारा लेकर इसे थोड़े समय के लिये टालकर जीवन

卐卐
नौका धकेली जाती है। इसी दुःख में जीवन साधना का अभ्यास करना है।

इस समूचे दुःख की जड़ (मूल) को साधनारत (साधना में प्रीति से लगने वाला) पुरुष उन सब प्राणी और पदार्थों के त्यागने के दुःख से ही पहचानेगा। यदि वह थोड़े त्याग के दुःख में ही अधीर हो उठा तो सकल संसार के त्याग का दुःख कैसे पहचानेगा; पहचाने बिना पुनः कैसे उससे पार होगा। संसार ने तो एक दिन छूटना ही है। परन्तु यदि संसार छूटते समय हम इसका दुःख लेकर ही मरे तो स्वयं बुद्धि के साथ बसने वाला पुरुष समझेगा कि हमारी वहाँ क्या दशा होगी। इसे वह सब पदार्थों और प्राणियों के संग को शनैः-शनै लम्बे जीवन में त्याग कर अपनी ज्ञान दृष्टि में देख लेगा। यदि त्याग के दुःख को झेलते-झेलते उसे इतना बल मिल गया कि कोई बात ही नहीं, वह इन सब के बिना यहीं, इस जीवन काल में ही सुखी होकर देख चुका है। आत्मा में ही सुख पा चुका है। उसे किन्हीं भी अपने प्राणियों की अधीनता परेशान नहीं करती, न पदार्थों का संग ही अब त्यागने पर रोग रूप में बाधा पहुँचा रहा है, वरन् इनके बिना भी सब दुःखों से मुक्त है तो यह पुरुष मरने पर, संसार छूट जाने से दुःखी नहीं होगा। नहीं तो जैसे सोया हुआ प्राणी इस संसार से टलकर भी स्वप्न की सृष्टि देखता है, ऐसे ही मृत्यु द्वारा संसार से आँखें बन्द होने पर भी वही जीव का स्वप्नावस्था के समान बना रहने वाला स्वरूप पुनः वहीं कोई संसार जैसी अवस्था में दुःख पायेगा। मृत्यु हो जाने मात्र से संसार का दुःख नहीं छूट पायेगा, क्योंकि आत्मा नष्ट नहीं

होगी। जिसने केवल देहमात्र की आवश्यकता को छोड़कर शेष सब संसार के संगों को छोड़कर सुख पा लिया वह तो मरने पर देह की आवश्यकता भी न रहने से, पुनः केवल अपनी आत्मा में ही टिकाव का प्रतिक्षण नया-नया सुख अनुभव करेगा। उसे संसार का दुःख पुनः नहीं खींचेगा। इसी सब को भाव रूप से अपने में रखता हुआ यह पद्य यूं दर्शाता है कि :-

पद्यार्थ :- जैसे आपने छोटे मोटे संयम के, वस्तुओं या भोगों की वस्तुओं के त्याग के व खोटी, पापमयी और दुःखकारी प्रवृत्तियों के योग के दुःखों को अपने में धैर्य रखकर लम्बे जीवन के समय में देखना सीखा, वैसे ही सारे संसार के त्याग के दुःख को अपनी आत्मा में प्रत्यक्ष अपनी ज्ञान दृष्टि द्वारा ध्यान में और एकान्त में देख ले। पुनः उस दुःख को बुद्धिपूर्वक सहन करते-करते दर्शन को जाग्रत रखकर उसका त्याग या टाल भी देखे। दुःख की टाल या त्याग कारण के त्याग सहित ही होगा, तब जो सुख कोई पायेगा वही सुख सदा बने रहने वाली मुक्ति का है। "ऐसे दुःख सब देख ले", इस पद्य के इस चरण का यह तात्पर्य है कि जैसे साधन के दुःख को स्वयं अपने मन से स्वीकार करके (अपना करके) देख लिया उसी प्रकार क्रम से शरीर की आवश्यकता को छोड़कर सब प्रकार से होने के सुखों को एक-एक करके छोड़ने के दुःख को साधन रूप से अपना कर इसका अनुभव करे। उस दुःख पर ही दृष्टि स्थिर करे। पुनः प्राणियों की व्यर्थ की संगत या आवश्यकता से अधिक संगत या संग त्याग कर अकेलेपन का दुःख भी देखे, देखना सीखे, इस दुःख में

आसन पर बैठकर दृष्टि जमाये। इसके साथ समय व्यतीत करे। जैसे कि अन्य दुःख, सर्दी-गर्मी का, रोग, चोट-जले आदि का मनुष्य देखता ही है। परन्तु वह मन से खोया हुआ; उस दुःख से घृणा करता हुआ; उससे विपरीत सुख की कामना रखता हुआ ही दुःख भोगता है। परन्तु तब भी दुःख का संग तो उसे भी करना ही पड़ता है। परन्तु साधक पुरुष को सब प्रकार के त्याग से होने वाले दुःख में खोकर नहीं; परन्तु उसकी स्मृति रखते हुए उसे समझने के लिए मन को सम्मुख उपस्थित रखना है। उस दुःख में मन जोड़ कर कुछ समय व्यतीत करना; यही उसका उद्योग है। उस सब त्याग के दुःख को सम्मुख रखकर यदि समझने की शक्ति रूप से बुद्धि जाग गई, और उस दुःख का कारण भी समझने लग गई तो जानो ज्ञान नेत्र खुल गया। एकान्त में वही मन नहीं लगता जो कि संग में रम रहा था। संग के सुख में अपनी 'मैं' बनाये बैठा था; उसी की याद राग रूप से करता हुआ मन एकान्त सेवी पुरुष को प्रत्यक्ष दीखने में आयेगा, यही मन दुःखी होता हुआ दीखेगा, तो पुनः इस दुःख की जड़ (मूल) उस संग के सुख की तृष्णा ही तो हुई। इस प्रकार अपनी बुद्धि में प्रत्यक्ष देखता हुआ साधक पुरुष उस संग के त्याग के दुःख को बड़े धैर्य से उत्साह के साथ देखने में आसन पर स्थिर रहेगा। तब वह देखेगा कि उस संग के सब सुख के त्याग का दुःख केवल देखते-देखते नष्ट भी हो जाता है। यही विद्या मिली। दुःख नष्ट होने पर आत्मा में सुख और शान्ति भी प्राप्त होती है। परन्तु यह संग त्याग का दुःख तब तक ही मन में बना रहेगा जब तक कि संग के सुख को पाने

का भाव या कामना बनी रहेगी। यही उस सुख की तृष्णा बैठी हुई है। 'यह तृष्णा तो सदा के लिये कभी भी पूरी नहीं हो सकती', ऐसा ज्ञान में समझकर, इसे दुःख की जड़ समझकर पुनः संग का सुख लेने का मन छूट जाये तो उसका दुःख भी नष्ट हो जायेगा। परन्तु इतना अपने ज्ञान के नेत्र द्वारा सत्य साक्षात्कार अवश्य करना पड़ेगा कि संग सुख की तृष्णा चाहे वह संसार के प्राणियों की है या पदार्थों की; वह एक जैसी सदा पूरी नहीं की जा सकती। दूसरे यह उत्तरोत्तर (आगे से आगे) बढ़ती ही जाती है। पुनः बढ़ी हुई तृष्णा एक ऐसी विद्युत शक्ति जैसी है कि यह मन में बहती हुई बार-बार मन को बाहर संसार में ही अपने विषयों की याद में भटकाती रहती है। मन इसी के कारण कभी इस विषय को; कभी उस विषय को याद करता रहता है; परन्तु समय या अवस्था के बदलते रहने से इनको पाने का समय यदि एक का भी नहीं रहा तो इस बाहर भटकते मन के कारण श्वास-प्रश्वास की गति को भी जीव सही प्रकार से नहीं कर पाता। इसी से शरीर में टूटने-फूटने जैसा दुःख उत्पन्न होता है और जीव पुनः निद्रा में जाना चाहता है। भव तृष्णा (संसार में भटकता मन) पुनः-पुनः हृदय आदि अंगों के कार्य को भी सुचारु रीति से चलाने में अड़चन पैदा करती है। ऐसी अवस्था में निद्रा भी सही ढंग से अपनी चाह के अनुसार नहीं आती। सोना तो चाहता है; सोना मीठा भी लगता है; इसलिये इसकी भी तृष्णा (विभव तृष्णा), भव तृष्णा (संसार में बने रहने की खींच) जैसी ही अपना निद्रा आदि का सुख पाने के लिये सदा मन में बसी रहती है। परन्तु जैसे संसार की बढ़ी हुई तृष्णा अधूरी ही

रहती है, पूरा करने की सदा योग्यता भी नहीं रहती; वैसे ही जितना नींद का सुख मनुष्य चाहता है; उतनी यह तृष्णा भी बढ़ चुकी होती है, उतनी यह पूरी करने की योग्यता एक दिन नहीं रखती। मनुष्य शय्या पर पासे पटकता, बदलता रहता है, नींद आ रही है, नींद मीठी लगती है, परन्तु मन सोने नहीं देता-वह कानों से शब्द सुनने लगे; कोई मन में बाहर की (भव तृष्णा) तृष्णा का विचार या भाव बना दे; कहीं बिछुड़े सुख का शोक (अफसोस) कर रहा है, इत्यादि सब रागादि बन्धनों द्वारा दुःख में ही मनुष्य को मन बुरी प्रकार से उलझाये रखता है। मनुष्य इस तृष्णा के अधूरा रहने से भी संसार में चिड़चिड़ा बन जाता है। इस सब बढ़ी तृष्णा की दुर्गति को पहचान कर उद्योगी पुरुष सारी (दोनों प्रकार की) तृष्णा के त्याग के दुःख को भी हटा कर तथा जीत कर अपनी आत्मा में ही शान्त होता है।

विषय सुख, आया, गया, फिर-फिर इच्छा कराये।
सदैव बना तो क्या रहे, चञ्चल मन दुःख पाये।।
। २३६ ।

इस पद्य का भावार्थ भी पूर्व पद्य के व्याख्यान में आ ही गया है कि :-

पद्यार्थ :- जो संसार के विषयों का सुख है वह आने जाने वाला है अर्थात् कुछ समय तक तो रहेगा परन्तु सदा बना रहने वाला नहीं है। इसलिये पुनः-पुनः विषयों में इच्छा को उत्पन्न करता है। सदैव (सदा) के लिये तो यह सुख क्या ही बना रहेगा। क्योंकि यह देश, काल तथा व्यक्तियों की पराधीनता वाला है। ये सदा एक जैसे कभी भी नहीं

मिलते; आयु बदलने पर, सुख देने वाले व्यक्तियों का संग छूटने पर, वैसे ही अन्य देश को प्राप्त होने पर यह सब बाह्य सुख एक जैसे कभी भी नहीं मिल सकते। सुख मिलने की समय के अनुसार, योग्यता भी तो नहीं रहती। परन्तु सुख की ओर मन को सदा चञ्चल रखने वाली तृष्णा की बीमारी तो बहुत बढ़ जाती है। उससे उन्हीं सुखों की बार-बार तीव्र इच्छायें होती हैं। इनसे चञ्चल हुआ मन उनकी ओर ही भागता रहता है; उनकी याद मन से नहीं उतरती; उन्हीं के पाने का समय रोगादि के कारण अथवा वृद्धावस्थादि के कारण न रहने से उनका सेवन तो हो नहीं पाता परन्तु इच्छा अग्नि के समान जलाती रहती है। क्योंकि सांसारिक ढंग से ही जीवन धारण करने वाले जन द्वारा इच्छा या तृष्णा को दुःख रूप समझकर त्यागने का कभी विचार तक भी नहीं किया गया, त्यागने का यत्न या साधन तो क्या ही करना था।

इस सब का तात्पर्य यह है कि इच्छा उत्पन्न होकर या तो पूरी हो जाये, या अपना विषय पा जाये तो अल्प (थोड़ा) सुख करेगी। यदि पूरी न हुई तो अग्नि के समान जलाती रहेगी; क्रोध लायेगी; चिड़चिड़ापन उत्पन्न करेगी। दूसरों में जीवन भी अनादर का ही रचेगी। यही सब संसार का स्वभाव है। इसी सब भाव को अपने में रखते हुए पद्य का चौथा चरण यह दर्शाता है कि 'चञ्चल मन दुःख पाये', अर्थात् सांसारिक इच्छाओं वाला चञ्चल मन केवल दुःख ही पाता है।

जिसने इन मिथ्या इच्छाओं को पूर्व पद्य में दर्शाये गये मार्ग के अनुसार पहले से ही अधूरा रखने का दुःख देखने का

अभ्यास कर लिया और मन और बुद्धि को जाग्रत करके इनके त्याग के दुःख को सहन करके बल प्राप्त करके एक-एक करके सब संसार के सुख और उनकी सामग्री के बिछोड़े का दुःख भी देखते-देखते अन्त में टाल कर आत्मा में ही शान्ति पा ली, वही जन सदा के लिये संसार बन्धन से छूटकर सब दुःखों का अन्त कर सका। यदि यह साधन का मार्ग किसी से नहीं अपनाया गया तो वह केवल इन्हीं व्यर्थ की मिथ्या इच्छाओं का दास बना रहकर अपने सांसारिक जीवन को कई एक दुःखों के साथ ही व्यतीत करेगा। ऐसे मनुष्य का शरीर रोगी, मन दुःखी और शोक युक्त होगा और यह मनुष्य अपने ऐसे स्वभाव के कारण दूसरों की घृणा का पात्र और अन्त में मृत्यु और दुर्गति को प्राप्त होगा।

इसी सब भाव को रखते हुए दोनों (२३५-२३६) पद्यों में बतलाया गया है कि जैसे प्रथम पापों के त्याग के दुःख को अपनाया; पुनः अपनी इच्छाओं को सीमित करने के दुःख को अपनाया गया, वैसे ही शनैः-शनैः आवश्यकता से अतिरिक्त सब संग के सुख को त्याग कर उसके सब दुःख को उद्योगी पुरुष देख ले। अपने एकान्त के स्थिर आसन पर पुनः बिना तृष्णा के विषयों को दिये उनकी तृष्णा के टालने के दुःख को भी देख ले। तृष्णा के सब बन्धन राग, द्वेष, मोह और तृष्णा की पूर्ति में प्राप्त होने वाले "मैं भाव" रूप मान रूप बन्धन को भी पचा (हज़म कर) ले। पुनः यही तृष्णा अविद्या की दशा में अन्धकार बन कर बैठी रहती है तथा मन का निद्रा जैसा या केवल अन्धा झुकाव तृष्णा के सुख के पदार्थों को ही जानने के लिये लपका रहता

है और अन्य ज्ञान, ध्यान तथा सत्य की खोज की दिशा में जाने के विपरीत रहता है। यही अविद्या का बल है। यही अविद्या का तत्त्व ज्ञान दृष्टि वाला जन देखते-देखते टाल दे। इस प्रकार सब दुःख अपनी जड़ के साथ टलने पर जो सुख मिलेगा वही सदा बने रहने वाला मुक्ति का सुख है। तृष्णा बनी रहने का दुःख तो उद्योगी पुरुष को प्रत्यक्ष ही अपने ध्यान में सूझ जायेगा। उस तृष्णा के सुख से मन स्वयं निराश होकर विरक्त हो जायेगा। चाहे वह संसार की तृष्णा (भव तृष्णा) हो या संसार से टलकर अस्थाई सुख पाने की विभव तृष्णा हो। यही इस (२३५) पद्य का भावार्थ है।

इस आध्यात्मिक उद्देश्य को छोड़कर केवल सांसारिक सुख में भाव बनाये रखने के दुःख को अगले (२३६) पद्य में दर्शाया गया है, जिसमें उस सुख की हानियां और सदा पूर्ण करने की अयोग्यता आदि दोष भी दर्शाये गये हैं। इसलिये इसमें सदा मन रखने का तात्पर्य है कि बुद्धि प्रधान मनुष्य भी अपने जन्म को व्यर्थ में प्रकृति के मार्ग पर चला कर अपना ही भला साधने के अवसर को खो रहा है।

यह सब '२३५' तथा वैसे ही '२३६' पद्य का भाव प्रेरणा के रूप में निरूपण किया गया कि मनुष्य अपने साधन के मार्ग को समझ कर स्वयं अपने को इस मार्ग पर चलने के लिये तैयार करे।

(१६६-२३६)यह सब दार्शनिक प्रकरण का वर्ग था। इसमें सारे प्रकरण के भाव का तात्पर्य सूचित किया है।

ॐ इति सर्व तृष्णा निरोध वर्ग ॐ

卐卐

卐 अथ विवेक, वैराग्य वर्ग 卐

जैसे आज मीठा आत्मा का प्यार,
आये दिनों कहीं भटक न जाये।
हो यूँ आज से ही वैसे ही त्यार;
या से सब दिन वैसा मुझे भाये।। । २३७ ।

इस पद्य से पूर्व अध्यात्म विज्ञान या अध्यात्म दर्शन (अपने आप में दृष्टि खोलना) का प्रसंग था जो कि कई एक पद्यों में विस्तार से कहा गया। अब इस पद्य में यह दर्शाया गया है कि अध्यात्म विज्ञान की आवश्यकता सब के लिये है, इसलिये इसी उद्देश्य के लिये मनुष्य को अपने आप को शीघ्र ही सम्भाल कर चलने के लिये तैयार करना चाहिए। यह सम्भल कर चलना अपने आप बनने वाला नहीं है; यह जानते हुए भी कि वैसा आदत का संसार में चलना हानिकारक होता जा रहा है तब भी पूर्व के चले के संस्कार या वासनाएं अपना इतना बल रखती हैं कि वह मनुष्य की बुद्धि या ज्ञान पर पर्दा डालकर तथा मन में विपरीत उत्तेजनायें (जोश) उत्पन्न करके उसी दुःख के या मनुष्य की हानि के मार्ग पर ही घसीट कर ले जाती हैं। इसी भाव को मन में रखते हुए चेतावनी के रूप में 'मनुष्य को जीवन बनाने में या चलाने में सावधानी बरतनी चाहिए', यही इस पद्य का भाव है। प्रकृति, का या आदतों का बल सांसारिक उद्देश्य को मन में रखने वाले मनुष्य को ही बांधता है। इस बल को समझकर ही मनुष्य को धर्म मार्ग पर चलने का निश्चय करना चाहिये। जैसा जीवन जीना है उसे यत्न से

ध्यान से सुनकर जाने, समझे और वैसा ही चलने के लिये उद्योग रखे।

पद्यार्थ :- जैसा कि संसार में जन्म ग्रहण के पश्चात् धीरे-धीरे मनुष्य ने संसार में होने की मिठास पहचानी, उसे अब उस मिठास के लोभ से इसी में सदा बने रहने की इच्छा बनी रहती है। संसार में मिठास के साथ जो अपना आप रूप (आत्मा) भी अच्छा लगा है वह संसार वाला 'मैं भाव' भी कुछ दिन के लिये ही मीठा रहेगा। वह सदा मीठा रहने वाला नहीं। जब खाने पीने अच्छे लगते हैं; अच्छे पचने (हज़म होने) में आते हैं; शरीर में बल, स्फूर्ति है, मनुष्य अपने आप में सामर्थ्य रखता है; तभी तक संसार की या संसार में उस समय की 'मैं' या 'मैं भाव' भी मीठा लगता है। इस 'मैं' को लेकर मनुष्य खूब प्रसन्नता और उत्साह के साथ इसमें आगे से आगे इसके सुखों के लिये यत्नशील होता रहता है।

परन्तु आगे के आने वाले दिनों में जबकि शरीर शनैः-शनैः अपना बल समय पाकर खोने लगा तो इसी के सुख, रोग और बलहीनता करते हुए मित्र तो रहेंगे नहीं और उनके संग वाली अब उस सुख की या सुख वाली 'मैं' (आत्मा) भी पुनः नहीं मिलेगी। वह तो सुख के कारण ही उछलती थी कि 'मैं ऐसा'; 'मैं वैसा सुखी हूँ', और उसी का इसे (इस जन को) बाहर दूसरों में मान था। जब वह पहले वाला सुख ही नहीं मिला तो वह 'अस्मिमान्' अर्थात् 'मैं भाव' भी अब कहने के लिये नहीं रहेगा। अब जो रोने वाली 'मैं' है उसको तो कोई रखना भी नहीं

चाहेगा। परन्तु पहली सुख वाली 'मैं' तो भटक गई। अब शनैः-शनैः केवल स्मृति ही शेष (याद आने योग्य) रहेगी। उसी को याद करते-करते ही साधारण जन मरता है और पुनः इसी संसार चक्र में पड़ता है।

परन्तु विवेकी, श्रद्धालु पुरुष के लिये ऐसा सुझाव दिया गया है कि वह अपने आप को समय रहते-रहते (पहले से ही) इस प्रकार तैयार करे कि जैसे उसका वह प्यारा आत्मा उसे दुःख रूप में नहीं परन्तु वैसे ही आनन्द, सुख शान्ति के स्वरूप में ही मिले जैसा कि विषयों के संग से पहले पहल कभी भी सुख रूप में मिला था।

इसके लिये उसे अपने जीवन को, श्रद्धा रखकर जानना; दूसरे ज्ञानवान् पुरुषों से तथा वैसे ही धर्म ग्रन्थों से पढ़कर अपने आपको महापुरुषों द्वारा चले मार्ग पर ही चलाने का यत्न करना इत्यादि-इत्यादि द्वारा अपने को पहले से ही सदैव काल के लिये आत्मा का प्यार पाने के लिये तैयार करना है।

सांसारिक सुख वाली 'मैं' या 'आत्मा' (अपना आप) तो सदा सुख रूप से बना नहीं रहेगा। परन्तु नित्य ज्ञान रूप, साधन के साथ दुःख-सुख सम करके सब बन्धनों से परे जो आत्मा प्राप्त होगी वह सदा मिली रहेगी। निद्रा आदि के बन्धन से भी परे और उसके भी सुख से जो मोहित नहीं, ऐसे व्यक्ति को ही केवल ज्ञान मात्र की 'मैं' या 'आत्मा' प्राप्त होगी। वह सदा ही प्यारी या प्रिय ही भासेगी।

चाह वस्तु में है; इच्छा उसमें भटक रही है; जब वह

卐卐

न मिले तो दुःख है। जब उसकी इच्छा ही समाप्त हो गई तो दुःख भी गया और केवल ज्ञान रूप आत्मा ही प्यारा है, वही सुख स्वरूप से प्रकट भासेगा। उसमें सदा के लिये मन विश्राम पायेगा। यही सुख स्वरूप आत्मा सब दिन, अर्थात् सर्वकाल के लिये एक रस, आनन्द रूप ही भायेगा। विषयों के सुख वाला, उस सुख का 'मैं' रूप आत्मा तो आगे आने वाले समय में भटक ही जायेगा; तब मनुष्य हाथ ही मलता मरेगा और पुनः संसार में ही होने का नाटक रचेगा।

मति और स्मृति से जो करे परिहार,
मन में उजाला रहे, दे अनर्थ टार।
बिना तथाकथित, चाहे वारो बारम्बार;
जन्म बिना छोड़े नहीं मार-मार कार।।

। २३८ ।

गत पद्य में कहा गया कि बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से आपको जो आत्मा मिठास के साथ अनुभव में आया है वह बाहर की मिठास के साथ सदा अनुभव में नहीं आयेगा। इसलिये बाह्य जगत् के सम्बन्ध बिना भी अपने में जो सुख स्वरूप से, बन्धनों के त्याग से अनुभव में आयेगा उस आत्मा के साक्षात्कार का, समय और बल रहते, पाने का यत्न करना चाहिए।

अब यह पद्य दर्शा रहा है कि आत्मा को केवल अपने आप में आनन्द स्वरूप से अनुभव करने के लिये, जो इसके आनन्द को ढांकने वाला जगत् का सम्बन्ध है, चाहे वह कितनी भी सूक्ष्मता (बारीकी) तक छाया हुआ हो, उसे

अनर्थ (प्रयोजन की सिद्धि में बाधक) रूप समझकर परिहृत (टाला हुआ या त्यागा हुआ) कर देना चाहिये। परन्तु यह परिहार (अपने से पूर्ण रूप से त्याग) मति और स्मृति के साथ होना चाहिये। मति और स्मृति रूप उजाले या प्रकाश में ही यह सही रूप से त्यागा या टाला जा सकेगा। नहीं तो केवल त्याग मात्र, बिना त्याग का कारण या त्यागने की युक्ति रूप मति के, सही रूप में त्याग नहीं हो सकेगा। इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि मनुष्य अपने आप में विचार जगाकर यह समझने का प्रयास करे कि 'जगत् या विषयों के सुख को क्यों त्यागना है ?' 'ये सब हमारा क्या बुरा करते हैं, जिससे कि हमें इनसे मुक्ति पानी है ?' यही सब त्यागने का कारण या त्यागने के लिये युक्ति होगी। यह त्याग प्रयोजन वाला होने से मन को स्वयं ही इन सब दुःखों के कारण अर्थात् विषयों के सुख को त्यागने के लिये प्रेरित करेगा। मति नाम बुद्धि का ही है। बुद्धि ज्ञान को ही कहते हैं, ज्ञानपूर्वक त्याग ही ठीक है। जैसे कि यदि कोई समझे कि अमुक (फ़लां) वस्तु त्यागे बिना मुझे स्वास्थ्य लाभ नहीं होगा; और विपरीत इसके यदि वह अपने ज्ञान में यह देख ले कि उस त्यागने योग्य वस्तु के साथ मेरा रोग अधिक ही दुःखदायी होता जा रहा है, तो वह व्यक्ति इसी ज्ञान रूप मति को रखकर दुःखपूर्वक भी उस वस्तु को त्यागने के लिये प्रेरित तथा तत्पर हो जायेगा। उसी प्रकार स्मृति और मन की उपस्थिति रखकर ही अनर्थ का सही रूप से त्याग हो सकेगा। यदि स्मृति न रखी जा सकी तो अनर्थ और भी

बढ़ेगा; मिथ्या कर्म और पाप होने भी सम्भव हैं। स्मृति तथा मन की उपस्थिति का विशेष भाव यह है कि जैसे किसी भी प्राणी में सुख के कारण या दुःख के कारण कुछ भी झटपट कर बैठने की उत्तेजना या जोश खड़ा होकर उससे कुछ ऐसा कर्म भी करवा जाता है कि जिसके लिये उसे जीवन भर दुःखी होना पड़े। और वह प्राणी विचार या बुद्धि रखते हुए भी उस समय अन्धा सा हुआ वह मिथ्या कर्म कर ही जाता है। ऐसी अवस्था में समय की उत्तेजना के बल को मनुष्य की टिकी हुई स्मृति की शक्ति या मन की उपस्थिति (हाज़री) ही सम्भाल सकती है। मनुष्य की याद ठिकाने रहना ही 'स्मृति' शब्द का यहाँ तात्पर्य है। पहले जो कुछ अनुभव किया है, वह कहीं भूला न रहे। भूला रहने पर ही पुनः मिथ्या कर्म होगा। पहले देखा हुआ दुःख भी स्मृति (याद) में रहना चाहिए और पुनः सम्भलने की भी स्मृति या याद बनी रहनी चाहिए। यही स्मृति शब्द का तात्पर्य है।

मान लो कि यदि आपने कई एक मिथ्या भोगों को त्यागा, और आवश्यकता से अधिक निद्रा को भी त्यागने का साहस किया तो इससे यह मत समझो कि आपका वह त्याग पूर्ण हो गया (सिरे चढ़ गया)। हो सकता है या अधिक सम्भव है कि आपका वह त्याग आपको दुःखी कर रहा हो, क्योंकि जिन अभ्यासों से, कर्मों से वा विषय संग से आपको कभी भी सुख हुआ है और उसी सुख के लोभ से ही वे सब चलते जा रहे थे, अब वे सब अपने आप ही रुक जायेंगे। सुख में जीव का राग (प्रीति) होना या मोह

होना स्वाभाविक है। प्रीति का सुख न मिले तो उससे मन दुःखी रहेगा। दुःखी मन में वैसे ही दुःख के भाव भी बनेंगे। दौर्मनस्य (मन बुरा-सा रहना), सुख न मिलने का खेद, दूसरों को वैसे सुख लेते देखकर अपने मन का अपने आप को उनसे बिना समझते हुए अपने में हीन, दीन भाव का अनुभव होना; थोड़ी-थोड़ी बात पर क्रोध आ जाना; ऐसे ही आदत के सुख खोये जाने के कारण से मन का झट उद्वेग (जोश), क्रोध, चिढ़ आदि की अवस्था में प्रकट होना, इससे पुनः दूसरों में कुछ की कुछ मिथ्या दृष्टि होना, उनके दोषों में मन जाना; उनके दोष ही ऊहन (खोज कर देखना) करना; पुनः उस मिथ्या दृष्टि को मन में रखते हुए उन दूसरों से सही बर्ताव भी न हो सकना इत्यादि-इत्यादि अनगिनत ऐसे दोष हैं जो स्मृतिहीन या मन की उपस्थिति बिना संसार में घूमने या विहरने (जीवन चलाने) वाले के ऊपर केवल आदत के सुख त्यागे जाने पर लद सकते हैं। इसी स्मृति को रखने पर, जब ये दोष खड़े हों तभी पहचाने जायेंगे। त्यागने का यत्न बनाये रखकर ही सभी कर्म किए जाने का यत्न रखा जाएगा और बजाए दूसरों में सब ऊपर कही मिथ्या दृष्टि, मिथ्या भाव रचने के मैत्री आदि बल की उसी समय ही दृष्टि बनाकर यही सब उत्तम भाव अभ्यास में लाये जायेंगे।

इसी प्रकार किसी दिन अधिक निद्रा त्याग से या निद्रा के चूक जाने से, या न आने पर जब निद्रा के सुख का लोभी मन दुःखी होगा; दुर्मन (खोटे मन वाला) होगा, तो उसका मन बाहर सब कर्मों में खिन्न तथा दुःखी ही होगा।

वह कोई भी कर्म बिना स्मृति या मन की उपस्थिति के भली प्रकार से करने के योग्य भी नहीं होगा। पांव रखना या धरना चाहेगा कहीं; पड़ेगा कहीं; दूसरे ही स्थान पर बात बोलना चाहे कुछ, और मुख से निकलेगी कुछ और ही; मन के भाव भी दूसरे के प्रति और के और ही होने पर बाहर सामाजिक या पारिवारिक जीवन में भी वह बहुत सफल नहीं रह सकता। इस जन के लिए त्याग एक रोग के समान ही होगा। अन्त में वह इस त्याग के व्रत को छोड़ भी देगा और उसी संसार के मार्ग को ही भला समझेगा, चाहे कल्याण के लिए पुनः अपनी श्रद्धा या आस्था में कुछ और ही विश्वास की वस्तु मन में बसा ले परन्तु प्रत्यक्ष के त्याग मार्ग से वह टल जायेगा। इसलिये स्मृति और मति दोनों की ही आवश्यकता को अनुभव करके, दोनों को ही यत्नपूर्वक बनाये रखकर संसार में जीवन नौका को चलाने से, इसी जन्म में भी मुक्ति का अनुभव हो सकता है।

जैसा कि मति और स्मृति पूर्वक ही त्याग करने को बतलाया गया, वैसा न करके केवल भोगों का समय न रहने से या केवल थोड़ा सुने सुनाये या शास्त्र में पढ़ने से, या अन्य आदर मान के कारण से या श्रद्धा से भी भोगों का त्याग करने पर, ज्ञान या मति को जगाये बिना त्याग को बनाये रखने की यदि आप सोचेंगे तो सांसारिक 'काम' जो कि जीव को संसार में ही बनाये रखना चाहता है, वह आपको कभी भी नहीं छोड़ेगा और संसार में ही मार-मार कर जन्मायेगा। जन्माने पर जो कुछ उसने आप

से कार करवाई है वही आपके कर्म रूप से पुनः जन्म देगी; पुनः मारेगी। 'कार' शब्द का यहाँ यही अर्थ समझना कि जैसे भी सांसारिक काम ने अपना सुख पाने के लिए आपको चलाया; आप से जो कुछ भी करवाया वही सब आपने उसकी 'कार' की, यही कर्म हुआ, यही पुनः जन्म देगा। क्योंकि जो जगत् का काम है, वह जन्म से ही जीव में प्रवेश कर जाता है। वही संसार में सर्वत्र अपना बोलबाला रखता है। हर एक जीव इस-उस प्राणी में वही संसार का काम आराम के साथ हंसी खेल में खुशी-खुशी पूरा होता हुआ देख कर अपने में भी धारण करता है। उसी के निमित्त सांसारिक सुख और सुख साधनों के लिए ही दिन रात एक करता है। यही सब जगत् में बनाये रखने वाले काम (मार) की कार है जो कि कई एक पाप और पुण्य के रूप में जीवों में संस्कार या वासना रूप से टिकी बैठी है। इस कार में भी संसार में बने रहने का प्रयोजन या निमित्त सुख को पाने और दुःख से बचने के संस्कार बने बैठे हैं। यदि आप जगत् में त्यागने का कारण जगत् के दुःख को अपनी ज्ञान रूप मति में बैठा सके तो काम या मार का संसार में बनाए रखने का हेतु थोथा सिद्ध हो जाएगा। यदि आप उस सत्य ज्ञान को नहीं रखते तो उसी पुराने सांसारिक सुख के संस्कार जाग कर और त्याग के जीवन का प्रत्यक्ष या किंचित् दुःख दिखाकर पुराने मिथ्या सांसारिक सुख और उसी के निमित्त संसार में ही होने का भाव बनाए रखेंगे। यही 'भव' नाम से कहा जाता है जो कि संसार में होने का भाव है; और यदि

आपकी स्मृति भी न रह सकी तो समय-समय पर पुराने संस्कार स्फुरित होकर तब भी अपनी ही मिठास दिखाकर आपको बांधेंगे और आदतों को पूरा करने के मार्ग पर ही खींचेंगे। इसलिए मति और स्मृति के उजाले में ही चलकर सारा अनर्थ टालने का यत्न करना होगा, न कि इनकी भक्ति बिना अन्धकार में रह कर, केवल समय के अनुसार भोगों के अयोग्य हो कर तथा केवल थोड़ी सुनी-सुनाई श्रद्धा से ही भोगों को त्यागना।

जिस उत्साह से भागे बाहर तेरा मन।
वैसा पाने का न कुछ भी वहाँ दीखे धन।
अन्त में मिलने को तो है वहाँ सघन खेद।
या का दुष्कर होगा पुनः करने को भेद।।
। २३६ ।

गत पद्य में मति और स्मृति को रखते हुए संसार की तृष्णा का परिहार (त्याग) बतलाया; अब जैसी मति रखनी है उसका स्वरूप संक्षेप से यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जिस उत्साह के साथ बच्चे का मन बाहर जगत् में अच्छाई या सुख पाने के लिये भागता है वैसी कुछ भी अच्छाई वहाँ नहीं है। यह ध्यान दृष्टि द्वारा सत्य समझना है। यह सत्य का ज्ञान जब मति रूप से मनुष्य में बैठेगा तब संसार से वैराग्य की प्राप्ति होगी, उसके पश्चात् आत्मा में टिकाव का मार्ग पकड़ने में आयेगा।

बालक का मन केवल दूसरे सब सांसारिक प्राणियों में बाहर अच्छाई पाने के उत्साह और उसके अनुसार उनके कृत्य (करने योग्य) कर्मों को देख कर स्वयं अपनी समझ

न रखता हुआ, स्वभाव से ही उसी सांसारिक कामदेव की दिशा में चल पड़ता है। प्रत्येक जीव में यह केवल प्राकृतिक या दैवी (देव सम्बन्धी) बाहर संसार में ही बने रहने की इच्छा या तृष्णा का प्रतीक (चिन्ह) है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सदा बदलते रहने वाले जगत् में सदा बने रहने वाली कोई भी अच्छाई या सुख प्राणी को बाहर के रास्ते चलने पर उत्तम धन रूप में प्राप्त होगा, जिससे कि वह धन्य माना जाये। यह भी बाहर बने रहने की तृष्णा या लपक इसीलिए है कि ज्ञान स्वरूप, नित्य, जीव के साथ सदा बसा रहने वाला चेतन अभी पर्दे में ढक रहा है। यदि नित्य ज्ञान स्वरूप में टिकाव हो जाये तो संसार में होने की रुचि तक भी नहीं होगी।

और यदि आत्मा में टिकाव प्राप्त नहीं हुआ तो बाहर संसार में तो अन्त में समयानुसार सुख तो क्या, केवल सघन खेद ही मिलने का है, जिसका भेद या खण्डन (टाल) करना पुनः संसार के मार्ग से असम्भव ही होगा क्योंकि तृष्णा वाला जीवन सदा सुखी बना नहीं रह सकेगा, अर्थात् सदा तृष्णा पूरी करने में ही मनुष्य समय व्यतीत करे, यह असम्भव ही होगा। बढ़ी हुई तृष्णा रोग वृद्धि आदि के भय से पूरी तो होगी नहीं; परन्तु अधूरी रहती हुई काट-काट कर ही खायेगी। तब बाहर का जीवन भी बहुत सुन्दर नहीं रहता, इत्यादि-इत्यादि सब दुःख सांसारिक प्राणी संसार के मार्ग से दूर नहीं कर सकता। इसलिए मति और स्मृति रखकर जीवन काल में ही शरीर की आवश्यकता से अधिक सब कुछ क्रम से त्यागकर

मनुष्य देख ले और पुनः केवल आत्मा में ही सुख पहचान ले। तभी यह जाने कि मरने पर मुझे अब संसार में लाने वाली कोई भी शक्ति नहीं है।

जैसे कि किसी ने त्यागमय जीवन तो अपनाया; लेकिन यह ऊपर बतलाई मति उत्पन्न नहीं की, स्मृति भी स्थिर न रखी जा सकी, तो समय-समय पर जब भी तृष्णा की ओर झुकाव होगा, उसी की इच्छाएं पूरी होने को आएंगी। यदि मति और स्मृति रही तो इच्छा ठुकरा भी दी जायेगी। यदि स्मृति न रही तो इच्छा अपना तनाव उत्पन्न करके पुनः पुराने संसार के मार्ग पर ही खींच कर ले जायेगी। तब ऐसे व्यक्ति को एक दिन त्यागमय जीवन का दुःख असह्य (न सहने के योग्य) होने से इस धर्म वाले जीवन को छोड़कर वही पहली तृष्णा की सेवा वाला जीवन ही पकड़ना पड़ेगा; वही अपनाना पड़ेगा तो समझो कि वह प्राणी यहीं संसार में रहते-रहते त्याग से मरकर अर्थात् त्याग से टल कर पुनः संसार में ही जन्मा। यही जन्म का अनुभव है। इसी प्रकार संसार मृत्यु द्वारा तो छूट जायेगा, तब संसार तो त्यागा गया, परन्तु यदि तृष्णा लिये बैठी आत्मा वहाँ सुखी नहीं, तो इसका तात्पर्य यही होगा कि वही पुरानी संसार की खींच बस रही है। वह पुनः संसार में ही इस प्राणी को जन्मायेगी, पुनः मारेगी। यही मति, स्मृति विहीन संसार का त्याग पुनः-पुनः जन्म-मरण के लिये ही है। ऐसा सत्य समझ कर जो सांसारिक काम (मार) की 'कार' है, उससे बचे। मार की कार है कि तृष्णा को पूरा करना; और सदा करते ही

रहना, बाहर के रास्ते छोटे-मोटे सुखों में ही खेलते रहना; उसी के निमित्त भले पाप या उग्र कर्म भी करने पड़ें इत्यादि। भले अन्त या नतीजा कैसा भी हो; यही सब कुछ करना इत्यादि-इत्यादि मार की कार है। यही पुनः बार-बार जन्माती है। यदि मनुष्य सम्यक् ज्ञान (मति) रखकर, समय-समय पर तृष्णा के विकारों के हावी (सवार) होने पर स्मृति को न खोने दे और बुद्धि (मति या सही ज्ञान) रखकर उनका परिहार कर दे तो निश्चय ही अपने आप में एक दिन पूर्ण आनन्द पायेगा।

क्या करोगे कूद के मल के कूप,
पावोगे क्या बन धरनि के भूप ?
केवल सुख से दुःख को ही जावोगे;
अधिकाधिक उलझे न थाह भी पावोगे।।

। २४० ।

इस पद्य में भी संसार में बने रहना या होना दुःख रूप से दर्शाया गया है जो कि ध्यान द्वारा मति उत्पन्न करके मनुष्य को अपने मन में बसाए रखकर संसार से वैराग्य को प्राप्त होकर अपनी आत्मा में शान्ति पाने के लिए ही प्रेरित करेगा और संसार से मुक्त होने के उद्योग को बनाये रखेगा।

मनुष्य संसार में केवल कुछ अच्छाई देखकर ही बने रहना या होना चाहता है। किसी को अधिकार, ऐश्वर्य या शक्ति के साथ देखकर, उसके आदर सम्मान को देखते हुए उसे भी इच्छा हो सकती है कि 'मैं भी दूसरों से श्रेष्ठ और अधिक सम्मानित होने वाला होऊँ', इसी प्रकार

संसार में न जाने किन-किन भोगों में क्या-क्या आकर्षक रूप से मनुष्य की दृष्टि पड़ती है। तब उसी आकर्षण से मनुष्य उसकी इच्छा या चाह मन में बसा लेता है ; बिना उसके दुःख देखे वह आकर्षक दृष्टि मन से निकलती नहीं; उसी के साथ मरने पर यदि वह वैसा ही पुण्यवान् भी हुआ तो वह भी कभी उसी तृष्णा को पूरा करने के लिए संसार में वैसा ही पृथ्वीपति या राजा के रूप में जन्म ग्रहण कर सकता है। यह सब अज्ञान से इच्छा करने और बसाये रखने का परिणाम है। जब पुनः वह इच्छा पूर्ण करने का जन्म पाकर कुछ वहाँ अनुभव कर लेता है तब वहाँ के दुःख देखकर सम्भवतः फिर तो वह पहले जैसा बनना न भी चाहे परन्तु दूसरा कोई भले बनना चाहे; परन्तु उसे जब पहले जन्म में किसी सांसारिक सुख की इच्छा हुई थी, यदि उसी समय वह मति या बुद्धि को ध्यान के मार्ग से उत्पन्न कर पाता और यदि ध्यान से उसी व्यक्ति के जीवन को परखता, जिसमें कि वह ऐश्वर्य वाली इच्छा पूरी हो रही थी, तो उसे प्रतीत हो जाता कि वह ऐश्वर्य वाला जन, साधारण जन से भी दुःखी है। परन्तु यदि मति नहीं और स्मृति रखकर इच्छा आदि के समय इच्छा आदि के विकार भी टाले न गये तो केवल वह उस दृष्टि में आए सुख के मार्ग से एक दिन दुःख को ही प्राप्त होगा; दुःख भी इतना कि जिसकी थाह (अन्त) भी प्राप्त न हो। पुनः-पुनः वही लदेगा। संसार से निकलने का मार्ग भी न मिलेगा, पुनः-पुनः मल के कूप में, माता के पेट में ही पड़ेगा। जन्मेगा और विवश होकर मरेगा भी; इच्छाएं या

卐卐

तृष्णा तो पुनः-पुनः अधूरी ही रहेगी। एक जन्म के दुःख को देखकर किसी दूसरे को ऊपर की दृष्टि (नज़र) से सुखी देखकर पुनः उसी की कामना करेगा। यही संसार की कामना संसार में होने के भाव को कभी भी शान्त नहीं होने देगी। क्लेश केवल एक ही है कि यह सब संसार की लपक अपने आपके ज्ञान बनाये रखने के लिए है। अविद्या या तृष्णा का पर्दा इसी ज्ञान रूप आत्मा को ढककर विषयों की याद के ज्ञान जगाकर संसार में ही घसीट कर ले जाता है परन्तु अपनी नित्य ज्ञान रूप, सारे संसार की उपाधियों से मुक्त हुए-हुए आत्मा की दृष्टि नहीं खुलने देता। आत्मा सदा एक रस ज्ञान-स्वरूप है। नाना प्रकार के सांसारिक ज्ञान बिना भी यह ज्ञान रूप आत्मा प्रकट अनुभव में आ सकता है। परन्तु थोड़ा दुःख में जीवन धारण करना; साधन के दुःख में धैर्य बनाये रखना; अन्दर के विचार जगा-जगा कर अन्दर की विद्या प्राप्त करने की आवश्यकता है। स्मृति बनाये रखकर, सब मिथ्या कर्म जो तृष्णा वाला मन झटपट करने को तैयार हो जाता है, उन सब से अपने को बचाये जाने की भी होश रहनी चाहिए। इन्हीं सब साधनों से आत्मा का सहज, स्वाभाविक ज्ञान जगकर अपना आनन्द और शान्ति का शीतल प्राण भी देगा। यही सब इस पद्य का आशय है।

शिर पीट पटक कर रोवे जन,
झुलसा पछतावे की अग्नि में मन।
फिर याद आये इक उस प्रभु की;
या में देखे थे उसके भक्त मगन।। ।२४१।

यह पद्य भी गत पद्य में कहे गये भाव की ही पूर्णता रूप में है।

गत पद्य (२४०) के व्याख्यान में अन्त में जो कहा कि दूसरों में कई एक प्रकार की इच्छाएं पूरी होते देख कर और कई एक प्रकार से कई एक प्राणियों का जन साधारण में आदर और गौरव होते देखकर बालक के अन्दर (मन में) भी वही अधिकार या ऐश्वर्य आदि की इच्छाएं पूर्ण करने का संकल्प (इरादा) सांसारिक काम रूप से प्रवेश करके उसे भी एक दिन संसार में वैसे ही स्थान पर उत्पन्न कर देता है और वैसी ही परिस्थितियों में पहुँचा देता है जहाँ कि उसे वैसी ही सब वस्तु और अधिकार, गौरव आदि प्राप्त होते हैं। परन्तु वहाँ इन्हीं के साथ बसा जो दुःख है वह तो बालक को सूझा नहीं; इन बाहर खुलने वाली आँखों से दीखता भी नहीं। जब इस भयंकर दुःख को वह प्राणी अनुभव करता है तो पुनः उसे संसार में वैसा होने की इच्छा नहीं होती; भले दूसरी किसी में देखी हुई उसको अच्छी लगे। परन्तु यहाँ इस पद्य में केवल इतना ही कहना है कि संसार का जितना ऊँचा पद कोई पाता है उसके साथ उतना ही बड़ा दुःख भी जुड़ा है। अपने स्वार्थ हित कई एकों का बुरा करना; कई एकों से विरोध करके जीना; पुनः अपनी रक्षा के लिए भी कई उग्र कर्म और पाप करने पड़ते हैं। जब इनके साथ प्राणी मरता है तो पहले उसे यही अपनी अग्नि में जलाते हैं। उस मृत्यु के एकान्त में या पुनः संसार में भी जन्म कर वह उनके दण्ड पाने पर सिर को पीट और पटक कर रोता है

卐卐

और अपने कर्मों का फल स्मरण करता हुआ और पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसते हुए मन वाला होता है; तब उस जगत् का भला करने वाले भगवान् की याद करता है जिस भगवान् में संयम, नियम, ध्यान, विचार वाले उसके भक्त मग्न रहते थे। इसका भी तात्पर्य यही है कि वह उन भक्तों की याद करता हुआ पुनः और भी अधिक यूं पश्चात्ताप करता है कि दूसरों को भगवान् के मार्ग पर चलते देखते हुए भी मुझे यह समझ न हो सकी कि मुझे भी वैसी श्रद्धा रखकर अपनी भलाई साधनी चाहिए।

जैसे-जैसे जाने ज़न जग विस्तार,
तैसे-तैसे चीने द्वन्द्व बन्धनों का खार।
उतनी न याद तब सुखों की सुहाय;
दु:खों से जितना चाहे पाला छूट जाये।।
। २४२ ।

यह और आगे के कई एक पद्य मति (बुद्धि) को ही उस सीमा तक उठाने के लिये प्रेरणा देते हैं जहाँ पर कि पहुँची हुई मति बिना किसी बाहर की उपाधि के केवल अपने आत्मा में ही शान्त हो और अपने में ही सुख का अनुभव करे, पुनः जगत् में न तो कुछ जानने या समझने का रहे; न पुनः करने का ही। यही कृतार्थता का भाव है। इसके लिए अब यह पद्य पूर्व के पद्य में आई चर्चा के साथ एक बोल में ही यह दर्शा रहा है कि जैसे संसार में महान् पद और बड़ा सुख पाने के साथ-साथ बड़ा दु:ख भी बन्धा है; उसे भुगतते समय मनुष्य पश्चात्ताप की अग्नि में भी झुलसता है। इस

दुःख से बचने को इतना महत्त्व देता है कि इसके लिए इससे जुड़े हुए कितने भी बड़े सुख को, वह दुःख करके ही देखता है। उस सुख का पाना पुनः न चाह कर केवल दुःखों से छुटकारा (मुक्ति) ही खोजता है। परन्तु यह सब तभी मनुष्य चाहेगा जबकि संसार में होते हुए दुःखों को ध्यान में विचार जगाकर पहचानेगा। एक ओर से सुख का राग अग्नि के समान जलाता है। दूसरी ओर दुःख से या दुःखी करने वालों से द्वेष का विष अग्नि के समान फूँकता है। इच्छा से विपरीत आ पड़ने की शंका, भय भोजन आदि के सुख को भी नहीं लेने देती। आगे से आगे उलझन का ही विस्तार होता जाता है। यहाँ तक कि निद्रा के समय तक संसार के कर्तव्यों का बोझ भी नहीं उतरता; निद्रा भी शान्त नहीं होती। यही सब संसार के सुख के साथ दुःख की क्षार (खार) है। इसे हटाना अपनी शक्ति से बाहर है। इसके अतिरिक्त दूसरों से संघर्ष अथवा अनिष्ट का भय भी मनुष्य के सुख और शान्ति को बिगाड़ता है। अपने आप में तो सब समस्याओं का हल या समाधान होता नहीं; दूसरे भी बीच में पड़ते हैं; इस प्रकार यह द्वन्द्व में दुःख रूप में सामने आता है। इसी सब दुःख को जन बुद्धि जगाकर परखने का उद्योग रखे।

यद्यपि साधारण इच्छाओं के सुख में भूला हुआ जन उन इच्छाओं और सांसारिक महत्त्व के पदों पर प्रतिष्ठित होता हुआ, मरने के उपरान्त जीव को अनुभव में आने योग्य, पुण्य पाप के फलस्वरूप सुख दुःख के बारे में श्रद्धा

न रखता हुआ, कुछ भी सोचना भी नहीं चाहे और कुछ सुनना भी न चाहे; उसे वैसा करने का सम्भवतः अवकाश (फुरसत) भी न हो; इन्हें व्यर्थ की (फालतू) बातें ही समझकर इनसे अपना पीछा छुड़ाना चाहे; परन्तु यह जगत् का सत्य ऐसा है कि थोड़ी इसी दिशा में खोज करने पर मनुष्य की बुद्धि मरने के उपरान्त के सत्यों को आराम से समझ सकेगी। कम से कम उनका अनुमान (अन्दाज़ा) तो होने लग ही जायेगा। इतने से भी मनुष्य अपने कल्याण के लिए बहुत कुछ कर सकेगा। श्रद्धा रख कर उन्नत विचारों का संग कर सकेगा। जैसे कि हम कुछ भी दूसरों के लिए अपने स्वार्थ के हेतु यदि बुरा कर्म करते हैं या मन में बुरा भाव तक भी रखते हैं तो हम अपने मन के इतने शक्तिशाली स्वामी (मालिक) नहीं कि अपने मन में ही उस बुरे कर्म आदि से होने वाले भय, शंका, भ्रम आदि बुरे भावों को उत्पन्न होने से रोक सकें। वे सब उत्पन्न होते ही हैं और उत्पन्न होकर मन में बैठे-बैठे हमारे सुख शान्ति और प्रसन्नता आदि के मीठे फलों को बिगाड़ते हैं। कब तक वे बैठे रहते हैं ? यह उन्हीं के विधान के अनुसार वही जानें या कोई सर्वज्ञ भगवान्। परन्तु वे सब बुरे भाव बैठते हैं अवश्य; हटते नहीं और अपने ही ढंग की यहाँ (इस शरीर में या दूसरी अवस्था में रहते प्राणी में) सृष्टि करते हैं। इसे इन सब मिथ्या कर्मों को करता हुआ प्राणी कभी भी नहीं रोक सकता।

अब यहाँ विशेष खोज करने का यह सत्य है कि ये ऊपर कही गई बातें तो जागते मन में इस देह में विचरते

जन के लिये सत्य हैं। परन्तु यदि यही जन इन्हीं भावों के साथ अत्यन्त खोया-खोया ही निद्रा देवी की गोद में समा जाये तो यही सब भाव उस मनुष्य के मानस भावों के अनुसार जगत् भी स्वप्न अवस्था के रूप में रच देते हैं; वहाँ जिसे दूसरे सोया हुआ समझते हैं, कहने के लिये सोया हुआ वह शरीर स्वप्न में उसी मनुष्य का शरीर नहीं है, वहाँ कोई दूसरा शरीर है। यह यहाँ वाला तो मृतक (मरा हुआ) सा है। इसकी कोई भी हालत उस स्वप्न समय के जीव को समझ में नहीं आती। इसलिये यह सोया शरीर किन्हीं दूसरों के लिये भले कहने को हो। परन्तु वह जीव तो स्वप्न अवस्था में भी जागकर वहाँ उन बुरे कर्मों और भावों का रचाया हुआ जगत् देख रहा है; उसके लिये सोया हुआ उसका यह शरीर नहीं। उस स्वप्न वाले शरीर में वही बुरे कर्म और बुरे भावों वाला व्यक्ति तो अवश्य चेत रहा है; समझ रहा है; सुख-दुःख का भी अनुभव कर रहा है। उठने पर यह भी कहेगा कि 'वहाँ मैं ऐसे-ऐसे दुःखी या सुखी हो रहा था'। उठने पर मनुष्य यह भी अनुमान लगा सकता है कि 'वह स्वप्न मेरे ही भावों का था'। मुझे चाहते वा न चाहते हुए भी वह सब देखना पड़ा; स्वप्न में दुःख रूप में दण्ड भुगतना पड़ा।

यहाँ अब यही खोज का विषय है जो कि हमारी चर्चा का विषय है कि कौन-सा वह तत्त्व जीव में या मनुष्य में हमारे साथ बसा रहता है जो कि हमारे किये सब कर्म और भावों का लेखा-जोखा (हिसाब-किताब) रखता है और पुनः हम तो शरीर को ही अपना आपा समझते हैं; उसी में

'मैं-मैं' करते घूमते हैं; परन्तु वह छुपा तत्त्व या शक्ति कौन है ? वह कहाँ छिपी बैठी रहती है ? जो कुछ का कुछ दुःख या सुख रचकर दूसरे शरीर में हमें डालकर दिखाती है। और हम विवश हुए सब कुछ देखते और सहते हैं। यह सब सत्य विचार करने पर मनुष्य की बुद्धि स्वयं समझेगी जो कि ऋषियों ने खोजकर समझा तथा बतलाया; और उन्हीं सत्यों के अनुसार मनुष्य को चेतावनी दी कि सावधान ! होश सम्भाल कर जगत् में पांव रखना; पांव आगे बढ़ाना इत्यादि-इत्यादि। इनमें वह भी कोई सत्य है जो हमारे यहाँ किये कर्मों के अनुसार वैसा ही जगत् मृत्यु होने पर भी स्वप्न के समान रचकर हमारे भावों तथा कर्मों के अनुसार हमें वहाँ सुख या दुःख भोगने के लिये रच देता है। जैसे निद्रा से एक आँख संसार में से बन्द हुई कि दूसरा संसार स्वप्न रूप में खड़ा होकर हमारे सामने आता है, वैसे ही मृत्यु की भी एक नींद ही है। उस मृत्यु की निद्रा ने भी हमारे कर्मों के अनुसार आगे संसार खड़ा करना है। संसार खड़ा करके उसमें हमें देहधारी बनाकर हमारे सकल कर्म, अच्छे या बुरे, सुख-दुःख के रूप में सामने लाने हैं। इसमें दुःख ही अधिक होगा; सुख तो केवल मन को छलने के लिये, आशामात्र ही माया दिखलाती है। इस सब को विचार कर संसार को, या किसी भी प्रकार से संसार में बहुत जनों की उलझन और पराधीनता के दुःखों को देखते हुए तथा अपने मन के अनुसार संसार का सुख बनाये रखने में असमर्थता तथा अयोग्यता को ध्यान में रखते हुए यही विचारे और भाव रखे कि इस जगत् के

सारे दुःख से पाला छुड़ाना है। इसके सुखों के पीछे नहीं पड़ना। सुख तो इसमें कहीं भी नहीं, केवल कल्पना में ही है। वह कल्पना भी जीवन चलाने वाली या जीवाने वाली दैवी शक्ति की ही एक तरंग है जो कि संसार की वस्तुओं को अच्छा दिखलाकर जीवन की नौका को धकेलती है। उस शक्ति को भी ध्यान विचार ही पहचानेगा और उसके प्रभाव से मुक्त होने का यत्न करके अपना ज्ञान बनाये रखेगा। वह संसार चलाने वाली शक्ति ज्ञान का दीपक टिकने नहीं देती। हमने उसी ज्ञान के दीपक को जगाये रखकर यह सारा संसार का दुःख त्याग कर अपनी आत्मा के ही सुख में और ज्ञान में विश्राम पाना है। यही सब इस पद्य का भाव है।

जानो सर्व शूल मूल बन्धनों का क्लेश,
क़ैसा भी न भाय; उनसे, प्रीति का न लेश।
यहाँ जैसी वस्तु तहाँ तैसी न दिखाय;
इनके संग स्मृति, वीर्य, ध्यान न सुहाय।।
। २४३ ।

गत पद्य में 'जहाँ तक जगत् का देश में व काल में विस्तार है; वहाँ सर्वत्र बन्धनों का क्षार (खार) ही ध्यान अवस्था में बुद्धिमान् पुरुष देखेगा', ऐसा कहा गया। बन्धनों के नाम और लक्षण मन में सदा स्मृति में रखने से ये सब बन्धन अपनी लीला संसार में करते हुए प्रकट रूप से सर्वत्र दिखने लगेंगे। तब किसी भी व्यक्ति की स्थिति या कोई भी जगत् का अधिकार या शक्ति आदि का स्थान मन को नहीं लुभा सकेगा। अपने में कुछ दुःख देखता

हुआ प्राणी दूसरों को कहीं प्रसन्न रूप में देखकर झटपट यही समझने लग जाता है कि वह या अमुक (फलां) व्यक्ति सुखी है; पुनः उसी के स्थान की चाह मन में बसा लेता है। ऐसे उस व्यक्ति ने दूर-दूर से न जाने कितनी मिथ्या दृष्टियां दूसरों के सुखी होने की बना रखी हैं। यह भी दृष्टि बन्धन है। उन्हीं के अनुसार कई एक इच्छाओं का भार भी उठा रखा है। बिना ध्यान, विवेक (सत्य वस्तु के ज्ञान) के इन सब से पाला छूटना कठिन (मुश्किल) है। परन्तु हैं यह सब दृष्टियां व कामनाएं (शूल) ही सब दुःखों का मूल (जड़)। परन्तु इसे स्वयं अपने ध्यान में बुद्धि को जगाकर परखे। सत्य की मति कैसे प्रकट हो और प्रकट होकर संसार के बन्धनों से और जहाँ तक कि संसार के प्राणी फैले हैं, उन सब की उलझन से भी कैसे बचाए ? यह सब खोज स्वयं ही मनुष्य को करनी है।

पद्यार्थ :- इसी सब भाव को अपने अन्दर रखता हुआ यह पद्य इस सत्य को दर्शा रहा है कि मनुष्य को फैले हुए जगत् के विस्तार से या उसके सब जीवों की उलझन से बचने के लिए मनुष्य को यह मति उत्पन्न करनी चाहिए कि जहाँ तक यह संसार फैल रहा है, विस्तार वाला है, वहाँ तक सबके शूल और सर्व प्रकार के शूल का कारण (मूल) यही बन्धनों (राग-द्वेषादि) का ही क्लेश (परेशान करने वाली वस्तु) है। कहीं मित्रता, नातेदारी से, कहीं पुनः वैर विरोध से, कहीं दूसरों के सुखों को अच्छा लगाकर ये बन्धन मनुष्य को बाँधते हुए क्या का

क्या करवाते हैं। किन-किन व्यक्तियों में बान्धते हैं, पुनः पीछे किस-किस रूप में दुःख में ही पटक देते हैं, इत्यादि-इत्यादि इनकी अनगिनत प्रकार की उलझन है। इसमें उलझे हुए प्राणी को अन्त में दुःख दिखने पर अपने में कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी प्रसन्नता ही उड़ जाती है। जीवन की प्रीति भी नहीं रहती। ये सब जब राग-द्वेष, संशय, मिथ्या कर्तव्य सम्बन्धी विचारधारा, इनके साथ-साथ पुनः रोग आदि बहुत प्रकार से जीव को आक्रान्त कर लेते हैं अर्थात् घेर लेते हैं, तब उसे पुनः कुछ भी यहाँ अच्छा नहीं लगता; किसी में भी प्रीति नहीं रहती; अपने जीवन से भी प्रीति नष्ट प्रायः हो जाती है; तब यह प्राणी मृत्यु की आकांक्षा करता है।

इन्हीं बन्धनों से बन्धा प्राणी यदि अभी अपनी बुद्धि में हो तो भी ये बन्धन उसे अपनी लीला के लिए तो सदा प्रेरित करते रहेंगे; परन्तु सत्य को (जगत् के सत्य को) समझने पहचानने नहीं देंगे। जैसी कोई वस्तु है अर्थात् सुख देने वाली है या अन्त में केवल दुःख ही देगी इत्यादि वस्तुओं के सत्य को ये बन्धन पहचानने नहीं देते। इनकी मन में प्रबलता रहने पर स्मृति, ध्यान, वीर्य आदि मोक्ष मार्ग पर ले जाने वाले धर्म सुहावने भी नहीं लगते। इन्हीं बन्धनों की उधेड़बुन में स्मृति खोई रहेगी; इन्हीं के ध्यान और इन्हीं के लिए वीर्य अर्थात् इन्हीं की इच्छाएं पूर्ण करने के क्षेत्र में सब यत्न लगा रहेगा।

इस सब का यह तात्पर्य है कि जहाँ तक जगत् का विस्तार है, अपने तक व दूसरे सब तक, वहीं तक यही

卐卐

सत्य समझना कि जगत् में कहीं भी, किसी में भी जो दुःख दीखता है, उस सब की जड़ संसार में सुख दिखाकर बान्धने वाले बन्धन ही हैं। दृष्टि से लेकर अविद्या आदि तक यही बन्धन कल्याण के मार्ग में भी विरोधी हैं। ऐसी मति उपजाने से मनुष्य इनसे सजग रहकर, अपने दुःख को पहचान कर, सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा पायेगा और अपने को सही मार्ग पर चलाने के लिये स्मृति, ध्यान और वीर्य (उद्योग) भी रखेगा। स्मृति और ध्यान, वीर्य आदि विस्तार पूर्वक पीछे अपने स्थान पर निरूपण में आ चुके हैं। इन्हीं सब बन्धनों को पहचानने के लिये मन को अन्तर्मुख करना पड़ता है। यही नहीं कि विचार सदा संसार में ही खोया रहे; 'तेरी मेरी' के बारे में ही सोच को दौड़ाता रहे। प्रथम अपने कर्मों को समझे, देखे कि मैं क्या-क्या करता हूँ। यह पहला पग होगा अन्तर्मुख होने का। अपने मन के जोशों तथा इन्द्रियों की चेष्टाओं को पहचाने; बोली हुई वाणी को भी पहचाने; इस प्रकार मन और अन्तर्मुख होगा; संसार से विचार अवकाश पायेगा। तब मन की उत्तेजना या जोशों को भी पहचाने तथा ध्यान में लाये कि इन जोशों से मन क्या कुछ करवा कर कहाँ पटकना चाहता है। इस प्रकार ध्यान विचार वाला जन और भी अन्तर्मुख होगा। बाहर यदि सम्भल कर दूसरों के साथ सही-सही बर्ताव भी कर सका तो मोक्ष मार्ग पर चलने की शक्ति पा गया। यदि दूसरे जनों के भावों में अपने भावों को भी निर्मल रखकर जीवन

धारण कर सका तो ऐसा अन्तर्मुख जन जीवन मुक्ति के निकट ही पहुँच गया। यदि एकान्त में अपने आसन पर अपनी आत्मा में ही शान्त सुख पा गया तो जीवन मुक्त ही हो गया। अब उसे अपनी मुक्ति के बारे में किसी से भी यह पूछना नहीं पड़ेगा कि वह मर कर मुक्त होगा या नहीं; क्योंकि वह जीवन काल में ही अपनी मुक्ति को अनुभव कर चुका होता है।

सत्य की न होने दें यह कबहुँ भी खोज,
उत्तरोत्तर दुष्कर दीखे देना इनका भोज।
रहे स्मृति, बने वीर्य, ध्यान जुट जाय;
मिले खोजा सत्य, बन्ध टले, सुख पाय।।

। २४४ ।

गत पद्य में कहे गये भाव को ही यह पद्य पूर्ण करता है।

पद्यार्थ :- यही सब दृष्टि, संशय, राग-द्वेषादि बन्धनों का क्लेश सत्य को पहचानने तो क्या ही देगा, सत्य की खोज तक करने के लिये मन को भी उत्पन्न नहीं होने देता, केवल सामने जगत् के थोड़े सुख की स्मृति (याद) में ही सारा जीवन लगा देता है। धर्म के मार्ग पर अपने को सम्भाले रखने वाली स्मृति को टिका रहने तक भी नहीं देता।

पुनः इन बन्धनों के बढ़ जाने पर इनकी भूख इतनी बढ़ जाती है कि इनकी भूख के अनुसार भोज (तृप्ति की वस्तु का सुख) दिया भी नहीं जा सकता; उतना देने पर ये मारने वाले या मरने जैसा दुःख देने वाले सिद्ध होंगे।

बढ़े हुए राग को कौन तृप्त कर सकेगा ? इन बन्धनों की तृप्ति का यत्न करता हुआ कौन जन साधारण स्वस्थ देहादि के सुख को भी न खो बैठेगा ? यही और अन्य बहुत कुछ इन सब बन्धनों की अधीनता का क्लेश है।

अब पद्यार्थ के उत्तरार्ध में संक्षेप से इन बन्धनों को टालने का उपाय दर्शाया है कि मनुष्य पहले पद्यों में कही मति को उपजाता हुआ स्मृति को भी रखे; इस सब की स्मृति बनी रहे कि मन में क्या-क्या भाव आकर क्या वस्तु खोज रहे हैं ? किधर ले जाना चाहते हैं ? यदि यह स्मृति बनी रहे कि उधर मिथ्या मार्ग पर जाने में भला नहीं, तो वीर्य (हिम्मत) बन पड़ेगा; उन सब विपरीत मिथ्या विकारों को तथा संशय आदि बन्धनों को और उन्हीं के परिवार के अन्य दोषों और विचारों को शान्त करने का उद्योग भी बन पायेगा; पुनः ध्यान भी जुड़ने लगेगा। ध्यान द्वारा विपरीत संशय आदि बन्धन भी टालने का वीर्य (वीर भाव) बन पड़ेगा। मिथ्या सांसारिक सुख के मार्ग में अड़चन पड़ने पर संशय बड़ा परेशान करता है कि 'कहीं यह सब संसार के सुख त्यागने पर जीवन भी रहेगा या नहीं' ? यानि 'जीवन धारण करने का भी पुनः क्या प्रयोजन, यदि संसार में सुखी नहीं रहना तो'; इत्यादि-इत्यादि बहुत से बन्धन ध्यान द्वारा ही पहचानने में आते हैं। उसी ध्यान में सत्य खोजने पर सत्य प्रकट होगा, बोध (सत्य ज्ञान) प्रकट हो कर सब प्रकार से संशय को काट देगा। और भी राग आदि बन्धन छोड़ने के लिये प्रेरणा, उत्साह और

शक्ति को ध्यान में पाया हुआ तथा प्रकट किया गया सत्य का ज्ञान ही देता है। इससे बन्धन टलने लगते हैं, सुख प्राप्त होता है। उद्देश्य की सिद्धि होती है। यही सब अपने अन्दर (मन के अन्दर) प्रवाहित होने वाले (बहने वाले) काम, क्रोध आदि विकारों का जाल तथा राग, द्वेष, संशय, मोह आदि से लेकर बारीकी में टिकी अविद्या तक को जो पहचानने में सामर्थ्य या शक्ति लाभ करेगा, वह अन्तर्मुख जन सारे संसार को भूल कर अपने ध्यान में रहने वाला, सारे संसार की मिथ्या उलझन से भी बचा रहेगा। इस प्रकार संसार से मन को वियुक्त करके अन्दर की समझ के ज्ञान के साथ एकान्त में अपने आसन पर लम्बा समय व्यतीत करने वाला एक दिन अपने आपको अपने आप से ही सुखी भी अनुभव करेगा। शनैः-शनैः यही सुख आत्मा के सुख रूप से पहचाना जाने पर अनन्त, सर्व रूप ब्रह्म, सब की आत्मा रूप से भी समझ में पड़ेगा। ऐसे ब्रह्म ज्ञान से इस व्यक्ति के लिये बिना जप या ध्यान के भी सदा बनी रहनी वाली तृप्ति या प्रसन्नता का सुख कभी भी नहीं बिछुड़ेगा। केवल संसार की 'तेरी-मेरी' में बन्धे मन से मुक्ति (छुट्टी) मिलनी चाहिए। ऐसी छुट्टी मिलनी कोई असम्भव या अति कठिन भी नहीं है; केवल मन की दौड़ या संसार के प्राणियों तथा पदार्थों के सुख के बारे में ही लपक तथा बिना विचारे उस सुख को पाने की उत्तेजना या जोशों की थोड़ी परीक्षा करके, कर्तव्य निश्चय करने के लिए झुकाव की आवश्यकता है। पुनः कर्तव्य का निश्चय

卐卐
करके, स्मृति या सावधानी बरत कर उसी कर्तव्य पर चल सकने की शक्ति उपजाना इत्यादि-इत्यादि सब साधन जीवन को शुद्ध करके आत्मा के सुख तक निश्चय ही पहुँचा देगा। यही सब इस पद्य का तात्पर्य तथा सार है।

विश्वास युक्त मन पहले जैसी प्रीति पाय,
कैसा भी बहाव जग का उसे न सताय।
बोध की अपार महिमा, बन्धन छुड़ाय;
स्मृति, वीर्य, ध्यान, सत्य शोध जो मिलाय।।

। २४५ ।

भूमिका :- स्मरण रहे ! पद्य २३७ से यह चर्चा आरम्भ हुई है कि जैसे संसार में पदार्पण करके (जन्म लेकर) बालक ने सांसारिक प्राणी और पदार्थों के संग से अपने में (आत्मा में) मिठास पाई है और उनके संग से आत्मा (अपना आपा) मीठा अर्थात् सुख रूप जान (ज्ञान में) पड़ा है, वही मिठास संसार छूटने पर भी आत्मा में मिलती रहनी चाहिए। चाहे वह सुख (मिठास) कैसे भी साधन से मिले। संसार से बिछुड़ने पर (मरने पर) या जीवन काल में भी रोग तथा वृद्धावस्था के कारण, वैसे ही देह की शक्ति क्षीण होने पर, दूसरों के मधुर भावों की मिठास का कारण उनका स्वार्थ पूरा करना न रहने पर, सांसारिक सुख के कारणों से या विषयों के संयोग से तो प्यारा आत्मा या सुख रूप आत्मा मिलेगा नहीं। इसलिये उसी सुख के लिए पुनः जीवन रहते धर्म साधन के मार्ग से मति या बुद्धि को स्थिर रखकर अर्थात् समझने की शक्ति को

स्थिर रखकर और अटल स्मृति को रख कर संसार का, जहाँ तक कि यह सूक्ष्मतापर्यन्त जीव स्वभाव में घुसा बैठा है, बन्धनों समेत परिहार (त्याग) करके देख ले और जीवन काल में ही संसार त्याग या इससे छुटकारे (मुक्ति) का सुख भी अनुभव कर ले। परन्तु संसार का बन्धन मति, स्मृति और त्याग का यत्न रूप वीर्य इत्यादि बनने नहीं देता, इसी कारण से मन स्थिर रखकर बुद्धि द्वारा सत्य का निश्चय नहीं हो पाता; सत्य के निश्चय बिना सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा नहीं मिलती। संसार के बन्धनों से बन्धा मन इसके पहली अवस्था में प्राप्त सुख को भी खो बैठता है। परन्तु बन्धनों के भार से लदे रहने पर मति ठिकाने तो रहती नहीं, स्मृति भी विचलित रहती है। सांसारिक सुख के राग के कारण उसी की याद में बसा हुआ मन, ध्यान भी सही प्रकार से नहीं कर पाता। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान या यूं कहा जाये कि अपने जीव स्वभाव का और व्यापक जीवन के सत्यों की खबर या ज्ञान भी न मिल सकने से उन्हीं बन्धनों के काम, क्रोध, संशय, भय, ईर्ष्या, मत्सर, अधीरता आदि अनगिनत विकारों में और इन्हीं से करवाये जाने वाले विचारों और कर्मों में उलझा-उलझा मन एक दिन जीवन की प्रीति भी खो बैठता है अर्थात् जीने की इच्छा भी नहीं रहती। जब अपना सुख समय के अनुसार छिन गया या न रहा, रोग ने ग्रसित कर लिया तब इतना धर्म या धैर्य साधारण मनुष्य में नहीं कि वह दूसरों के सुख में सुखी रहे,

इत्यादि। अपना सुख न रहने पर उसकी संसार में प्रीति भी नहीं रहती; जीवन भी अच्छा नहीं लगता; तब मन निद्रा आलस्यादि (सुस्ती) के आराम में पड़ा-पड़ा संसार को भी सही दृष्टि से नहीं देखता। अपने आराम में विघ्न करने वाले शत्रु जैसे दीखते हैं । जो अपने सुख के साथी नहीं, वे सब जन पापी प्रतीत होते हैं। उनके लिए न जाने मन द्वेष में सना हुआ क्या-क्या सोचता है; सब में एक ही आत्मा या परमात्मा दीखना तो दूर रहा। केवल कई एक प्रकार की दूसरे देहों में मित्र या वैरी या अहंकारी आदि की दृष्टियां (नजरें) ही बनती हैं। उन सबसे राग तथा द्वेष या अहंकार ही मन में व्यायाम करते रहते हैं। संसार उपेक्षा से उसके मन में बसा नहीं रहता है। मिथ्या दृष्टि ही बनती है। इन्हीं मिथ्या दृष्टियों के संसार में ही वह मरता है। अब इन सब के होते, बिना साधन के तथा अपने अन्दर के सब सत्य और शत्रु जाने और उनसे छुटकारा पाये, आत्मा में मिठास कैसे प्राप्त होगी ? यही सब मिथ्या दृष्टि, संशय, राग, द्वेष, कर्तव्य सम्बन्धी मिथ्या विचार से लेकर मान, मोह, अविद्या तक मनुष्य की मति या स्मृति को स्थिर ही नहीं रहने देते। यहाँ तक (२३७-२४४) पद्य का भाव संक्षेप से बताया गया है।

अब यह पद्य (२४५) इसी पर विशेष बल (जोर) दे रहा है कि मनुष्य को थोड़ा-थोड़ा श्रद्धा रख कर तथा काम, क्रोध, संशय, मिथ्या दृष्टि और आलस्य निद्रा आदि पर अधिकार करके ध्यान बनाये रखने का यत्न करते रहना चाहिये तथा हर समय स्मृति बनाये रखना दि,

समय-समय पर मन किधर-किधर आदतों के बन्धनों से घूमता है ? क्या-क्या प्रेरणा देता है ? इस सब को जानता रहे और वीर्य बल (वीर भाव) या उद्योग द्वारा उनको थोड़ा श्रद्धा का या ज्ञान का बल रख कर टालता रहे। इससे एक दिन अन्दर (आत्मा) और बाहर के (परमात्मा या व्यापक जीवन के) सब सत्य समझ आने लगेंगे। वे सत्य सम्मुख आकर इस साधक के मन को संसार के बन्धनों से सदा के लिये मुक्त करने के मार्ग पर बनाये रखेंगे। तब अपने सांसारिक सुख बिछुड़ने से जो प्रीति आदि खो गई थी वह भी प्राप्त होगी; जीवन भी अच्छा लगने लगेगा; दूसरों के सब मिथ्या व्यवहारों की भी मन उपेक्षा करता हुआ अपने को सम्भाले रखेगा। इन्हें मन में नहीं लगायेगा। यह सब सत्य ज्ञान रूप बोध की महिमा है जो कि अन्दर बाहर के अज्ञान को नष्ट कर देगा।

कोई भी व्यक्ति यदि कुछ भी कर्म करता है जिससे दूसरे को दुःख होता है तो यद्यपि मनुष्य इससे क्षुब्ध तथा दुःखी होकर कई एक मिथ्या दृष्टियां (नजरें) बनाकर अपने को दूसरों की लाचारी के कारण ही दुःखी करता है। यहाँ यदि उस दुःखी करने वाले जन की अन्दर की सच्चाई इस धार्मिक पुरुष के बोध या ज्ञान में आ जाये तो यह जन, मन में शान्त हो जायेगा। दूसरे में बैठी माया की अन्धी शक्ति को ही उसे चलाते हुए पहचान कर उस पर दया ही रखेगा। अपने में भी उसका बल स्मरण करेगा। यही सब खोज सत्य बोध देती है।

पद्यार्थ :- स्मृति, वीर्य, ध्यान और उसी ध्यान में सत्य

की खोज, तथा मति की सम्भाल और श्रद्धापूर्वक विश्वास रखने वाला मन बोध को पाता है। उस बोध की अपार महिमा है। यह बोध सब जगत् के बन्धनों से छुड़ा देता है। जिससे छूटने पर मन पहले के समान ही प्रीति, प्रसन्नता पाता है और जगत् का बहाव कैसा भी हो, दूसरे क्या-क्या भी करते रहें, उनमें मिथ्या दृष्टि न होकर सम्यक् (सही), सुख शान्ति देने वाली दृष्टि बनने की भी योग्यता रहेगी। उन दूसरों के बुरे लगने वाले व्यवहारों और व्यवहार करने वालों में मन उपेक्षा से विहार करेगा अर्थात् जीवन नौका चलायेगा। उपेक्षा का तात्पर्य है, 'व्यर्थ ध्यान में न लाना'। जब दूसरों की मिथ्या बातों को ध्यान में नहीं लायेंगे तो उनसे दुःख भी नहीं होगा।

आत्मा पै बोझ लदे, क्षुब्ध हो जो मन,
कैसा भी हो धर्म राखा, सहज न शमन।
जड़ चेतन सारा जगत् उल्टा ही सुझाय;
जीते नींद और जग की तृष्णा, बोध से मुक्ति पाय।।
। २४६ ।

इससे पूर्व के पद्य तक संक्षेप से संसार के मन और प्राण शक्ति को क्षीण करके, दुःख उत्पन्न करने वाले बन्धनों से छूटकर अपनी आत्मा में ही बिना बाहर की किसी भी उपाधि (शर्त) के सुख पाने तक का साधन बोध (सत्य का साक्षात् ज्ञान) बतलाया गया। यही बोध एक ओर अपना; अपने स्वभाव, अपने गहराई में बैठे ज्ञान रूप आत्मा का है, दूसरी ओर अपने समान ही फैला हुआ (विस्तीर्ण) बाहर जगत् रूप व्यापक जीवन या परमात्मा

रूप का है। यह दोनों प्रकार का बोध या यथार्थ (सही) ज्ञान होने से मनुष्य की अज्ञान से होने वाली शंकायें, भय और सब मिथ्या भाव टल जाते हैं। वैसे ही बोध होने से सही दिशा में जीवन को चलाने या मोड़ने की प्रेरणा भी मिलती है। इसी बोध की कृपा से ही दूसरे प्राणियों में उलझता मन भी सही रूप से रखा जा सकता है। इस बोध के बिना ही मनुष्य बात-बात में 'तेरी-मेरी' के चक्र में पड़ कर एक दूसरे को दोषी, अपराधी आदि बनाता है। और वैसा दूसरों को समझने पर मन पर भी विचित्र-विचित्र दोषों या विकारों का आक्रमण हो जाता है। बाहर का जीवन सब बाहर के सुखों के कारण रहने पर भी मिथ्या भावों के कारण वैर, विरोध और संघर्ष के कारण और भी अधिक दुःखी हो जाता है। ऐसा सब होने पर केवल ध्यान में सत्य की खोज (शोध) करने से, सब जीवों को अपने बल से चलाने वाले तत्त्वों की खबर या ज्ञान होने पर मन दूसरों की उलझन से बच जाता है क्योंकि वह यह समझने लगता है कि किसी शक्ति से विवश होकर ही जीव मिथ्या कर्म कर बैठते हैं; इन जीवों में अच्छा कर सकने की शक्ति ही नहीं होती। इसलिये बुद्धिमान् जन उनके लिये क्षमा का भाव रखता है। यही सब बोध की महिमा है। जब तक बोध नहीं जागा तब तक ही श्रद्धा से महापुरुषों द्वारा बतलाया या दर्शाया मार्ग चलने का प्रयत्न करना पड़ता है। बोध होने पर तो यह स्वभाव से ही धार्मिक जन का जीवन का मार्ग ही बन जाता है। सो अब इसी श्रद्धा से अपनाये गये बोध के मार्ग की अड़चन

(विघ्न) को तथा उसके हटाने के साधन को यह पद्य दर्शाता हुआ मनुष्य को बोध के मार्ग पर बने रहने की प्रेरणा देता है।

पद्यार्थ :- जब मन क्षुब्ध हो तो आत्मा (अपना ही ज्ञान स्वरूप) भार से लदा हुआ अनुभव में आने लगता है। क्षोभ से युक्त मन को क्षुब्ध कहते हैं। क्षोभ नाम मन का बुरी प्रकार से चलायमान होने का है। अर्थात् जैसे उस मन का सुख की स्थिति में बड़े आराम के साथ हल्के भाव से जगत् में बिना कोई आपत्ति के जीवन धारण करने का ढंग है, वह क्षोभ की दशा में नहीं रहेगा। क्षोभ में या क्षोभ की दशा में आराम से जीवन नौका चलते रहने से उल्टा ही दुःख से जीवन धारण करना प्रतीत होता है।

ऐसी क्षुब्धता (क्षोभ) की दशा तब ही बनती है जबकि जो सुख जगत् में देखा है वह अड़चन में पड़ जाये; इससे विपरीत अर्थात् मन की अनुकूलता से उल्टा मन का प्रतिकूल रूप अनुभव में आने वाली स्थिति का सामना करना पड़ जाये। इस सब ऊपर कहे का तात्पर्य यही है कि मन की अनुकूल स्थिति से विपरीत यदि संसार में प्रतिकूल रूप से समझ में आने वाली अवस्था सम्मुख पड़े तो मन बुरी तरह से चलायमान हो उठता है। अब आत्मा अपने हल्के रूप में अपना सुख नहीं पहचानता। ऐसी अवस्था में भी सुख से सब काम करने की आदत डालने का अभ्यास बनाये रखना उचित है। यद्यपि तब (क्षोभ की अवस्था में) मनुष्य की स्मृति या मन की उपस्थिति भी नहीं रह पाती। तब स्मृति न रहने से कैसा भी आप ने उत्तम

धर्म अपना रखा है, मुक्ति पाने के निमित्त कैसी भी श्रद्धा या वीर्य (उद्योग) अपनाया है, उस सब से उस क्षुब्ध मन का शमन (शान्ति या शान्त रूप से टिकाव) सहज में नहीं बन पाता। यही क्षोभ पुनः ध्यान को भी टिकने नहीं देगा। है यह सब सुख की अधिक रूप से दासता के ही कारण, या फिर दुःख से अधिक भीरुता (डरपोकी) के ही कारण से।

ऐसी अवस्था में संसार के प्राणी और वस्तुएं न जाने किस-किस रूप में दिखलायी पड़ती हैं। और इसी के कारण ही प्राणियों का वर्ग भूल में पड़ता है। सुख देने वाला भी वैरी जैसे और वैरी भी मित्र जैसे प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार जड़ चेतन सारा ही जगत् मिथ्या दृष्टियों का ही शिकार हो जाता है।

अब ऐसी अवस्था में भी जो बोध को उत्पन्न करके ऐसे क्षुब्ध मन को सही धर्म पर रख करके शान्त कर ले, सोई धर्मात्मा सच्चा वीर है। परन्तु ऐसा वही पुरुष हो सकेगा जो कि क्षोभ से भड़का मन, क्षोभ की स्थिति के दुःख से केवल बचने के लिए, जब निद्रा की ओर झुके तब निद्रा का सुख लेने के लिए न बढ़े। ऐसी निद्रा भी एक तृष्णा की दासता के कारण से ही है कि कम-से-कम निद्रा से ही दुःख को भुलाया जाये। वैसे ही क्षोभ के दुःख से भड़का मन संसार में काम, क्रोध आदि विकारों के साथ मिथ्या दोषपूर्ण कर्म करने पर उतारू भी होकर अपना भविष्य ही सदा के लिये बिगाड़ने चल पड़ता है। इन्हीं दो दिशाओं से ही क्षोभ मनुष्य को साधारण जीव के सम्मुख

उपस्थित करके दिखलाता है और इन्हीं के अनुसार ही बिना विचार चलने की प्रेरणा करता है।

अब वही व्यक्ति इस धर्म को संकट में पड़ने की स्थिति को सम्भालेगा जो थोड़ा युक्ति-युक्त रूप से (कायदे से) निद्रा पर अपना अधिकार करे, दोष वाली निद्रा को भी वश में करके अपना और जगत् का सत्य खोज सके; क्षोभ के कारण को पकड़ कर उसकी सही चिकित्सा (इलाज) भी ध्यान में देख सके। और दूसरी ओर से जो जगत् के रास्ते से ही दुःख को दूर करने की तृष्णा है, उसे भी जीते। जगत् के रास्ते से दुःख को हटाने का तात्पर्य यह है कि यदि सब संसार में चाहा हुआ अपने मन के अनुकूल हो जाये तथा मन के अनुकूल बैठे तब ही अपना दुःख मिटे और वह भी सब समय के लिये, तभी क्षोभ का भार हल्का हो। यह भी एक अन्य प्रकार की जग की ही तृष्णा है। इसलिये एक ओर निद्रा को और दूसरी ओर जग की तृष्णा को जीतने वाला प्राणी ही इस धर्म मार्ग के संकट को दूर करके सही आत्मा परमात्मा के ज्ञान को पायेगा। ज्ञान रूप से दोनों को एक करके जानेगा। तब ही सर्वदा के लिए संसार से मुक्ति पाकर आत्मा के, बिना उपाधि के आत्मा के नित्य सुख में टिकेगा। उपाधि बिना आत्मा के सुख का यह तात्पर्य है कि जैसे सांसारिक सुख की उपाधियां या शर्तें हैं कि स्वास्थ्य सही हो; सब बाहर के साधन जुड़े रहें, अपने से विपरीत चलने वाला या करने वाला कोई भी न हो, इत्यादि शर्तें हों तो बाहर का सुख मिलता है। इन ऊपर कही बाहर की

उपाधियों के बिना बाहर का सुख नहीं मिलता। शरीर में वृद्धता या रोग आदि की अवस्था में वह सुख की उपाधियां न रहने से सुख बिगड़ ही जाता है। परन्तु आत्मा का सुख बिना किसी वैसी उपाधि के है; केवल आत्मा में आत्मा रूप से ही प्राप्त होता है। यह यदि एक बार संसार के बन्धनों से मुक्त होने पर मिल गया तो पुनः कभी भी नहीं बिगड़ेगा। बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए ही बोध या सब प्रकार के अपेक्षित (आवश्यक) सत्य के ज्ञान की आवश्यकता है। बोध उसी व्यक्ति के मन तथा बुद्धि में होगा जो युक्ति-युक्त रूप से (कायदे के अन्दर) निद्रा को भी जीते; इसके अधिक सुख का दास न हो; तथा वैसे ही मन के विकारों को शान्त करके ध्यान में टिक कर सत्य की खोज कर सके। एक दिन यही व्यक्ति अपने अन्दर आत्मा तथा परमात्मा, वैसे ही सब जीवों के अन्दर के सत्यों को भी पहचानकर बड़े आराम से सब के बन्धन से मुक्त हो जायेगा। तब आत्मा के ही सच्चे ज्ञान के साथ नित्य सुख प्राप्त होगा। यही सुख निरुपाधि है।

एक तरफ से भड़का मन तो उल्टा जग में धाय,
उधर से बचते जाते मन को नींद भी बहु सताय।
नींद व जग की तृष्णा (जो) रोके, शंका भय प्रचण्ड;
रोक इन्हें जो चिर तक विहरे, दुःख छीजै खण्ड-खण्ड।।
। २४७ ।

यह पद्य भी पूर्व पद्य के अर्थ को ही स्पष्ट करता है कि जैसे पूर्व पद्य में कहा कि युक्ति-युक्त, जितना कि उचित और स्वास्थ्य के विपरीत न हो उतना तो निद्रा को

जीतकर, या अपने वश में करके ध्यान का मन जगाकर बुद्धि को या मति को सही बात (सत्य) समझने की अवस्था में लाये; और दूसरी ओर जब मन जगकर संसार में ही भागे तो ज्ञान या तर्क जगाकर उसे जगत् की तृष्णा से टालने का ही पक्ष अपनाने के लिये प्रेरित करे तभी बोध या सत्य ज्ञान द्वारा जगत् के बन्धन से मुक्ति मिलेगी। तभी आत्मा में नित्य सुख की प्राप्ति होगी। उसी प्रकार इस पद्य में भी इसी अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया जा रहा है कि :-

पद्यार्थ :- एक ओर दुःख के क्षोभ से या सुख बिगड़ने या विघ्न में पड़ने के क्षोभ से मन भड़क कर बिना विचार के ही जगत् में भागता है; जगत् के ही ढंग से उपाय करने के लिये सोचता है। यह परीक्षा करने का धैर्य भी नहीं रखता कि जिधर भड़का मन सहारा लेना चाहता है, कहीं वहाँ इस भड़काने वाले दुःख से भी अधिक दुःख तो नहीं मिलेगा।

यदि मान लो ! उधर से थोड़ा बचता रहे; भड़क कर जिधर जग में भागना चाहता है, वहाँ अयोग्यता या अपनी शक्ति से बाहर का रास्ता हो तो निराश तथा और भी दुःखी होकर इस दुःख से बचने के लिये ही या इस दुःख से बचने के सुख के लोभ से ही निद्रा, आलस्य (सुस्ती) आदि दूसरी दिशा वाले वैरी बहुत सताने लगते हैं। और आती हुई निद्रा को जो कोई रोकना चाहे या कोई और इसमें रुकावट डाले तो मन और भी अधिक दुःखी होता है। यही निद्रा का अधिक सताना है।

यदि एक ओर निद्रा को जीते और दूसरी ओर जगत् की तृष्णा पर अधिकार पाना चाहे तो शंका, भय आदि प्रचण्ड हो उठते हैं। जैसे कि मन यूं शंका करे "निद्रा पूरी न करने से कहीं मस्तक (दिमाग) ही न बिगड़ जाये ? जगत् में हम अपनापन छोड़कर दूसरों की ही सहन करते जायें तथा सुख को त्याग दें तो हमें कोई जीने ही नहीं देगा ? सुख बिना जीवन भी कैसे रखा जा सकता है ?" इत्यादि बहुत प्रकार से शंका, भय आदि प्रचण्ड हो उठते हैं; अर्थात् मन में ये विकार बड़े बल के साथ मनुष्य को विपरीत धर्म या उल्टे संसार के मार्ग पर ही पटक देते हैं।

इन्हीं शंका, भय और इनके साथ-साथ रहने वाले काम, क्रोध, चिढ़, अधीरता, ईर्ष्या, मत्सर आदि को युक्ति या तर्क द्वारा, और धैर्य से दुःख सहन रूप तप द्वारा रोके; ज्ञानपूर्वक ही रोकने में ही अपना भला भी पहचानता रहे तो उसका संसार का दुःख छिन्न-भिन्न हो जायेगा। यही 'दुःख छीजे खण्ड-खण्ड' का अर्थ है। इन सब विकारों से अपने को रोककर आसन पर ध्यान में लम्बा समय व्यतीत करे या इन्हें रोकता हुआ लम्बे जीवन तक जीये तो अन्त में सब दुःख टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा; नित्य आत्म सुख प्राप्त होगा। यही सुख प्राप्त होकर कभी भी नहीं बिछुड़ेगा।

ॐ इति विवेक-वैराग्य वर्ग ॐ

卐卐

卐 अथ सम्मति शील रक्षण वर्ग 卐

थोड़ा सा युक्त जगना, मन थोड़ा युक्त हटाना,
जगने के और हटने में धीर सहले दुःख पाना।
इसी से ही होगा निश्चय स्थायी सुख का मेल;
क्षण सुख अन्त दुःख यही जग का खेल।।

। २४८ ।

गत पद्यों में अनित्य संसार में प्रवृत्ति के सुख से मुख मोड़ कर पुनः आत्मा में ही केवल निवृत्ति का सुख पाने की प्रेरणा थी। अब उसको किस प्रकार से इस मार्ग में दीक्षित व्यक्ति (जिसने अभी-अभी इस निवृत्ति मार्ग में पदार्पण किया है) अपने आप में अपना धर्म आरम्भ करेगा, उसको सादे और सरल भाव से इस पद्य में बतलाया गया है। इससे भौतिक (बाह्य) जीवन से मनुष्य उचित मात्रा में हटकर उतनी मात्रा में आध्यात्मिक (अपने आप के) जीवन में प्रवेश पाता जायेगा। इससे शनैः-शनैः आध्यात्मिक जीवन सधने लगेगा और एक दिन भौतिक जीवन केवल शरीर धारण करने मात्र तक ही सीमित रह जायेगा। 'जीवन साधन लक्ष्य है' (२३४), इस पद्य के अनुसार आध्यात्मिक जीवन में पहुँच जाने पर जीवन काल में भी मुक्ति का आनन्द प्राप्त होगा और अन्त में मनुष्य हाथ लगने वाले सांसारिक दुःखों से सदा के लिये ही मुक्त हो जायेगा। इसे ही आध्यात्मिक जीवन कहते हैं जो कि केवल आत्मा में ही या अपने आप में ही बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर को लगाये रखकर समय व्यतीत करना।

संसार में पुनः सब में होते हुए भी उनकी उलझन से बचते रहने के साथ जीवन धारण करने का नाम ही संक्षेप से आध्यात्मिक जीवन है। यही आध्यात्मिक जीवन का संक्षिप्त अर्थ है। अपनी आत्मा में ही भव सागर के दुःख का अन्त करना, संसार में नहीं उलझना।

दूसरा भौतिक जीवन वह है जो कि संसार में ही अपना उद्देश्य या स्वार्थ रखकर दूसरों में सब प्रकार के राग, द्वेष, मान, मोह आदि बन्धनों के साथ-साथ संघर्ष आदि के जीवन को धारण करना। आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ को यह पद्य दर्शा रहा है कि :-

पद्यार्थ :- अपने ध्यान पर बैठने के लिये थोड़ा प्रथम मन को जगने का अभ्यास डाले। जगने पर पुनः यदि संसार में ही सना हुआ मन उधर की ही दृष्टि, संशय, काम (इच्छा), क्रोध आदि विकारों में बहे तो उसे उधर से हटाने का या मोड़ने या बचाने का प्रयत्न करे। इन दोनों प्रकार के यत्न करने में जो थोड़ा दुःख या कष्ट हो, धैर्य के साथ उसे तप भाव से स्वीकार करने से आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ हो जायेगा। समय पाकर इसी से सदा बना रहने वाला स्थायी सुख मिलेगा। इस साधन को न करने वाले के लिये पुनः खाली रहना तो बनेगा नहीं, उसको मन संसार में ही घसीटेगा। उसका (संसार का) सुख तो क्षण भर का है, अन्त में केवल दुःख-ही-दुःख; यही संसार की लीला या खेल है; इससे पुनः आध्यात्मिक जीवन ही बचायेगा।

जग में सदा जो बना रहने का अभिशाप,
इससे न छूटे कबहुँ मन का सन्ताप।
इसी ही की खोज काम क्रोधादि उपजाये;
शून्य को न भाने देवे जग में धँसाये।।

। २४६ ।

गत पद्य में बतलाये गये आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ को भी अड़चन में डालने वाले भौतिक जीवन से सावधान रहने के लिये यह पद्य प्रेरणा देता है।

पद्यार्थ :- भौतिक जीवन का स्वरूप यही है कि अपने सब दुःख बाहर के भूतों या पदार्थों का सहारा लेकर ही दूर करने की सोचना और अपने मन को जो अनुकूल या सुख देने वाला समझ में पड़ता है, उस सब को भी संसार में ही खोजना। उसके लिये पुनः भला बुरा जो भी करना पड़े; संघर्ष, उलझन, प्रतिद्वन्द्विता (मुकाबलेबाजी) आदि ये सब इस भौतिक जीवन की ही आत्मा या स्वरूप हैं। यही सब संसार में होने का नाम 'भव' है। इसी संसार में होने की तृष्णा को 'भव तृष्णा' शब्द समुदाय से स्थान-स्थान पर कहा गया है। अब यही जो सदा जग में ही सुख पाने के लिये और दुःखों का अन्त करने के लिये पुनः संसार में ही अपने को बनाये रखने का अभिशाप (दुर्गुण) है इससे मन का सन्ताप या खेद या इसको करने वाला दुःख कभी भी नहीं छूट सकता। चाहे व्यक्ति कितना भी बुद्धिमान् संसार में बने, शक्तिशाली होवे या अधिकार सम्पन्न हो, उलझन, संघर्ष, वैर, विरोध बिना रह नहीं सकेगा। अपना,

पराया का भाव नहीं टलेगा; अपना स्वार्थ ही ऊपर रहेगा। दूसरे भी वैसी ही खींच करेंगे। जब वे अपनी ओर खींचेंगे तो दूसरे को भी संसार में वैसा ही बनने की प्रेरणा और भाव होता है। जब एक व्यक्ति अपना अधिकपना (ज्यादती) नहीं छोड़ता तो दूसरा भी उग्र हो जाता है। यही संसार का अभिशाप है। इसमें काम, क्रोध, शंका, भय आदि अनेक विकारों से पाला पड़ेगा; इन के साथ सुख नहीं दुःख ही होगा; अशान्ति ही हाथ लगेगी।

यदि आप केवल आत्मा में ही मन का शमन (शान्त करना) खोजें; बाहर संघर्ष के संसार में अपने दुःख का अन्त करने के लिये न भागें; और न ही सांसारिक विषयों का सुख पाने के लिये उसका अधिक सहारा ही लें तो आपको आत्मा या ज्ञानदेव में जहाँ कहीं भी संसार नहीं दीखता, वहाँ पहुँचने का यत्न करना होगा। उसी का साधन पूर्व पद्य चर्चा में लाया था। जहाँ संसार नहीं, शून्य पद भी उस स्थान को ही सूचित कर रहा है। परन्तु संसार की लगन इस शून्य का भान नहीं होने देती। जहाँ कि केवल ज्ञान-ही-ज्ञान अपने आप में आनन्दरूप से, सब दुःखों से परे भासमान हो रहा है; संसार की लगन संसार की ही दृष्टि बनाकर उसी के संस्कार जगाकर उसी में ही मन को खींचती है, खींच कर उसे वहीं फंसाये रखती है। साधक पुरुष को विवेक रखकर, मति को जगाकर तथा स्मृति भी रखकर यत्न या वीर्य द्वारा इससे बचते रहना चाहिए। यही इस पद्य का भाव है।

卐卐

थोड़ा करुणा का भाव और प्रकृति विवेक,
संग मान का भी त्याग और त्यागे भाव अनेक।
इन सब की उलझन को दृष्टि में बसाये;
पर शील, ध्यान राखे बिना, सफलता न पाये।।
। २५० ।

इस पद्य से पूर्व मुक्ति के मार्ग पर चलते हुए जन के लिये अपने आप (आत्मा) में अपनाये जाने वाले, आत्म सुधार के धर्म कहे गये हैं। जैसे कि उचित मात्रा में निद्रा की दासता पर अधिकार पाना, तृष्णा के मार्ग को समझ-समझ कर शरीर की आवश्यकता से अधिक इच्छाओं पर संयम रखना इत्यादि-इत्यादि सब केवल अपने आप अकेले में आचरण में लाने के धर्म हैं। यह सब आध्यात्मिक जीवन की साधना का एक भाग है।

अब दूसरा भाग है कि जीवन तो सब प्राणियों में या जगत् में एक दूसरे के संग मिलने बरतने के व्यवहार के साथ ही होगा। चाहे आप कितने भी एकान्त में बसें, जगत् के प्राणी वहाँ भी पहुँचेंगे ही। इसलिये अब उनमें बसने के धर्म भी मनुष्य को जानने और अपनाने पड़ेंगे। उनके लिये विशेष यत्न भी रखना पड़ेगा। जैसे कि जगत् के प्राणियों के अभ्यास (आदत) या स्वभाव अपने-अपने बाहर के स्वार्थ के बने बैठे हैं, वैसे होते हुए तो वे सब आध्यात्मिक जीवन के मार्ग पर चलने वाले धार्मिक प्राणी को अनुकूल न भी बैठें। इसलिये उसे कुछ व्यापक जीवन स्वरूप अपने और दूसरे सब में एक परमात्मा की पूज्य दृष्टि रखकर सब अच्छे मन के भाव और अपने शील के अच्छे बर्ताव के

साथ ही रहने से मोक्ष के रास्ते पर चलना बन सकेगा। अब इसी विषय को यह पद्य सूचित कर रहा है।

पद्यार्थ :- मोक्ष मार्ग वाले मनुष्य को बाहर जगत् में जब-जब दूसरे प्राणियों में कोई बर्ताव करने का अवसर बने तो उसके लिये दूसरों के प्रति करुणा (दया) का भाव रखना उचित है। दूसरे का दुःख चाहे वह किसी में भी दृष्टि में पड़े या मन में समझने में आये वहाँ उपेक्षा की (भाव शून्य) दृष्टि रखकर बर्ताव करने से बाहर अधिक उलझन बढ़ेगी। दूसरे जन उसे शून्य हृदय वाला प्राणी मानेंगे। तब पुनः उसके दुःखी दीखने पर वे भी शून्य हृदय जैसे ही उससे बर्ताव करेंगे। इससे संसार में प्राणी उत्तम रीति से नहीं रह सकता। यह ठीक है कि लोग तो अपने स्वभाव से प्रायः विशेष स्मृति के या मन की उपस्थिति के बिना ही अपना सब प्रकार का बर्ताव करने के आदी हैं, परन्तु उनके व्यवहारों से चलायमान होकर आध्यात्मिक प्राणी अपना धर्म क्यों छोड़े ? उसे अपना आर्य (पूज्य) भाव बनाये रखना चाहिये। दूसरे के व्यवहार (बर्ताव) के बारे में थोड़ा प्रकृति अर्थात् जगत् को चलाने वाली तथा सब बन्धन विकारों वाली शक्ति का भी विवेक रखे। इसी के लिये ध्यान का बल रखे। किस प्रकार बाहर जगत् में तृष्णा से भूला-भूला प्राणी समझता या न समझता हुआ भी उस (प्रकृति) की शक्ति से अपने लिये बुरा भी कर जाता है ? उस बेचारे से बचा ही नहीं जाता। प्रकृति या स्वभाव से अपनाया हुआ सुख रूप स्वार्थ जो वह नहीं छोड़ सकता; मिथ्या भी बोला जाता है; अंहकार में दूसरे को

दुःखी भी किया जाता है। अपने स्वार्थ को पूरा करने में भूला हुआ न जाने दूसरों के संग अच्छा बुरा लगने वाले वह क्या-क्या बर्ताव कर जाता है। प्रकृति के बन्धन से छूटने की शक्ति नहीं। छोड़ना चाहे भी; दुःखी भी है; समझ भी रहा है, तब भी ऐसी इसी शक्ति की विस्तीर्ण (फैली हुई) उलझन में पड़ चुका है कि उसे दूसरों जैसा ही चलना पड़ रहा है। राग, द्वेष, संशय, भय, मान, मोह की शक्तियां सदा उसे एक पुतले के समान घुमा रही हैं। यही सब प्रकृति का विवेक है। यहाँ थोड़ा संक्षेप से दिशा मात्र ही सूचित की गई है। यदि आप अपना शील (सही बर्ताव) रखते हुए उनमें न उलझें, तो आप ध्यान के योग्य होकर इस प्रकृति के अनन्त राज्य और अनन्त शक्ति, जो बान्धने वाली है, उसे देखेंगे और आप स्वयं मुक्त होने के लिये अपने धारण करने के धर्म को और भी तेज बनाये रखने के लिए सदा चिन्तित और आध्यात्मिक मार्ग पर ही व्यस्त (जुटे) रहेंगे, और उस पर चलने के थोड़े दुःख से भयभीत भी न होंगे। अब जीवों की प्रकृति (स्वभाव) को ध्यान में समझकर उनकी बाध्यताओं (लाचारियों) को भी समझने पर आपको उन पर स्वयं दया भी आने लगेगी। तब आप स्वयं अपने मान और उसके साथ-साथ दूसरों के अनुचित व्यवहार से होने वाले क्रोधादि के विचार और दुर्भावों को भी त्यागना चाहेंगे। यदि भय मान करके उन मान के साथ होने वाले और कई एक दूसरों के प्रति मिथ्या बदले आदि के भाव या मिथ्या दृष्टि और निन्दा के भाव हैं उन सब को भी बलपूर्वक थोड़ा दुःख सहन करता हुआ भी त्याग ही दे अर्थात् उनका परिहार (टाल) कर ही

दे तो वह उद्योगी पुरुष सही रीति से अपने आप में या अपनी आत्मा में शान्त होने का अभ्यासी होगा। यही सच्चा आध्यात्मिक पुरुष अन्त में आत्मा तथा परमात्मा को पहचानेगा; इनको एक करके जानेगा। इन सब मान और द्वेष तथा क्रोध आदि के अनन्त भावों की मिथ्या कर्म रूप में सामने आने वाली उलझन को भी दृष्टि में रखे, और उसका दुःख रूप दण्ड और संसार की न समाप्त होने वाली उलझन को भी दृष्टि में रखे जिससे इन को रोग समझ कर इनसे बचने की प्रेरणा मिलती रहे।

इस सब को दृष्टि में रखने पर भी जब तक मनुष्य शील (अपने सही व्यवहार, बर्ताव) को भी यत्नपूर्वक न रख सकेगा तब तक उसे सफलता अर्थात् योग मार्ग में या संसार के दुःखों से अत्यन्त मुक्ति के मार्ग में सफलता प्राप्त न हो सकेगी। इस शील (सही बर्ताव) को रखने और दूसरों के प्रति दया आदि का भाव बनाये रखने के लिये तथा असलीयत (सत्य) को समझने के लिये एकान्त में शान्त ध्यान की भी अति आवश्यकता है। इसके बिना सफलता दूर-दूर ही दिखलाई पड़ेगी।

यह जो करुणा, शील, ध्यान रूप तीन बलों पर यहाँ विशेष बल दिया जाता है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि पीछे इसी धर्म ग्रन्थ में कहे गये दस बलों (मैत्री आदि) में से ये तीन ही आवश्यक हैं; शेष (बाकी) सब बलों की आवश्यकता नहीं या न्यून (कम) आवश्यकता वाले हैं। वे सब अपने-अपने स्थान पर अधिक महत्त्व रखते हैं। जैसे कि किसी के भी सुख में ईर्ष्या सा मत्सर (द्वेष) आदि होने पर उनके मन की शुद्धि के लिये मैत्री आदि भी आवश्यक

हैं। किसी दूसरे के पापों पर अपनी दृष्टि (नज़र) पड़ने पर जबकि उन्हें हम सुधार तो सकते नहीं, ऐसी अवस्था में उनके प्रति उपेक्षा से या भाव शून्य सा रह कर ही अपने आप को सम्भाले रखें। यदि किसी के भी किसी अच्छे गुण पर दृष्टि जाये तो उसके दोष को न खोजते हुए उसके गुण को ही दृष्टि में बसाकर प्रसन्न होना चाहिये (मुदिता)। काम-क्रोधादि विकारों को शमन (शान्त) करने के लिये वीर्य बल की सबसे अधिक आवश्यकता है। ध्यान द्वारा सत्य ज्ञान रूप बल को तो प्रकृतिविवेक शब्द के व्याख्यान के समय ही कह दिया गया है। मान का त्याग ही सबसे बड़ा दान का बल है। इस प्रकार दसों बलों की ही यहाँ सूचना समझनी चाहिये। इसी से ही बाह्य व्यापक की भक्ति और मन की उलझन सदा के लिये शान्त होगी। नहीं तो मौके के, इस उस व्यक्ति के आदतों से होने वाले व्यवहार (बर्ताव) धार्मिक व्यक्ति को भी दूसरों के समान ही राग-द्वेषादि बन्धनों के चक्रों में डाल कर उसे आत्मा में ही शान्ति सुख पाने के मार्ग पर चलने नहीं देंगे। इसलिये बाहर इस चारों ओर फैले जीवन के सागर रूप प्रभु की माया शक्ति से बचने के लिये इन्हीं बलों को अपनाने की प्रेरणा इस पद्य में भी विशेष रूप से दी गई है।

हर्ष बहुमान जने उद्धता का भाव,
यासे कौकृत्य बने सहज के स्वभाव।
होवे ऐसा वेग सहज रोका भी न जाये;
स्मृति राखे, संग त्यागे, दृष्ट उलझन बचाये।।
। २५१ ।

आध्यात्मिक जीवन को साधने वाले के लिये जैसे अपने आप में संयम, ध्यान, आसन आदि आवश्यक हैं ऐसे ही बाहर संसार भी जिससे उसके कार्य में विघ्न उपस्थित न करे वैसे ही जीवन को ढालना पड़ेगा। यह वार्ता पहले कही जा चुकी है।

अब यह पद्य भी ऐसे ही अपने मन को अभ्यस्त (अभ्यासयुक्त) बनाने के लिये सुझाव देता है कि जब कभी मन में हर्ष की लहर आ जाती है तो यह भी व्यक्ति के मन में अपने आप को आवश्यकता से अधिक मान देता हुआ उद्धता (उछाल) के भाव को जन्म देता है। इसका तात्पर्य यह है कि मन अपने से अधिक उछल पड़ता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य से खोटे जैसे कर्म (कौकृत्य) बनते हैं। यह औद्धत्य के साथ कौकृत्य (खोटे जैसे कर्म) सहज स्वभाव से बन्धा है। यह दूसरों में साधक के प्रति पूज्य या श्रेष्ठ भाव को नहीं बनने देता जिससे कि उसकी बाह्य जीवन यात्रा बिना विक्षेप के हो सके।

इस औद्धत्य का वेग भी ऐसा नदी के वेग के समान तीव्र होता है कि इसे रोकना भी कठिन हो जाता है। यह उछाल होने पर स्मृति (याद) भी शिथिल पड़ जाती है। मनुष्य बाहर संसार में अनुचित प्रकार या ढंग से व्यवहार (बर्ताव) कर बैठता है जिससे उस साधक व्यक्ति की छाप दूसरों पर विपरीत सी पड़ती है। ध्यान में भी यह उछाल वाला मन सफलता प्राप्त करने नहीं देता। हर्ष या मन की अधिक प्रसन्नता से यह उछाल होता है।

जैसे कि कोई संयम साधन करने वाला व्यक्ति अपनी

थोड़ी स्वाभाविक व्यर्थ के सुख की आदतों को रोके। दूसरे उसे वैसा समझने पर उसके पूर्व के आचरण को मन में रखकर उसे प्रत्यक्ष उसके मुख पर कहें कि 'यह आपने संयम का बड़ा भारी काम किया; और इन सुखों को त्याग दिया', इत्यादि उसकी सराहना करें तो वह उससे उछल कर बहुमान में उनसे कहे कि 'ओह ! मैं ऐसे वैसे सुखों की कोई परवाह नहीं करता', 'इन के सुख त्यागने का मुझे कोई भी भय नहीं'। और बड़े जोर की हंसी के साथ उनमें अपनी डींग हांके तो यह औद्धत्य-कौकृत्य का ही उदाहरण है। ऐसे ही ध्यान में भी आत्मा के बारे में छोटा-मोटा कोई छिपा सत्य पाने पर जो मन में प्रसन्नता होती है, उसे भी अधिक मान कर लोगों में अपनी बड़ाई और ज्ञानीपने की डींग हांके इत्यादि-इत्यादि मन के बहुत से उछाल बाहर कौकृत्य (खोटे कर्मों जैसा भाव) के दृष्टान्त (मिसाल) हैं। इन्हें अपने मन में समझते हुए स्मृति को और भी तीव्र बनाये और व्यर्थ की बातों में डालने वाले संग को भी त्याग कर जीवन नौका खेने का अभ्यासी बने। यह बातें उन्हीं व्यक्तियों में अधिक होती हैं जो अपने आप में अपने लिये आचरण सीखने में तो शिथिल हैं, दूसरों को देखकर उनमें भी मनोविनोद ही अधिक खोजते हैं। इसलिये ऐसे सब संग से दूर रहे।

किसी का अपराध भी न मन में बसाये,
तासे क्रोध क्षोभ मिथ्या कर्म कराये।
करुणा का संग राखे पर शोधन का भाव;
शम सुख सहित देखे विद्या का प्रभाव।।
। २५२ ।

जैसे पद्य २५० में करुणा, शील, ध्यान को बाहर संसार में अभ्यस्त करने के लिये सुझाव दिया गया था; यहाँ भी दूसरों की बाह्य उलझन से बचने के लिये क्षमा और वीर्य नाम के बलों पर मुख्यतया बल दिया जाता है।

पद्यार्थ :- बाहर संसार में विचरते और विहरते (अपने कर्मों में लगे) प्राणी अपनी स्मृति की सबलता न होने के कारण से या धर्म बुद्धि न होने के कारण से कई एक बार धार्मिक जन को दुःख देने वाले जैसे प्रतीत होंगे। उनमें दुःखदाता की दृष्टि बनेगी, वह भी बिना किसी अपने अपराध के। ऐसी अवस्था में वे दूसरे जन अपराधी समझ में पड़ेंगे। मन उनके प्रति भड़केगा; द्वेष, क्रोध में बहेगा। मिथ्या वाणी या कर्म करने की भी मन सोच सकता है। इस सब से तो मोक्ष मार्ग या मन या अन्तःकरण की शुद्धि का मार्ग बिगड़ेगा। ऐसी परिस्थिति या मन की अवस्था बनने पर मनुष्य को साधन रूप से दूसरे के अपराध को बार-बार मन के सामने लाना ठीक नहीं। इससे क्रोध अधिकाधिक उत्पन्न होगा, मन क्षोभयुक्त होकर डरेगा भी। जैसे सागर में जल की अधिक बाढ़ या ज़्वार आ जाने पर वह उछल कर बहुत दूर की धरती को भी डुबो देता है, ऐसे ही मन में क्षोभ भी इसे उछाल कर न जाने किधर-किधर घसीटे और मिथ्या शान्ति और मोक्ष के विपरीत कर्मों में या वाणी विलास में डाल कर बाहर दूसरों में अपने जीवन को विकृत या धुंधला जैसे, हँसने के योग्य बना दे।

ऐसी अवस्था में अपने में वैसे अपराधियों के प्रति भी थोड़ा दया का भाव रखकर ही आप स्वयं उनके अपराध

को सहन करके अपना अच्छा बर्ताव दिखलाकर उनको भी शोधने का भाव रखे। यह ईश्वर या भगवान् का प्रिय भक्त बनने में सहायक होगा। भगवान् की सबके प्रति उनके अपराधों में क्षमा होती है और उसकी भलाई अन्त ध्यान में। इस प्रकार वीर्य (हिम्मत) बल द्वारा अपने मन का भाव शुद्ध करके और क्रोध आदि को शान्त करके पुनः अपने आप में विद्या का प्रभाव देखे अर्थात् शान्त हुए अपने आत्मा के ज्ञान वाला हो और सकल विरोधी संसार में भी शान्ति और सुख प्राप्त करे। यही विद्या या शान्त आत्मा ज्ञान का उत्तम फल होगा। एक बार प्राप्त होने पर पुनः कभी भी नहीं बिछुड़ेगा। संसार से भाग कर कोई कहाँ जाकर जीयेगा ? या किन-किन के सहारे में बस कर सदा बने रहने वाली शान्ति पायेगा ? केवल ऊपर कहे गये साधनों द्वारा ही आत्मा में सबसे उत्तम वास और टिकाव मिलेगा। यही अन्त में उत्तम शरण मिलेगी। यह स्थायी सुख शान्ति मिलेगी।

प्रकृति स्वभाव से प्रथम पूर्व पक्ष छाये,
सभी बन्धन उसी के बल से मिथ्या मार्ग चलाये।
चेत रही तो चेतन मन हो चेता दे भी बचा;
तप, त्याग और शमन के संग जो शून्य में सुख जचा।।
। २५३ ।

गत पद्य में बतलाया गया कि जैसा दूसरों को तथा उनके व्यवहारों को देखते समझते हुए बाह्य भौतिक जीवन या बाह्य सांसारिक स्वार्थ वाले व्यक्ति का मन बनता है, वैसा इस आध्यात्मिक जीवन या संसार के स्वार्थ से निवृत्त

होने वाले व्यक्ति का न बन कर दया, क्षमा, मैत्री और त्याग आदि पूर्वक अपने को या अपने भड़के मन को शान्त करने वाला मन ही उत्पन्न होना चाहिये या वैसी श्रेष्ठ गुणों वाली रचना के लिये यत्न करने वाला ही होना चाहिये।

पद्यार्थ :- अब यह पद्य यह दर्शा रहा है कि बाह्य जन्म से मिलने वाले जीवन की धारा के अनुसार तो प्रथम प्रकृति का सर्व जीव साधारण, सुख-दुःख से राग-द्वेषादि पूर्ण मन ही बनता है। यह प्रकृति के अपने भावों के अनुसार प्रथम प्राप्त है। पहले जीव को आकर यही घेरता है। इसी को पद्य में पूर्व पक्ष नाम दिया गया है। इसी में सुख, दुःख, शंका, भय आदि विकारों या प्रकृति के अनेक वैसे भावों वाला मन पहले प्रकृति के स्वभाव से ही बनता है। और बिना अधिक सोचे समझे जीव मात्र में अपने ही ढंग की सौम्य (शान्त) या उग्र दृष्टि बनाकर प्रीति या वैर की विद्युत (बिजली) के समान तरंग जनाता हुआ जीव को शरीर और इन्द्रियों द्वारा वैसे ही कर्म चक्र में डाल देता है। आगा या पाछा सोचने का अवकाश तक भी नहीं देता। इस पूर्व पक्ष (पहले पहल वाले प्रकृति के बल) द्वारा ही सब प्रकार के राग, द्वेष, संशयादि बन्धनों का बल जीव मात्र को मिथ्या मार्ग पर ही ले जाता है। मिथ्या मार्ग वह है जिस पर चलने से मनुष्य या प्राणी मात्र अपनी भलाई नहीं कर सकता, पर अन्त में दुःख को ही पाता है।

अब मनुष्य जन्म की सार्थकता इसी में है कि मनुष्य मात्र में ही होने वाली भले बुरे को पहचानने वाली बुद्धि को

चेतन करके (जगा करके) उस मिथ्या मार्ग से मनुष्य अपने को बचा ले। यदि पूर्व पक्ष या प्रकृति के बल में उसे होश, स्मृति, सावधानी या मन की उपस्थिति (हाज़री) रह पायी तो मनुष्य अपने मन को भी चेतन कर लेगा अर्थात् जगा लेगा। होश में स्मृति में लाकर आने वाले अनर्थ को बुद्धि द्वारा समझ कर उससे बच जायेगा। चेता हुआ (जगा हुआ) मन ही बचा सकेगा और वह भी जगकर त्याग, तप और मन के भड़कने पर शमन या शान्त करना रूप गुणों के साथ होने पर ही बचा सकेगा या बचाने का यत्न कर सकेगा। और बचाने का तात्पर्य यह है कि संसार की उलझन में नहीं पड़ने देगा और भविष्य में पड़ने वाले दुःख को पहले से भांप कर टाल देगा। ऐसी अवस्था में संसार वाला मन संसार मार्ग से रोका जाने पर, उस संसार के सब भाव विकार तक भी त्यागने पर और संसार के संग से बनने वाली 'मैं' को भी न अपनाने पर अपने आप में ही शान्त होगा। संसार की रौनक या संसार में ही विविध रूपों में खेलती हुई अपनी 'मैं' प्रकट रूप से अपने आप का बना या बसा स्वरूप सम्मुख रखती है जिसमें सब मिथ्या संग और मिथ्या कर्म भी होते हैं। यदि वह पहले वाली 'मैं' नहीं मिलती या दीखती तो उसी के बिछोड़े में मनुष्य शून्य-सा अपना आपा अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य विवेक के बिना पुनः चलायमान होकर पहले के सुख साधनों की ओर ही लपकता है। यदि थोड़ा धैर्य रख कर अपने को ऐसी शून्य अवस्था में टिकाये या सम्भाले रखे तो उसका ज्ञान स्वरूप आत्मा समय पाकर

अनुभव में आ जायेगा और वह सुखी होगा। परन्तु एकदम संसार को मन से निकालने पर पहले पहल तो शून्य या सन्नाटे जैसा भाव बुरा अवश्य लगेगा। परन्तु जैसे एकदम प्रकाश या तीव्र प्रकाश न रहने से या बुझ जाने से अन्धकार भी गाढ़ प्रतीत पड़ता है। थोड़ा समय स्मृतिपूर्वक सावधान रहने पर पुनः अन्धकार में भी कुछ तारों का मन्द या सौम्य प्रकाश प्रतीत होकर मनुष्य के गाढ़ अन्धकार वाले मन की घबराहट (अस्त-व्यस्त भाव) को शान्त कर देता है। उसे अपनी चमकती हुई आत्मा (अपना आप) शान्त स्वरूप से (घबराहट से परे) मिल जाती है। ऐसे ही संसार से अपने मन में सब बन्धनों से टलने पर शून्य में बसा रहने वाला शान्त शिव स्वरूप, सत्-चित्-आनन्द रूप आत्मा यदि मिल गया तो शून्य में होने का सुख भला जचने लगेगा। तब पुनः संसार में ले जाने वाले मन से अत्यन्त मुक्ति मिल जायेगी, पुनः कभी भी दुःखपूर्ण संसार में रुलना नहीं पड़ेगा। पहले पहल संसार से टलने पर सन्नाटा या शून्य जैसा भाव बुरा लगता है। संसार के मार्ग से प्रथम टलने पर सुख से उस संसार में लपका मन दुःखी भी अवश्य होगा। परन्तु धीरे-धीरे त्याग, तप तथा मन को विचार तथा ज्ञान द्वारा शान्त करते रहने से एक दिन शून्य में भी आत्मा चमक ही जायेगा। संसार की चमक पहले साधन द्वारा आँखों से टलनी चाहिये। पुनः आत्मा की शान्त शीतल ठण्डक मिलेगी। परन्तु पहले संसार से या इसके मिथ्या सुख से मुख मोड़ना रूप त्याग रूप गुण को अपनाना होगा। यह थोड़ा कठिन तो है परन्तु

विवेक के द्वारा इस गुण को अपनाया जा सकता है। त्यागी बनने पर पुनः मन दुःखी होगा। तब थोड़े दुःख को भी अपनाना रूप तप भी अपनाना पड़ेगा। अब तप या दुःख स्वीकार करने पर मन अनेक प्रकार से उछलेगा; शंका, भय, प्रीति, द्वेष, मोह, मान, अविद्या आदि द्वारा मनुष्य को विक्षिप्त और दुःखी कर देगा। तब चेतने की या अपने मन को वहाँ से ज्ञान जगाकर शान्त करने की आवश्यकता है। यदि कोई यह कर सका तब अन्त में वह शून्य में भी बसी ज्ञान रूप आत्मा को पहचानेगा और भव सागर से पार उतरेगा।

बन्धनों से बद्धके तो मारग ही हैं दोये,
वही जग का मारग या फिर जड़मति होये।
मति की जड़ता के संग अविद्या गाढ़ सताय;
शुभ मार्ग न मिला तो जग में ही रुलाय।।
। २५४ ।

गत पद्य में प्रथम प्रकृति द्वारा दिये गये जीवन के उत्तर में या पीछे जगाये जाने वाले जीवन की चर्चा थी जिसमें त्याग, तप और मन का शमन रूप गुण ग्रहण करने योग्य बतलाये गये। तभी सदा के लिये संसार से छुटकारा (मुक्ति) रूप पुरस्कार मिलने की चर्चा की गई थी।

अब इस पद्य में यह स्मरण कराया जा रहा है कि यदि गत पद्य में कहे के अनुसार जीवन न ढला या ढाला गया तो दुःखपूर्ण संसार में ही रुलना पड़ेगा जो कि अनन्त है अर्थात् दुःख का कहीं अन्त भी नहीं है; पुनः-पुनः वही सम्मुख आयेगा।

पद्यार्थ :- प्रकृति के दृष्टि, संशय, राग, द्वेष, मान, मोह, अविद्या आदि बन्धनों से बन्धने के लिये तो दो ही मार्ग हैं। जब मन निद्रा से जागा तो संसार में ही इन्द्रियों द्वारा इस (संसार) को जानकर, मन से सोचकर इसी का सुख पाने के लिये व इसके दुःख से बचने के लिये पाप, उग्र कर्म, द्वन्द्व, संघर्ष आदि में उलझ जायेगा और पुनः उन्हीं सब ऊपर कहे गये बन्धनों को और भी दृढ़ करेगा। यह तो संसार का एक मार्ग है। दूसरा मार्ग है जब संसार में जागते मन के बाहर संसार में भटकने से और उसके साथ-साथ प्राण शक्ति के भी बाहर संसार में अत्यन्त भटक जाने से श्रान्ति (थकावट), खेद, दुःख बढ़ गया तो संसार से अल्प काल के लिये निवृत्त होना रूप निद्रा में संसार वाला अपना आपा खो देना। यही 'जड़मति' शब्द से पद्य में कहा गया है। मृत्यु भी अन्त में इसी दूसरे मार्ग का ही नमूना है।

अब यही जो मति की जड़ता का प्रसंग यहाँ आया है तो यही अन्त में संसार छूटने पर मनुष्य में गाढ़ अविद्या के रूप में आत्मा को अन्धकार में डाल देगा। संसार तो खो गया; तृष्णा वाला मन अनन्त ज्ञान को, सारे जगत् की विभूति वाले को तो कभी भी पहचान न सका। इसलिये अविद्या के अन्धकार में पड़ा वही जीव गत पद्य के व्याख्यान में चर्चा में आयी, अपनी पुरानी संसार में मिलने वाली 'मैं' के न मिलने पर विनाश की शंका से खिन्न, दुःखी (परेशान) होकर पुनः संसार के संस्कार जगाकर संसार को स्वप्न के समान देखता हुआ कहीं संसार में ही

卐卐卐

रुलेगा। यह अपने आत्मा का घात (हनन) करने वाले का दण्ड है। परमार्थ में शान्ति के मार्ग को न चल सकने वाला तथा विपरीत संसार की ही दिशा में बहने वाला आत्मघाती नाम से शास्त्र में कहा जाता है।

बाल मुख उठाये करे जग में ही प्रयाण,
बसा मन में सुख कभी का हरे उसके प्राण।
पाछा छोड़ाने की जब जन राह कोई न पाये;
मिथ्या मति दुर्गति में निश्चय मर कर जाये।।
। २५५ ।

गत दो पद्यों का यह भावार्थ था कि यदि जगत् को रचने वाली प्रकृति की शक्ति के प्रवाह से निकलने के लिये योग्यता होते हुए भी पुरुष ने अपने को चेतन न किया, समझ से प्रकृति में बहते मन को न बचाया, न ही ज्ञान उत्पन्न करके जगाया तब या तो संसार में ही धक्के खाने पड़ेंगे या पुनः मति की जड़ अवस्था रूप निद्रा आदि तमोगुण के अन्धकार में ही पड़े रहना पड़ेगा। वहाँ भी कोई सदा बना रहता नहीं; तमोगुण या जड़ता की अवस्था में पुनः अपने विनाश की शंका होने पर उससे निकलने के सही मार्ग का ज्ञान या अभ्यास न होने पर पुनः संसार में ही आना पड़ता है। अविद्या द्वारा आत्मा ढका रहता है। इसी अविद्या के कारण से मनुष्य संस्कारों को जगाकर, संसार में ही जन्मा कर अपने ज्ञान को पाता है। इसका तात्पर्य यह है कि तमोगुण एक अन्धकारमयी अवस्था है; इसमें ज्ञान की शून्यता सी होने से या ज्ञान का प्रकाश न होने से ज्ञान स्वरूप जीव का आत्मा या अपना

आपा, अपने विनाश या नष्ट होने के भय की शंका वाला हो जाता है। यदि इसी आत्मा का अपने आप में ज्ञान न हो सका तो पुनः ज्ञानरूप आत्मा बिना तो जीव रह न सकेगा। इसीलिये पुनः इसे ज्ञान पाने के लिये संसार के संस्कार जगाकर संसार में ही जन्मना पड़ेगा। 'यही आवागमन का चक्र है जो कि प्रकृति के स्वभाव से तो कभी समाप्त होने वाला नहीं। यही दुर्गति स्वरूप भी है।

अब यह पद्य संसार की ओर जीव के झुकने की आरम्भिक अवस्था का परिचय देता है और उससे उसी समय ही आध्यात्मिक या अध्यात्म (धर्म) के मार्ग का अनुकरण करने की प्रेरणा देता है।

पद्यार्थ :- बाल या सही समझ न रखने वाला व्यक्ति, चाहे वह अवस्था में बढ़कर वृद्ध भी क्यों न हो गया हो, यदि उसकी समझ अभी अपनी भलाई नहीं सोच सकती तो वह अभी बाल (नादान) ही है, अपने मुख को उठाकर जग की ओर ही चलना आरम्भ करता है। इसका यह भाव है कि जब भी उसे अकेले अपने में शान्त भाव में या सुख में बैठे प्रथम अन्दर से तृष्णा अपने भँवर में डालती है तो तृष्णा अपने आप में न दीखती हुई उस जीव के सत्-चित्-आनन्द रूप आत्मा के स्वरूप को अविद्या रूप से अपनी ही (तृष्णा की) एक दशा द्वारा ढांक लेती है। उस तृष्णा के भँवर में पड़े जन को प्रथम केवल एकान्त में भी अरति (जो कि तृष्णा की ही बहन है) या मन के न लगने की दशा भी खिन्न, दुःखी या परेशान करती है। वह उस मन के न लगने के कारण को न जानता हुआ झट बालक जैसे

उसके संस्कार उस समय प्रकट होते हैं, वैसे ही वह चल पड़ता है। इसी भाव को लेकर कहा है कि बालक मुख उठा कर जगत् की ओर चलना आरम्भ कर देता है। मुख शब्द यहाँ तृष्णा के विषयों को भोगने के साधन रूप में कहा गया है। मुख से ही भोग पदार्थ अधिक करके प्राप्त किये जाते हैं। दुःखी को तृष्णा ही प्रथम अपने संसार के स्वभाव से प्रेरित्त करती है। इस तृष्णा के भँवर में पड़ने पर, मन की अरति (अलगाव) होने पर संसार में मन के भटकने के साथ-साथ ही उस जीव की प्राण शक्ति भी भटकने लगती है। जिधर मन गया श्वास या देह में सर्व क्रिया करने वाला प्राण भी तो उससे भटकेगा ही। वही पुनः खेद, दुःख, श्रान्ति (थकावट) लाकर जीव को दुःखी करके पुनः निद्रा आदि में डाल देता है। परन्तु यह जो मन बाहर संसार में भटका है यह वही मन है जिसमें संस्कारों में किसी समय का हुआ-हुआ सुख बसा हुआ है। चाहे अब उस सुख का समय नहीं भी रहा; केवल उसकी शुभ (बढ़िया) लगने वाली दृष्टि (नज़र) ही इस (बाल) को भ्रमा रही है।

अब यदि यह जन श्रद्धा न रखता हुआ पूर्व के रास्ता जानने वाले ऋषियों के आत्म संयम (अपने को काबू करने) के मार्ग को नहीं जानता; क्योंकि सुना, पढ़ा नहीं या सुनने पढ़ने पर भी श्रद्धा नहीं उपजी, श्रद्धा रखकर थोड़ा उद्योग भी नहीं किया, तो वह उनके संसार से निकलने के मार्ग को भी नहीं जानता। उसका पीछा यह संसार की सेवा कभी भी नहीं छोड़ेगी। तब इसका परिणाम

(नतीजा) यही होगा कि मनुष्य उसी तृष्णा के भँवर द्वारा अपनी प्रेरित मति को संसार में ले जाकर ही तृप्त करना चाहेगा और अपने आप को सुखी समझेगा और अन्त में उसी तृष्णा के साथ दूसरी अन्धकार में खो जाने की तृष्णा रूप से निद्रा और मृत्यु को भी सदा स्वीकार करता ही रहेगा। यही संसार में ही रहने को सुख मानने वाली मति मिथ्या है, क्योंकि यह मनुष्य की भलाई के विपरीत है; इसीलिये मिथ्या है। इसके कारण जन्म-मरण का चक्र ही दुर्गति रूप है। इसी को लेकर साधारण मनुष्य मरेगा और संसार से कट जायेगा; पुनः जन्म ग्रहण करेगा। यही दुर्गति स्वरूप है। यदि इसी पुरुष ने ऋषियों के मार्ग को जानकर श्रद्धा रखकर थोड़ा आरम्भ में नियम, धर्म रखकर तथा संयम का दुःख देखने का भी धर्म या अभ्यास करना सीखा हो तो वह संयम धर्म यहाँ तक अन्त में उन्नत हो जायेगा कि एक दिन सारी ही संसार की तृष्णा देख-देख कर, ज्ञान विवेक द्वारा उस को दुःख की जड़ समझ कर और इसी तृष्णा की बन्धनों की दशायें राग, द्वेष, मोह, मान और अन्त में अविद्या रूप पहचान कर सब कुछ टालने या परिहार (त्याग) करने का उत्साह भी पाया जा सकेगा। और अन्त में इसकी सब शाखायें मिथ्या दृष्टि, संशय, व्यर्थ के कर्तव्यों के न समाप्त होने वाले विचार और रूप-अरूप लोकों की प्रीति आदि त्याग कर अपने आप में ही संसार से और इसके सब दुःखों से भी छुटकारे (मुक्ति) के सुख को भी नित्य रूप से अपने आप (आत्मा) में पाकर कृत-कृत्यता प्राप्त कर ली जायेगी। यही सब इस

पद्य का भाव है। यदि यह मार्ग न मिला तो वही संसार का ही मार्ग और अन्धकार में रुलने का तथा जड़मति होने का ही मार्ग प्राप्त होगा और आवागमन का दुःख कभी भी नहीं छूटेगा। संसार से पीछा छुड़ाने का आत्म ज्ञान का सब साधनों वाला मार्ग यदि न मिला तो संसार में ही सुख समझने वाली मिथ्या मति संसार में जन्म-मरण रूप आवागमन की दुर्गति में ही ले जायेगी।

अपराधन का मूल बसा है कोई प्रसाद,
ठीक ! कर्त्ता का ही उस में छिपा है प्रमाद।
निज में, निज के हेतु ऐसा सुख निश्चय त्याग;
पर में पड़े जो दीखे, तो पर मैत्री में जाग।।
। २५६ ।

पीछे पद्य (२५२) में कहा गया था कि 'किसी का अपराध भी न मन में बसाये', इत्यादि। उससे क्रोध, क्षोभ द्वारा बाहर सुन्दर बर्ताव (शील) न रखा जा सकेगा। और तो और, यदि कहीं कुछ व्यक्ति आपस में अपने सुख की बातों में लगे हैं; और आप दूर बैठे उनसे, उनकी व्यर्थ की बातों को सुन कर यदि मनोमन भी चिढ़ते रहे; और वह चिढ़ आपने उनके सुख में सुखी होकर मन से न निकाली तो निश्चय करके जानो कि आप उनमें आराम से नहीं रह सकते। इसी प्रकार हमारे किये गये अपराध से दूसरों में क्रोधादि उत्पन्न होने से उनका भी बर्ताव हमारे साथ ठीक न हो सकने से हमारे अन्दर भी उलझन की गाँठें पड़ेंगी। हमारा ध्यान न लगेगा। ध्यान में सत्य पहचाना न जा सकेगा। पुनः संसार में ही मन भटकता रहेगा। इसलिये

दूसरे जन तो जो भी उनसे बनने का होगा वही करेंगे। अपराध भी उनसे होंगे, परन्तु हमें अपने आप को ऐसा सम्भालना है कि जिससे हमारा जीवन बिना उलझन के अपनी आत्मा में रहता हुआ आत्मा में ही शान्ति पाये। इसलिये साधक पुरुष को जैसे अपने से अपराध नहीं होने देने, वैसे ही उन अपराधों की जड़ को भी पहचान कर उसे काट कर फेंक देना चाहिये। इसी वार्ता को यह पद्य दर्शाता है।

पद्यार्थ :-अपराध चाहे हम अपने आत्मा के प्रति अपना मिथ्या आहार तथा व्यवहारादि करते हुए करते हैं अथवा दूसरों के प्रति ही उनको कष्ट या दुःख देने वाले अपने मन, वाणी और शरीर के कर्मों द्वारा करते हैं, इन सब अपराधों का कारण मुख्य करके एक ही है जो कि मन में बसा कोई प्रसाद या प्रसन्नता और उसको पाने का भाव। उसका सुख उत्पन्न करते हुए अपने आपको सुखी बनाकर अपनी जीवन नौका चलाना केवल बाह्य सुख और सदा बाह्य प्रसन्नता का ही पुजारी होना है। प्रसाद (प्रसन्नता) कुछ सीमा तक तो सही है परन्तु यदि यह किसी एक ऐसे कारण से उपजती है जिससे कि दूसरों का स्वार्थ बिगड़ने पर उन्हें दुःख हो तो यही प्रसन्नता अपराध रूप होती है। और कई अन्य, मिथ्या वाणी बोलना, मिथ्या मन के ईर्ष्या, जलन आदि के भाव बनाना और दूसरों के सुख बिगाड़ने के अपने शरीर से भी मिथ्या कर्म करना इत्यादि के रूप में अन्य अपराधों की भी जननी होती है। यद्यपि मनुष्य आदत से, बिना सोचे विचारे, वैसे

अपराध कर जाता है यही उसका प्रमाद है अर्थात् ढिलाई है। अपने को सम्भालने में वह चतुर और सावधान नहीं। इन्हीं सब अपराधों में छिपी ढिलाई ही साधक से भी अपराध करवा सकती है; परन्तु साधक पुरुष को इस प्रकार का हेतु मिथ्या प्रसाद (प्रसन्नता का सुख) अपनी उत्तम भलाई के हेतु निश्चय करके त्याग ही देना चाहिये। अपने आप में इसे बसा न रहने दे। ध्यान में विचार जगाकर इसका भयंकर परिणाम (नतीजा) दृष्टि में रखते हुए बाह्य सुख की प्रसन्नता को निश्चयपूर्वक त्याग ही देना चाहिये। परन्तु यदि दूसरों में वही सुख और प्रसन्नता दीखती है तो उसे देखकर या समझ कर उनसे घृणा न करते हुए उन के वैसे सुख में सुखी ही होवे। यही मैत्री का बल है। यहीं पर मैत्री भी रखनी है। इस मैत्री का यह भाव नहीं कि उससे उसके कर्मों में सम्मिलित होकर व्यावहारिक रूप से मित्रता गाँठनी है। केवल द्वेष और घृणा से बचने के लिये उसके सुख में माथे पर विकार की रेखा (त्योरी) धारण नहीं करनी। संसार में प्रायः सब सुख ऐसे ही हैं जो कि किसी को सुखी करके मिलते हैं, कोई उनसे दुःखी भी होता है। संसार संघर्षमय, प्रतिद्वन्द्विता रूप और विविध परस्पर-विरोधी कर्मों से लदा है। उसके सुख भी वैसे ही हैं। सब कोई तो उन्हें त्याग नहीं सकेगा। आप स्वयं संसार के संघर्षमय जीवन से निकलने के लिये इन सब बाह्य सुखों के प्रसाद (प्रसन्नता) को त्याग कर जीवन संसार में ही देखने का अभ्यास करें। इसमें ढिलाई (प्रमाद) न होने पाये। यदि विरोध वाले सुख को या प्रसाद

को आप न त्याग सके या त्यागने के दुःख से परेशान हुए; दुःख में अपने मन को शान्त (शमन) न कर सके और वही सुख के पीछे पड़े रहे तो यही प्रमाद कहा जायेगा। यह आप में छिपा-छिपा आपसे सब अपराध करवा सकता है। वृद्ध पिता आदि की मनचाही प्रसन्नता पुत्रादि को भी (२५२ पद्य में) एक दिन भली प्रतीत नहीं होती। वह उससे स्वयं रोगी होकर दूसरों को भी दुःखी करेगा। जब यही ढिलाई या प्रमाद होगा तो पीछे कहा गया त्याग, तप और शमन इन तीन साधनों का संग न बन पायेगा। हो सकता है आप कुछ दिन वैसे सुख त्याग कर रह सकें। परन्तु उस त्याग को दुःख मान कर पुनः उसी सुख की याद में दुःखी होता हुआ यही मन अपने आप का अपने में शमन (शान्त) न कर सका तो उसे इसी बाह्य सुख और प्रसन्नता के साथ अपने बन्धन कैसे दीख पड़ेंगे ? जो व्यक्ति अपने मन को उसकी व्यर्थ की इच्छाओं से मोड़ कर पुनः अपने आप में धैर्ययुक्त होकर बुद्धि को स्थिर रख सका वही पुरुष उसके बन्धनों को याद करके सत्य को समझ सकेगा। कैसे-कैसे मन के तनाव बुद्धि भ्रष्ट करते हैं ? यह सब जानेगा। जब दीख न सकेंगे तो उनको मूल सहित त्याग कर अपने मन को वह कैसे शान्त कर सकेगा? इसका यही तात्पर्य है कि सुख का न त्याग सकना पहला प्रमाद (ढिलाई); पुनः उसके दुःख को स्वीकार न कर सकना दूसरा प्रमाद; पुनः दुःखी मन में कई एक प्रकार से बाहर विषयों के ही सुख आदि की शुभ या बढ़िया लगने वाली दृष्टि या व्यक्तियों की वैसी दृष्टि

आदि से लेकर, उन्हीं विषयों की प्रीति, द्वेष, मोह आदि बन्धन; पुनः इन सबको न तो पहचानने का अवसर देना और न ही पहचान कर त्यागना आदि यह सब प्रमाद में ही सम्मिलित हैं। यदि जन इस प्रमाद (ढिलाई) का त्याग कर सका तो निश्चय से वह सदा मुक्त ही रहेगा; और उसे सदा बुद्धि का योग (सम्बन्ध) भी रहेगा। इसी सत्य को आगे का पद्य दर्शा रहा है। 'प्रमाद' शब्द का सही अर्थ यह है कि जिस कार्य को 'करने' या 'न करने' के लिये मनुष्य की बुद्धि अपना लाभ निश्चय करके समझती है और उसके अनुसार ही चलने के लिये उत्साह भी रखती है, परन्तु अवसर या मौके पर वैसा करने में केवल थोड़े आदत के सुख के कारण ढिलाई कर जाती है। यही ढिलाई प्रमाद शब्द का सही अर्थ है। बहुत से पापों का मूल यही प्रमाद है।

तब तेरी मुक्ति, निश्चय सदा ही सुहाय,
नहीं तो यत्न कर के पाछे, चिर से मिलाय।
सदा मुक्त मन शोभे सदा बुद्धि संग;
करे ज्ञान बल से युक्त स्व पर दुःख भंग।।
। २५७ ।

गत पद्य में चर्चित प्रमाद को यदि आप पूर्णतया त्याग सके और इस प्रमाद को त्यागने में सदा यत्नशील जीवन धारण करने में कमर कसे रहे तब आप की मुक्ति निश्चय से सदा आपके सम्मुख रहेगी। यदि हर समय इस प्रमाद को मन की गहराई तक न त्याग सके तो पुनः यत्न से समय पाकर जब समझ या बुद्धि पूर्णतया परिपक्व होगी

तब मुक्ति चिरकाल से ही प्राप्त होगी। इसमें एक जन्म, दो, तीन व और भी अनेक जन्म व्यतीत हो सकते हैं और यदि आपने प्रमाद की गहराई को माप कर इसका इसी जन्म में पूरा त्याग कर दिया तो यही सब बन्धन अविद्या पर्यन्त मन में बहते दिखाई देंगे। दीखने पर यदि त्यागे भी जा सकेंगे तो मुक्ति का पूर्ण रूप यहीं अनुभव में आ जायेगा।

और भी, जब बन्धनों को मनोयोग द्वारा पहचानते रहने में साधक ढीला नहीं हुआ तो उसके साथ सदा बुद्धि या समझने की योग्यता या शक्ति के रूप में अन्त:करण की अवस्था भी जाग्रत रहेगी। यही अन्त:करण या मन मार्ग का पूर्ण ज्ञानवान् होगा। इसीलिये अपने दृष्टान्त द्वारा दूसरों को भी मोक्ष मार्ग पर प्रवृत्त करने में सहायक बन सकेगा। अपना सांसारिक दु:ख मात्र तो वह पहले से ही ज्ञान के बल से समाप्त कर चुका होता है। दूसरे को वह प्रत्यक्ष सही निदर्शन (मिसाल) द्वारा उत्साहपूर्ण प्रेरणा देने में भी शक्तिशाली होगा। यह उसके साथ अपने आप (आत्मा) के ज्ञान का बल है। गुरु लोग ऐसे ही हुआ करें।

इस पद्य का तात्पर्य है कि प्रमाद रहित बुद्धि के संग से जन यहीं जीवनकाल में ही सर्वदा मुक्ति का अनुभव करता है। सांसारिक जीवन तो सब प्रमाद के साथ ही है। बाहर की प्रसन्नता या सुख मन में बसे रहते हैं। अ़न्दर का आत्मा का सुख विचार में भी नहीं आता। इसीलिये वही बाहर के मन का सुख और प्रसन्नता ही बाहर चलाते हैं। अन्दर सत्य की विद्या पाने की दृष्टि तक खुलने नहीं

देते। प्राणी उसी बाहर के मार्ग पर ही भागता रहता है। अन्दर का आत्म सुख पाने में ढीला रहता है। समझते जानते हुए भी कुछ कर नहीं पाता। प्रमाद शब्द का अर्थ भी यही है कि थोड़े सुख के कारण से उसी में चिपका मन अपने उत्तम सुख में ग्लानि माने और उत्तम पथ (मार्ग) जो कि अपनाने पर अन्तिम भला है उसमें शिथिल ही रहे। यह प्रमाद शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि सब में घुसा बैठा रहता है। इसे सब स्थानों पर त्याग कर मनुष्य यहीं संसार में तथा जीवनकाल में ही मुक्ति लाभ करता है।

दृष्ट पर का अपराध मन को उग्र बनाय,
या में शील राखना कठिन दिखाय।
उग्रता त्याग हेतु करुणा बसाय;
सुधार में ही सुधी दुःख-शम सुख पाय।।

। २५८ ।

पीछे जो पद्यों में 'बाहर की मनचाही प्रसन्नता और प्रसन्नता के ही साथ बसने वाला बाहर का सुख है अर्थात् बाहर के साधनों से ही मिलने वाला है उसे त्यागने का कष्ट करने से ही संसार से मुक्ति मिलने की योग्यता बनेगी', ऐसा सब कहा गया। उस सबका तात्पर्य कोई यह न समझ बैठे कि इस बाह्य सुख और प्रमाद (प्रसन्नता) को त्याग कर दुःख को ही अपनाने के यत्न में लगे रहना है। इसका तात्पर्य यही है कि जितना इस बाह्य प्रसाद का त्याग मुक्ति का उपाय है, उतना ही करना। अनावश्यक दुःखों को नहीं लादना; शरीर की आवश्यकता के अनुसार समय पर प्राप्त भोजनादि से भी भूख वाला मन प्रसन्न

होगा। यह प्रसन्नता या सुख मुक्ति या मोक्ष मार्ग का विरोधी नहीं है। ऐसे ही अन्य भी आवश्यक वस्तुओं के त्याग को अपने ऊपर नहीं लादना। केवल जितना बाहर का प्रसाद या प्रसन्नता और सुख मुक्ति विरोधी है उसे ही विवेक से छोड़ना; ज्ञान द्वारा छोड़ने की आवश्यकता समझते हुए त्याग करना। व्यर्थ दुःखों का पुजारी भी नहीं बनना। वह उग्र तपस्या मोक्ष मार्ग के विपरीत है। यथा उचित भोजन का त्याग, अधिक ठण्डी, अधिक गर्मी में रह कर दुःख पाना; निद्रा का अत्यन्त त्याग, जन संग का बिना औचित्य के भी सर्वथा त्याग आदि ऐसे उग्र तप रूप से दुःखों को भी नहीं अपनाना। इसी के लिये यह पद्य अपने ही ढंग से यह दर्शाता है कि :-

पद्यार्थ :- क्योंकि बाहर के सुखों को (केवल संसार में जीवन व्यतीत करने के लिये) अपनाने में जब कभी किसी द्वारा उस सुख में अड़चन पड़ेगी तो वह पुरुष अपराधी जैसा दीखेगा। हमारा बुरा करने वाला समझ में पड़ेगा। उसका अपराध दृष्ट (देखा गया) होने पर मन बाहर के सुखों में आसक्ति और राग में बन्धा हुआ उस अपराधी समझ में पड़ने वाले के लिये उग्र हो उठेगा। उग्रता मन की क्रोध की अवस्था होती है। इसमें मनुष्य दूसरे के लिये पुनः बुरा करने तक की भी सोचने लगता है। तब पुनः अपना बाहर सही बर्ताव (शील) कैसे बन पायेगा ? जो कुछ खोटा, वाणी आदि से बोला जायेगा उससे केवल उलझन ही बढ़ेगी। वह उलझन ध्यान में भी बाहर के चित्र ही दिखायेगी। मन को शान्त ध्यान में टिकने तो देगी नहीं,

तो मन अन्दर की विद्या और आत्म साक्षात्कार कैसे पायेगा ? इसलिये पर के अपराध को न देखे और दीखने पर भी अपराधी के अज्ञान और प्रकृति की शक्ति की अधीनता को समझता हुआ उसे अपराध करने में विवश समझकर उस पर पीछे कहा गया दया का भाव ही रखकर अपने मन की रक्षा करे। धर्म को हमने अपने लिये धारण करना है। बाहर के वैसे सुखों की आसक्ति, तृष्णा, मोह आदि के बन्धनों को समझने तक अपने ध्यान को उठाये और ध्यान में इनके दुःख को देखकर इनसे भी मुक्ति पाने के यत्न में रहे। पुनः आप मुक्त होता हुआ अपने को सुधारने में ही अपनी सुधी (श्रेष्ठ मार्ग पर चलने वाली बुद्धि) रखता हुआ अपने मन को शान्त करके उस मन को शान्त करने के सुख का अनुभव करे। उग्र बनने से तो अशान्ति ही मिलेगी। उग्र बनाने वाले सुख और मन की प्रसन्नता की आसक्ति, राग, मोह आदि को छोड़ने का यत्न करे। उसी के लिये बाहर प्रसन्नता के साधनों का अधिक दास न बने। परन्तु मिथ्या दुःखों का (अनावश्यक दुःखों का) भार भी न लादे। यही इस पद्य का तात्पर्य है।

पहले देखेंगे तुझे दूसरे महान्,
बहु पाछे होगी तुझे अपनी पहचान।
पहले निज में निज से बना है जो बड़ा;
उसे देखा सभी ने इक दिन गिरा पड़ा।।

। २५६ ।

गत पद्यों में संसार में ही अपने आप को बनाये रखने या होने की तृष्णा के प्रवाह के विपरीत अपनी ही आत्मा

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐
को, जिसे सब संसार के बन्धनों के त्यागने पर व्यापक ब्रह्म स्वरूप से अनुभव करना है तथा उसी में ही अन्तिम सब दुःखों का अन्त करके देखना है, तथा परम शान्ति पानी है और इसलिये प्रमाद रहित होकर अपने अन्दर आत्म संयम और बाहर जगत् में उलझन रहित जीवन को भी साधना है, इत्यादि-इत्यादि की चर्चा की गई थी। जब एक ओर जगत् का सर्वसाधारण जीवन आपको संसार की तृष्णा पूर्ति करने के लिये हर समय अपने तनावों को उपस्थित करेगा, परन्तु आप अपनी स्मृति और मन की उपस्थिति बनाये रखकर उन्हें पहचानते हुए उस व्यापक जगत् के जीवन प्रवाह के विपरीत मोक्ष के मार्ग पर अपने आप में गम्भीरता से लगे हुए होंगे, तो यह आप का जीवन दूसरों को दिखलाने के पक्ष में तो नहीं। तब भी कोई भी जीव अन्य दूसरे जीव को समझने के लिये सदा अपना मन जगाये रखता है कि दूसरे क्या करते हैं ? कहीं मेरे लिये कुछ विपरीत करने की इन जीवों से शंका या भय तो नहीं ? यही अविद्या सभी की आँखें बाहर गाड़े रखती है; दूसरों को समझने के लिये मन को भी जगाये रखती है। इसी मन से आप जो कुछ दूसरों की समझ में पड़ेंगे, दूसरे आपको वही मानेंगे; उसे ही यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जब जगत् में आपके सम्पर्क (सम्बन्ध) में आने वाले प्राणी आपको पहचानने की दृष्टि से देखेंगे तो वे आपको एक महान् कार्य में लगा हुआ ही पहचानेंगे। यद्यपि आपको जगत् की तृष्णा या माया से निकलने में अभी अपनी सफलता का विश्वास न भी हो, परन्तु दूसरों

को आप जैसा संघर्ष करते हुए दीखेंगे उसी रूप से उनकी समझ में पड़ेंगे। अपने आप में संघर्ष में लगे हुए तथा प्रथम (पहले की) अवस्थाओं में दुःख को भी अनुभव करते हुए, सम्भवतः अपने आपको बड़ा न भी समझो; समझने की आवश्यकता भी नहीं है; परन्तु दूसरे अवश्य आपको वैसा समझेंगे ही; क्योंकि किसी भी दूसरे से आप नहीं उलझते। बहुत पीछे जब आप अपने में बन्धन मुक्त, बुद्धि के साथ शान्त हो जाओगे और अब दूसरों की असलीयत (सत्य) समझने की भी आप में दृष्टि जागेगी, तो आप उनकी तुलना से अपने को अब सही रूप से सुखी और कृत-कृत्य ही पाओगे। बड़ा वह नहीं है जो थोड़ा कुछ अच्छा करने पर उसका बाहर अभिमान करके अपने आप में बड़ा बनने लगता है। उसे तो अभी वही संसार में ही बनने की तृष्णा क्लेश में डाले हुए है। अभिमान अपने आप अकेले में सुख नहीं देता। अभिमान करने वाला व्यक्ति दूसरों को दृष्टि में बसाये हुए ही उन्हीं के सामने अभिमानी बनता है। यह तृष्णा संसार ही की है। इसके साथ आत्मा में मन शान्त नहीं होता। संसार में तो संघर्ष, वैर आदि के कारण से कहीं भी शान्ति मिलने की नहीं। उतना बनने से जब तृष्णा तृप्त न होगी तो उसे एक दिन वह मिथ्या कर्मों में भी डाल ही देगी। जिससे पुनः गिरा हुआ ही वह व्यक्ति दूसरे मानेंगे। जो बाहर की किसी वस्तु की प्राप्ति के पीछे लगा है चाहे बाहर किसी भी अच्छाई का अभिमान ही है, तो भी वह सदा तो किसी को सुखी कर न सकेगा। जब आत्मा में रहना आता नहीं, तो उसे पुनः संसार में ही

धक्के खाने पड़ेंगे। संसार में तो संघर्ष बिना कोई जीवन है ही नहीं। ऐसी अवस्था में वह जो कि पहले कुछ अच्छाई दिखला रहा था अब दूसरों के संघर्ष में लगा हुआ या विषयों में खेल रहा पाया जाने पर गिरा हुआ ही समझ में पड़ेगा। आत्मा में वास को छोड़ कर बाहर का जीवन सदा एक जैसा कभी भी नहीं रहता।

धर्म का तो वीर करे धर्म से अभियान,
न कि राग, द्वेष, मोह बन्धन भय मान।
सब विषयों के संग को दे वह निज मन से भुला;
नहीं सो महावीर जो जग में ही जा रुला।।
। २६० ।

गत पद्य में चर्चा में आया कि आध्यात्मिक पथ का पथिक केवल दूसरों को महान् रूप से ही नहीं दीखता परन्तु वास्तव में वह महावीर भी है। इसको यह पद्य इस प्रकार प्रदर्शित करता है।

पद्यार्थ :- सांसारिक स्वार्थ को रखने वाले प्राणी एक दूसरे की सहायता से किन्हीं दूसरों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। उस में भी दूसरे को परास्त करने वाले को लोग वीर कहते हैं, चाहे वह अकेला ही, असहाय (बिना सहायक के) उसमें सफल नहीं भी हुआ; किन्तु केवल संघर्ष में विजयी होने के नाते उसे वीर (बहादुर) कहा जाता है। परन्तु जो संसार की तृष्णा, जो अपने प्रवाह में बलपूर्वक सब को उठा कर बहा कर लिये जा रही है, इस प्रवाह को पार करने के लिये आध्यात्मिक बल वाला पुरुष इस संसार मार्ग से निंकालने वाले धर्म मार्ग पर स्थिर रहे

तो ऐसे स्थिर (डटा) रहने के कारण से वह वीर है। इसे धर्म का वीर (धर्मवीर) नाम से कहा जाता है। धर्म रखने में वीर (बहादुर) रूप से समझा जाता है। इस धर्म के मार्ग पर रहता हुआ वह काम, क्रोध, राग, द्वेषादि सेनानायकों की अनन्त या अनगिनत सेना को तथा मिथ्या विचार और मिथ्या संकल्प और मिथ्या भावों की सेना के प्रति भी अपने मैत्री आदि दस बल तथा त्याग, तप, मन का शमन आदि बल के साथ अभियान करता है। अभियान का तात्पर्य है कि उन शत्रुओं का (रागादि का) सामना करने के लिये आगे बढ़ना, पीछे पग नहीं हटाना। उनके अपने ऊपर आक्रमण करने पर उनके सम्मुख धैर्य और स्थिरता को नहीं खोना। स्थिर रह कर उनका सामना (मुकाबला) करना।

जैसे कि अन्य प्राणी अपने सुख के राग और दुःख के द्वेष और अपने इष्ट (इच्छा की वस्तु) या अनिष्ट (अनिच्छा की वस्तु) की चिन्ता रूप मोह बन्धनों में बन्धे इन्हीं बन्धनों के स्वार्थ की हानि के भय से एक दूसरे के वैरी बनकर, एक दूसरे के प्रति संघर्ष में जुटे रहते हैं; धर्म का वीर वैसे सांसारिक स्वार्थ के कारण से इन रागादि बन्धनों से प्रेरित होकर कोई अभियान नहीं करता। वह जो सच्चा धर्म का वीर है वह तो सारे संसार के प्राणी और पदार्थ रूप विषयों को मन से उतारता हुआ भुला ही देता है। अकेला, असहाय (बिना दूसरे की सहायता के) जो उनकी ओर अर्थात् संसार के विषय या उंनके सुख की ओर प्रेरणा देने वाले रागादि बन्धन हैं उन पर ऐसे टूटता है कि एक दिन

उनमें से एक भी अपने में रहने नहीं देता। इसीलिये अकेला ही विजयी होने के रूप से यह महावीर समझा जाता है। परन्तु जगत् के प्रवाह में रुलने वाला जो जगत् के प्रवाह को पार न कर सके वह महावीर नहीं हो सकता। चाहे स्वार्थ को, दूसरों की सहायता से या राज्य आदि की सहायता लेकर वह भले जीतने में सफल भी हो जाये, इतने से वीर ही कहा जायेगा, महावीर नहीं। महावीर तो वही होगा जो धर्म के मार्ग से संसार की धारा को अकेला ही पार करके जीतने वाला हो। संसार में रुलने वाला महावीर नहीं होता।

ॐ इति समति शील रक्षण वर्ग ॐ

卐卐

卐 अथ अविद्या, दृष्टि, काम, कर्म वर्ग 卐

जैसा कुछ मिला कभी रहा वह न जो,
समय ने वैरान किया उल्टा पड़ा सो।
जिससे होवे दुःख कैसे करे उसकी याद;
अविद्या रिक्त मन में छाये, छाये और विषाद।।
। २६१ ।

'मति और स्मृति से जो करे परिहार', इत्यादि (२३८) पद्य से यहाँ तक यही प्रसंग था कि मति द्वारा अर्थात् बुद्धि, ज्ञान या इस संसार के सुख छोड़ने की युक्ति या तर्क जगाकर किया हुआ त्याग ही अन्त में इस जगत् बन्धन से मुक्ति दे सकेगा। बिना त्यागने का कारण समझे या इस ज्ञान की पराकाष्ठा (सीमा) पाये मुक्ति न बन पायेगी; और पुनः संसार में रखने वाली शक्ति, उसी संसार की तृष्णा संसार में ही जन्मायेगी। यहाँ तक उसी प्रसंग से मति की उन्नति के लिये ही अन्दर, बाहर की शुद्धि रूप आध्यात्मिक जीवन की साधना बतलाई गई। अब यही साधना करते-करते अन्त में मति या ज्ञान कहाँ तक उन्नति के शिखर पर पहुँचना चाहिये कि जिससे संसार का त्याग स्वाभाविक ढंग से बन जाये; और मन उसके सुखों के लिये या उनके सुख वाली 'मैं' या 'मैं भाव' के लिये, कभी भी उत्पन्न होने की सोचने के लिये भी, क्षणमात्र का अवकाश न देकर अपने ज्ञान स्वरूप में ही सुखी बना रहे। यहाँ तक 'मति' को समुन्नत (ऊँचा उठा) करके आत्मा के सत्यों के दर्शन तक ले जाना है। आत्मा

के बारे के सत्यों के दर्शन तक पहुँचाना है। अब आगामी कुछ पद्यों में इसी अपने अन्दर के सत्यों के दर्शन के स्वरूप की चर्चा होगी। जिनमें से यह पद्य उसी प्रकार के सत्य दर्शन का सूत्रपात (आरम्भ) करता है।

पद्यार्थ :- संसार में जन्मने के पश्चात् (बाद) जो कुछ भी मन को भाने वाला सुख और सुख सम्बन्धी प्राणी और पदार्थ कभी मिले, वे सब वैसे बने नहीं रहे; बदलते हुए समय ने इन को वीरान (व्यर्थ) कर दिया। सुख से विपरीत दुःख रूप होने से उल्टे ही दीखने लगे। अब जिस वस्तु से दुःख होता है उसको तो मन स्मरण करना भी नहीं चाहता; उसे मनुष्य याद भी क्यों करे ? परन्तु क्या करना है ? हमारे संसारी जीवों के ज्ञान से बाहर एक ऐसा तत्त्व है जिसे कि अविद्या कहते हैं, वह खाली मन में (याद रहित मन में) शाप रूप होकर बैठी हुई रहती है (छायी रहती है)। वही अविद्या खाली मन में पुराने सुखों के संस्कार जगा-जगा कर, उन सुखों का वियोग स्मरण करवाती हुई विषाद (प्रसन्नता से विपरीत मन की दशा) उत्पन्न करती रहती है। उससे जीव उस विषाद के दुःख को सहन करने में दुर्बल, पुनः उसी सुख के लोभ से संसार चक्र में पड़ जाता है। मनुष्य संसार के सुखों में दुःख देखकर छोड़ना तो चाहता है परन्तु पूर्णतया छोड़ने की युक्ति या कारण कि 'क्यों छोड़ना चाहिये', 'यह दुःख रूप हैं'; 'इनका सुख सदा बना नहीं रहता'; सब ऐसी मति को उत्पन्न नहीं कर पाता। वैसी मति होने पर उस मति को उन्नत करते-करते अध्यात्म दर्शन तक नहीं पहुँच

पाता। अध्यात्म दर्शन शब्द समुदाय का यह तात्पर्य है कि आत्मा में इसी संसार और संसार के मिथ्या सुखों की भी असलीयत (सत्य) सदा मन और बुद्धि के सामने रखना जिससे मन भी पुनः इसे (संसार को) सही रूप से त्यागने के पक्ष में रहे। यह नहीं कि जब इन सांसारिक सुखों से दुःख हुआ, तब तो ये सब खोटे जचें; परन्तु पीछे जब उनकी तृष्णा या वासना जागी, तो उनके सुख में दृष्टि तो रही, परन्तु दुःख वाली दृष्टि छुपी रही। अध्यात्म दर्शन शब्द से यही तात्पर्य है कि उन सब विषय सुखों के दुःख सदा बुद्धि या मति प्रकट देखती रहे। आगे के पद्यों में इसी अध्यात्म दर्शन का स्वरूप कहा गया है।

जब संसार के विषयों से दुःख ही होने लगेगा, तो कोई भी व्यक्ति रोग, वृद्धावस्था और विपरीत कारणों से सुख का त्यागी या विषयों का संग त्यागने वाला बन सकता है। परन्तु बिना सही मति के उस सुख के संस्कार मनुष्य को टिकने नहीं देते, क्योंकि वैसी साधना बनी ही नहीं। वैसी साधना के निमित्त श्रद्धा ही नहीं थी। अपने को सम्भाल कर संसार में चलने का धर्म नहीं रखा। ध्यान में विचार नहीं जगा। सत्य कौन सुझाये ? तृष्णा को जीतने का अभ्यास नहीं किया, इत्यादि-इत्यादि सब साधना है।

थोड़ा यहाँ यह भी समझना उचित है कि अविद्या जिस सुख के वियोग से प्रसाद (प्रसन्नता) के विपरीत विषाद की दुःखमयी दशा को उत्पन्न करके जीव के सांसारिक सुख के संस्कार जगाकर पुनः संसार में घसीटती है, वहीं विषाद के दुःख को देखने में धीर पुरुष का साधना का

मार्ग खुल जाता है। वह इस दुःख दर्शन से ही दुःख की जड़ (कारण, मूल) तृष्णा को समझने लग जाता है; पुनः तृष्णा का दुःख देखते-देखते अपने ज्ञान में धैर्य से उसे पूरा न करके तथा व्यतीत करने में अभ्यासी होता हुआ अपनी आत्मा को सुख स्वरूप से पाता है। यही सब अध्यात्म दर्शन आगे के पद्यों में स्पष्ट होगा।

वस्तु वहाँ कुछ भी नाहीं रहें संस्कार,
अविद्या के अन्धकार में उपजावे हैं विकार।
जैसा कुछ दीखा, वैसा देखे से उपजे काम;
मधुर लागे ता में रहना भाव, यह भव का नाम।।
। २६२ ।

गत पद्य में जिस अध्यात्म दर्शन का सूत्रपात किया गया था उसी अध्यात्म दर्शन का एक अंग यह ज्ञान या दर्शन (प्रकट प्रत्यक्ष ज्ञान) है कि जिन संसार के सुखों को दुःख रूप में बदलने पर सब जन बिना उनके मिथ्यापने की बुद्धि या बिना सत्य दर्शन के भी छोड़ देते हैं, वे संसार के सुख तो कोई भी या उनका कुछ भी (बनी रहने वाली) वस्तु ही नहीं थे। हाँ ! उनके संस्कार एक प्रकार के ज्ञान की सूक्ष्म अवस्था में झलकते थे। ज्ञान रूप से उसी का स्वरूप थे। परन्तु वे सुख जिनसे प्राप्त होते समझे जाते थे, वे कुछ भी नहीं थे जैसे कि स्वप्न के पदार्थ न होने पर भी केवल ज्ञान का ही स्वरूप होते हैं। केवल अविद्या के अन्धकार में जहाँ कि सत्य वस्तु का ज्ञान या प्रकट दर्शन नहीं है वहाँ वे वही पुराने संस्कार पुराने ढंग से ही काम (इच्छा) आदि अपने ही ज्ञान में होने वाले प्राणी और

पदार्थों के लिये उपजाते हैं। जैसे स्वप्न अवस्था में देखी वस्तुओं के लिये वहीं स्वप्न की अवस्था में भी घूमता हुआ प्राणी अपने ही संस्कारों के कारण वहाँ भी उन-उन पदार्थों के सुख की इच्छा या कामना करता है परन्तु जागने पर ज्ञान में आया हुआ उनके बारे में सोचना भी नहीं चाहता। उनकी कामना या इच्छा तो क्या ही करेगा ? क्योंकि जाग्रत अवस्था में आते ही उसे झलक गया कि वे सब स्वप्न के प्राणी और पदार्थ झूठे या मिथ्या ही थे। इसी प्रकार जो जन जागते हुए भी अपने ज्ञान में ध्यान विचार से और भी सही जागेगा तो उसे संसार में भी बदलते हुए सब प्राणी और पदार्थ भी झूठे तथा तुच्छ ही जचेंगे। इनकी इच्छा तक भी नहीं रहेगी। क्योंकि वे केवल जब समझ में पड़े थे तभी तक के थे। केवल काम या इच्छा का विकार ही नहीं, क्रोध, संशय, भय, ईर्ष्या आदि को भी केवल संस्कार ही उत्पन्न करते हैं। जैसा कुछ बालपन आदि के ज्ञान में दीखा; वैसे ही संस्कारों में दीखने पर पुनः काम (इच्छा) उपजता है। इच्छा, मधुर या सुख रूप समझ में या ज्ञान में पड़ने वाली वस्तु की होती है। तब पुनः उस वस्तु के संग में रहना भी मन को मधुर लगता है। यही मन का जो भाव उस वस्तु का संग बनाये रखने का है यही संसार में होने या बने रहने का भाव रूप से भव, जीव के साथ चिपक रहा है। इसका नाम भव है। यह अविद्या की रात्रि के कारण से ही है। यह जैसा अपने साथ है वैसे ही अन्य असंख्य प्राणियों के साथ भी है। सब एक दूसरे से जुड़े हुए से ही इस अनन्त भव के सागर में बिचारे बहते जा रहे हैं।

पार केवल उसी को मिलेगा जो आत्मा में ही शान्त हो सकेगा। अविद्या तो तभी समाप्त होगी जबकि असलीयत प्रकट हो। सत्य का ज्ञान प्रकट भासे। झूठे पदार्थों में और मिथ्या नातेदारियों में ही यदि जीवन भर कोई मिथ्या सुख की आशा रखकर खोया रहा तो सदा अविद्या के अन्धकार में ही सोया रहेगा और वैसे ही सब मिथ्या या झूठे स्वप्न देखेगा।

इसीलिये शास्त्रों का तथा सही संगत का कुछ सहारा लेकर संसार मार्ग से निकलने की श्रद्धा रखकर कुछ आदत के चाहे तथा मीठा लगने वाले पदार्थों से भी मुख मोड़ कर आत्मा में नित्य सुख पाने की साधना तथा मार्ग को अपनाये। केवल बालक के समान जन्म की नासमझी या नादानी को ही सकल आयु भर न ढोये। यही इस पद्य का तात्पर्य है।

इसी से जन्मे, बना रहे न, बिगड़े से हो मौत,
चक्कर न छूटे शुभ औ अशुभ का, करे ज्ञान क्या श्रौत ?
अविद्या की रात्रि तभी टूटे, जन्मे जो यामें बोध,
साक्षी इसी का या हो दुःख का, करेगा वही निरोध।।

। २६३ ।

गत पद्य में जो संसार में ही होने का भाव रूप से 'भव नाम का तत्त्व बतलाया गया, आगे यही जन्म का हेतु है', ऐसा यह पद्य दर्शाता हुआ इस सारे संसार चक्र से छुटकारे का मार्ग रूप से अध्यात्म दर्शन या बोध के स्वरूप की वार्ता को कहता है।

पद्यार्थ :- गत पद्य में जो 'भव' नाम से संसार में ही

बना रहने का या होने का भाव बतलाया गया, वही इस मनुष्य में बहता रहता है। जीव को कभी भी अपनी आत्मा में शान्ति पाने का भाव नहीं बनता। यह भाव तब बने यदि संसार में होने के दुःख को दृष्टि में रखकर इस से निकल कर आत्मा में ही शान्ति खोजने का भाव बने। इसी संसार में होने के भाव से ही मनुष्य पुनः कहीं सृष्टि में अपने को जन्मा हुआ पाता है। जैसे कि सोते समय कोई संस्कार मन में बना था, सोते समय तक बहता रहा। जब तक मनुष्य जागता रहा उसका संस्कार और भाव अदृष्ट (न दीखती अवस्था में) था। परन्तु जैसे निद्रा ने उस मनुष्य को उसका देह भुला दिया तो वही संस्कार अपने भाव वाला स्वप्न रच देता है और स्वप्न में उसी भाव के अनुसार मनुष्य का पाया देह भी रच कर उसे उसी भाव के अनुसार चक्रों में घुमाता है। वस्तु वहाँ कुछ भी नहीं; केवल ज्ञान ही खेल रहा है; अपनी क्रीड़ा रचाता जाता है; चाहे स्वप्न वाला जीव उस में अपने भाव के अनुसार ही सुखी हो व दुःखी। इसी प्रकार मृत्यु भी इस वर्तमान देंह को निद्रा के समान ही भुला देगी; पुनः वहाँ वही संसार में बना रहने का 'भाव' या 'भव' बना रहेगा। उसी से नया संसार, नया शरीर और उसमें वहाँ की लीला भी यही 'भाव' दिखलायेगा।

परन्तु बना यह भी न रहेगा, पहले के समान ही बिगड़ेगा भी। यही पुनः मौत हुई। यही सुख और दुःख, शुभ और अशुभ का चक्र अध्यात्म (आत्मा में सत्य) दर्शन बिना छूटने का नहीं। जब भावों में संसार ही बसा रखा है;

समझ में शुभ अशुभ (अच्छे और बुरे) प्राणी और पदार्थ ही बस रहे हैं । यही राग और द्वेष की जड़ यदि बनी बैठी है तो केवल श्रुति या वेदों का बतलाया ऋषियों का आत्मा का ज्ञान क्या करेगा ? इतने से यह चक्र छूटेगा नहीं। यह शुभ और अशुभ, अविद्या की रात्रि के कारण से ही है। यह तब ही समाप्त होगी जब कि असलीयत (बोध) प्रकट हो।

यह तो तभी होगा जब कि ऋषियों के ज्ञान को सुनने पर उस पर मनन करके अपने अन्दर साधना द्वारा सब सुख-दुःख और उसके कारण संसार की तृष्णा [भव (संसार में होने की) तृष्णा और विभव तृष्णा] को समझ कर उसी के सब बन्धन अविद्या तक पहचान कर पुनः इस तृष्णा को सब बन्धनों सहित त्यागने के दुःख को भी साक्षी रह कर देखता-देखता ही व्यतीत या अतीत कर दे। तब अन्तःकरण की शुद्धि होने पर इस संसार चक्र का सदा के लिये निरोध (रुकना) हो जायेगा। जो भी अविद्या का दुःख है उसका भी साक्षी रहे या पुनः अविद्या की अवस्था को भी बोध रखता हुआ देखते-देखते व्यतीत कर दे। बोध रखने का तात्पर्य यह है कि कोई भी मन की अवस्था सदा एक जैसी बनी नहीं रहती, इस प्रकार ज्ञान से मन को धैर्य सहित धारण करने का कष्ट सहता रहने पर 'अविद्या' या 'नासमझी' की दुःखदायी अवस्था भी अन्त में नहीं रहेगी। सदा एक रस बना रहने वाला आत्मा का ज्ञान आनन्द रूप से प्रकट हो जायेगा। तब संसार में होने का भाव भी नहीं रहेगा। संसार में होने का भाव तब तक ही है जब तक ज्ञान शून्य अवस्था बनी रहती है। संसार से

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

बिछुड़ने पर (मृत्यु होने पर) संसार के ही ज्ञान वाला जीव बिना संसार के ज्ञान के शून्य सा पड़ा हुआ अपनी ज्ञान रूप आत्मा को पाने के लिए संसार के संस्कार जगा कर पुनः संसार में ही जन्मता है। यदि वह 'अविद्या' या 'अज्ञान' या 'नासमझी' की अवस्था को साक्षी रह कर देखते-देखते टाल दे तो सदा के लिये संसार से छुटकारा पा जाये। यही सब इस पद्य का भाव है।

किसी भी देह में कोई भी दीखना, समझ में अपनी जो,
है तो वह दृष्टि अपने ही मन की, सब को उपजावे सो।
देहात्म दृष्टि, काया में सत् की, ऐसे ही दृष्टिमान् ;
काम जनावे, बहु विध भव को, पार करे शुद्ध ज्ञान।।

। २६४ ।

पीछे के (गत) पद्यों में दर्शाया गया कि जिन वस्तुओं में सुख समझ कर जीव चिपक रहा है वे सब वस्तुएं वास्तव में (असल में) सुख रूप नहीं हैं। केवल उनके संस्कार इच्छा और भव (इच्छा को पूरा करने के भाव) को रचा कर जीव को पुनः-पुनः उधर ही खींचते हैं और वे सब वस्तुएं एक दिन सुख के स्थान पर दुःख रूप से ही दृष्टि में पड़ती हैं। उनके संग वाली 'आत्मा' या वह 'मैं' भी (प्रसन्नता से उछलने वाली) पुनः नहीं मिलती। परन्तु जीव सही मति या बोध के बिना, नींद में ऊंघता हुआ कभी के देखे अल्प सुख के साथ चिपका हुआ उसमें ही बन्धा-बन्धा संसार के दुःखों का शिकार बना रहता है।

अब यह पद्य उसी संसार में बान्धने वाली प्रथम बन्धन के स्वरूप में जो देहात्मा दृष्टि है उसे सब दुःखों

की जड़ (मूल कारण) रूप से दर्शाता हुआ उसी दृष्टि का स्वरूप बतलाता है जिससे कि उसे समझ कर उसे त्यागने की प्रेरणा प्राप्त हो।

पद्यार्थ :- किसी भी देह में, जैसे कि बच्चे, बूढ़े या युवक की देह में, मेरा पुत्र, पिता या दादा, नाना इत्यादि की दृष्टि। ऐसे ही किसी से दुःख प्राप्त होने पर उस देह में वैरी, विरोधी आदि की दृष्टि (नज़र)। किसी से सुख मिलने पर मित्र, बन्धु आदि की दृष्टि बनती है। यह सब संसार ऐसी ही दृष्टियों का समुदाय है। वहाँ पुत्र, पिता, शत्रु, मित्र, बन्धु आदि कोई भी बनी रहने वाली वस्तु तो है नहीं। यदि कोई ऐसी वस्तु होती या सत् करके समझने की होती तो वह सब के लिए वैसी ही समान रूप से रहती। परन्तु ये सब जो दीख पड़ते हैं वे किसी एक मन में ही, किसी एक-एक देह के लिये ही होते हैं। पुत्र या पिता किसी एक की दृष्टि या नज़र वाला सब जीवों के लिये पुत्र या पिता तो है नहीं। इसलिये ये सब संसार के व्यक्ति किसी एक मन की दृष्टि में उत्पन्न होते हैं और उसी को बांधते हैं। दृष्टि तो थोड़े समय की है; परन्तु जिस काया या देह में यह दृष्टि प्रकट होती है उस देह में यह दृष्टि किसी नित्य या सदा बने रहने वाले पुत्र, पिता, वैरी आदि को बना रहने वाला समझ कर उसी दृष्टि के अनुसार काम (इच्छा) और उसी के संग वाले संसार में बने रहने के भाव रूप भव को रचाती है और उसी संसार में उन दृष्टियों के अनुसार सुख होता है। उसी में तृष्णा रख कर उन सब को अपने संस्कारों में जीव बसाये रहता

है। है वहाँ कुछ भी नहीं, परन्तु दृष्टि ने देह में बने, बसे रहने वाले एक संसार के भाव रूप पुत्र, पिता, मित्र, वैरी आदि की कल्पना की है। वही संसार के प्राणी और उन्हीं के सहारे की उलझन का नाम संसार है। जब यह केवल दृष्टियों में ही है तभी इसे मिथ्या (झूठा) कहा जाता है। यहाँ तक सब जन्म समझने की मति या बोध मनुष्य को जगाना है, और बोध द्वारा पुनः मुक्ति पाकर दुःख के तप द्वारा बन्धनों से पार जाया जाएगा।

व्यवहृति सारी दृष्टि करावे, तेरा खोया शूल,
मिथ्या दृष्टि सकल ही खो दे, दीखे न कोई भी मूल।
शून्य में ऐसे टिके ज्ञान जो, शून्य से शून्य ही भाय;
ज्ञान का नाश कबहुँ नहीं होये, न बिनु भान रहाय।।

। २६५ ।

गत पद्य में दर्शाये गये भाव के अनुसार जब देहों में देह रूप से बना रहने वाला आत्मा तो है नहीं; परन्तु ज्ञान स्वरूप से सदा तथा प्रकाशमान रूप से ही है। देह में सत् करके या बना रहने वाला करके जो कुछ भी समझ में पड़ता है वह मिथ्या दृष्टि ही है। देह में कोई भी देह के स्वरूप से एक जैसा बना रहने वाला आत्मा नहीं है। यदि वह सदा पुत्रादि के स्वरूप में टिकाऊ दीखता भी है तो भी वह भ्रान्ति ही है। इतना सब उद्योगी साधक को अपने बोध में लाना है। जब संसार के सुख, दुःख बन जाते हैं तब उनमें मन न रख कर, उनका चिन्तन छोड़ कर इसी विवेक या बोध को उन्नत करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है। जब सत्य को प्रकट करने वाला ऐसा बोध जगाने का

प्रयत्न किया जायेगा तो संसार सारा मिथ्या ही दीखेगा। यदि यह बोध का यत्न न हुआ तो खाली मन में अविद्या अर्थात् कुछ भी न समझने की अवस्था रूप में छिपा अविद्या का तत्त्व, ज्ञान रूप अपना आपा पाने के लिये पुराने संस्कार जगा-जगा कर जीव को दुःखी ही करेगा। अब यहाँ यह शंका होती है कि वह सब पिता, पुत्र, मित्र, वैरी वाला संसार तो झूठा हो गया; परन्तु संसार में जैसा कोई व्यक्ति है उसी के अनुसार भाव बना कर संसार में व्यवहार तो चलाना ही पड़ता है क्योंकि जीवन अभी बना हुआ है। तो अब संसार का व्यवहार और दूसरों में जीवन धारण कैसे होगा जब कि वे संसार के सब जीव तो दृष्टि की ही सृष्टि हो गये; और मिथ्या ही सिद्ध हुए।

इसी के उत्तर स्वरूप से यह पद्य दर्शाता है कि जब केवल संसार आप के भाव से निकल गया; इसमें सुख के निमित्त दुःख पाने को कुछ भी नहीं रहा; तृष्णा का परिवार, मिथ्या वस्तुओं के राग, द्वेष, संशय, भयादि वाला सब छुड़ाने का कारण बोध हमें मिल गया तो मन अवकाश (फुरसत) पा गया। अवकाश प्राप्त होने पर ध्यान का अवसर अधिक मिलेगा। उससे पुनः अन्दर के छिपे अन्य सत्य भी विद्या रूप से प्रकट होंगे। अन्त में इन्हीं पुराने संस्कारों के दृष्टि आदि बन्धन शान्त करने पर और उनको शान्त करने के दुःख में धैर्य रखने पर अन्तिम आत्मा का सत्य ज्ञान सुख रूप से भी प्राप्त होगा। जो यह सब शूल (इच्छा के विपरीत दुःख) है, वह मनुष्य को सत्य का ज्ञान या बोध होने पर, और संसार झूठा सिद्ध होने पर

नहीं रहेगा। जीते मनुष्य को संसार का व्यवहार जब करने को होगा तो पुनः वही दृष्टि उतने समय के लिये पहले के समान बन कर करवा ही देगी। जब कुछ भी सत्य रूप से संसार में नहीं दीखा तो मन उसकी कल्पना से रहित शून्य में टिकाव प्राप्त करेगा अर्थात् उन मिथ्या वस्तुओं के लिए सोचे बिना ही अपने में टिकाव प्राप्त करेगा और शून्य रूप से भासेगा। केवल संसार इसी रूप में था कि 'यह वस्तु है', 'वह प्राणी है', वे सब भी अपने में कोई काम (मतलब) रखने वाले ही पदार्थ या प्राणी रूप में संसार के अंग 'है-है' जैसे या सत् जैसे चमके थे और वह केवल काम या इच्छा ही थी। मुख्य अंग या भाग सुख का ही था। जब विवेक या बोध, मति के उन्नत होने पर दीप्त (प्रकाशित) हुआ या प्रकट हुआ तो उसने सांसारिक सुख को दुःख दिखलाकर एक भी संसार का प्राणी या पदार्थ अपने ज्ञान में नहीं रहने दिया। सब सत् से विलक्षण या मिथ्या अथवा शून्य ही हुए अर्थात् झूठे ही सिद्ध हुए। जब यह सब 'है-है' करके दीखने वाले न रहे तो मनुष्य का ज्ञान इन से शून्य (इनके बिना) होकर शून्य में ही टिक गया। अब यही ज्ञान, मल शून्य रूप से रह कर, मन की शून्य दशा का भान करवाता है; और वहाँ संसार के सब दुःखों का भी न होना प्रकट कर रहा है। परन्तु सब मिथ्या दृष्टि मिटनी चाहिए; एक भी दृष्टि न रहे, इसकी जड़ ही काट डाले।

ज्ञान का विनाश कभी भी नहीं होता। ज्ञान यदि विनष्ट नहीं हुआ, तो बिना भान हुए या प्रकाशमान् हुए नहीं

रहता। केवल मन से संसार का मिथ्या भार निकल जाने पर उससे खाली हुआ ज्ञान देव ही शून्य कहा गया है; वह सब संसार मल से शून्य जैसा ही, शून्य (सब भार से हल्के हुए) ज्ञान द्वारा प्रकाशमान् भी होता है। मिथ्या संसार के भार से हल्का होने पर आनन्द रूप से भी प्रकट होता है। यही आत्मा की सुख स्वरूप से नित्य प्राप्ति है। जैसे किसी मकान की सब वस्तुएं निकाल कर बाहर पटक दी जायें तो वह मकान अब सब वस्तुओं से शून्य हुआ ही कहा जायेगा। इसी प्रकार संसार का सब भार जो केवल बुद्धि द्वारा झूठा आरोपित किया हुआ था जब वह न रहा तो केवल उस शून्य मकान के समान ही यह शून्य हुआ-हुआ ज्ञान देव भी अपने में शून्य रूप से ही प्रकाशमान् होता हुआ अपने आनन्द को भी प्रकट करता है। तब मनुष्य को दूसरा कुछ भी पाने का नहीं रहता। संसार से सदा के लिये मुक्ति भी मिल जाती है। सर्व संसार से युक्त होता हुआ भी यह ज्ञान आत्मा बोध द्वारा सदा अपने में ही टिकाव प्राप्त करता है।

शून्य का अर्थ है दीखें न बन्धन, पटक दिया सब भार,
बालपने से दृष्टि ने रच्यो 'है-है' की भरमार।
गृह से सब कुछ बाहर जो पटका, शून्य हुआ आगार;
ऐसे ही ज्ञान मुक्त जो बन्ध से, शून्य मिले जा पार।।

। २६६ ।

गत पद्य में शून्य शब्द का प्रयोग कई बार किया गया; ऐसे ही अन्य पद्यों में भी कहीं-कहीं यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। अब इसी शब्द के अर्थ को समझने में भ्रान्ति की

निवृत्ति के लिये यह पद्य है। कहीं-कहीं शून्य शब्द का ऐसा भी अर्थ समझा जाता है कि वस्तु अपना अत्यन्त स्वरूप ही खो बैठी और शेष कुछ रहा ही नहीं। यहाँ ऐसा अर्थ समझने का नहीं है कि जब सारा संसार सत् करके नहीं समझा गया तो अत्यन्त विनाश ही हो गया; शेष कुछ बचा ही नहीं अर्थात् आत्मा या ज्ञान देव भी नहीं रहे। यद्यपि गत पद्य में यह संक्षेप से सूचित कर दिया गया था कि शून्य को समझने वाला ज्ञान कभी भी नष्ट नहीं हो सकता और न ही होता है। वह शून्य को भी प्रकाशित करता है, तथापि यह पद्य उसी भाव को और भी स्पष्ट करके दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- शून्य शब्द का अर्थ यही समझने का है कि मन में जन्म से जो संसार के बन्धनों का जाल संसार की ही तृष्णा या संसार में ही बसे, बने या होने की तृष्णा का बन्धन है वह केवल जीव के ज्ञान पर भार (बोझा) जैसा लदा रहता है। बालपन से ही जैसी-जैसी प्राणियों और पदार्थों में दृष्टियां हुईं 'यह वह वस्तु है', और 'यह वह प्राणी है', 'पिता है', 'पुत्र है', 'शत्रु', 'मित्र' या 'स्त्री' आदि है। यह सब 'है-है' की भरमार रूप से ही संसार बना बैठा है जो कि केवल समझ में ही है। पुनः इन्हीं सब सम्बन्ध रखने वालों में काम या इच्छा को जन्मा कर उधर के ही ऐसे कर्मचक्र की प्रेरणा करता है जो कि उन्हीं के साथ बसे रहने का भाव मन को लुभाये रखकर अन्त में दुःखी करे। यह सब इसीलिए भार है।

इस सब भार को पटकना है जो कि अपने भी देह में, सदा बदलने वाले में और अपने भावों में, और बाह्य ज्ञान में भी एक रस न रहने वाले में, इसी संसार में बनी एक अपनी 'मैं' देखता है; शुद्ध ज्ञान रूप में नहीं। ऐसे ही अन्य देह भी वैसे ही क्षण-क्षण बदलते जाते हैं परन्तु उनमें भी देह को देखता हुआ एक सांसारिक 'मैं रूप' आत्मा (सदा बने रहने वाली 'मैं') समझता है। यही 'मैं' सब पदार्थों में भी दृष्टि रख कर उनको सदा स्थिर मानती है। यह सब संसार समझ में बहता है। यह सब केवल बचपन से बच्चे के अन्दर दूसरों को देख, सुन, समझ कर बनी हुई मिथ्या दृष्टियों का ही खेल है। न देह में, न वस्तुओं में जो कि समझ में पड़ी हैं, ये वस्तुएं या सांसारिक बनी रहने वाली 'मैं' या 'मैं भाव' का जाल 'है-है' करके जो समझ में पड़ता है; सत् (सदा बनी रहने वाली) उनमें कोई भी वस्तु नहीं। जीव इनको टिकाऊ या सदा बने रहने वाला जैसा प्रतीत करता है और जगत् जाल में आप भी उन्हीं के संग से बना रहना चाहता है। परन्तु ऐसी 'मैं' कभी भी बनी नहीं रहेगी। विवेकी को बोध जगा कर इस क्षण-क्षण बदलती या नष्ट होती 'मैं' को मिथ्या ही समझना है। जब ये सब वास्तव में कुछ भी न होकर केवल मिथ्या दृष्टि की ही उपज नज़र में आने लगे तो सब संसार का भार, समझ या ज्ञान से बाहर टेक दिया गया; जैसे किसी को रस्सी में जब सांप दीखा तब सत् या सच्चा जैसा देखा था; परन्तु तत्पश्चात् बोध जागने पर, मिथ्या या 'कुछ भी

नहीं था', केवल रस्सी ही थी ऐसा ही बोध होता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य को यह ज्ञान हो कि केवल हमारे ज्ञान में ही कुछ का कुछ भासने वाला था,'है'या सत् जैसा वहाँ कुछ भी नहीं था, तो समझो ! आप की समझ हल्की हो गई। मिथ्या 'है-है' का भार पटक दिया गया। जैसे किसी घर (आगार) से सब सामान निकालकर बाहर रख दिया जाए तो वह घर अब शून्य हो गया, ऐसा कहने में आयेगा; या साधारण व्यवहार में कह देते हैं कि घर सूना पड़ा है। ऐसे ही जब अपने में सदा केवल ज्ञान के रूप में या समझ के रूप में जो कुछ प्रकाशमान है, वही केवल एक रस रूप से झलकेगा, तो इस में समझ में पड़ने वाले जो 'है-है' जैसे चमकते थे, वे सब नहीं रहेंगे। इसलिये उनके पटके जाने से, उन से मुक्त ज्ञान विज्ञान केवल सदा बना रहने से, विनाश भाव को न प्राप्त होने से, एक रस आत्मा अपने में और सब में ब्रह्म रूप से अनुभव में आयेगा। यह संसार के या उसकी तृष्णा से पार जाने पर ही मिलेगा।

जो भी अपना नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा है उसमें जो जन्म के साथ बोझा लदा है, उस सब भार को पटक देने पर ज्ञान देव आत्मा अपने आप में हल्का होगा। भार केवल जगत् के राग-द्वेष आदि सब बन्धनों का ही है, उसे ही पटकना है। उस भार के पटके जाने पर ज्ञान देव उसी भार से शून्य होने पर अपने आप में आनन्द स्वरूप से प्रकट या व्यक्त होगा। यही जीव की नित्य तृप्ति है।

ॐ इति अविद्या, दृष्टि, काम, कर्म वर्ग ॐ

अथ कामात्म परिहार वर्ग

हुआ न कबहुँ, है नहीं अब भी, आगे हो फिर क्या ?
दीखा था कबहुँ, रहा कहीं न, उसको फिर क्यों ध्या ?
काम विविध संग, भव भी भागे, शम सुख पावे जीव;
ज्ञान ही कोरा (केवल), कबहुँ भी दीखा, सब की वह है नींव।।
। २६७ ।

जैसे बच्चे या किसी के भी देह में जो कुछ भी अपने समय के अनुसार दीखता है वह या उसके संग से वह बच्चा वैसा न कभी हुआ; न वह अब भी है; न कभी आगे ही होगा अर्थात् होने से पहले भी न था। जब कुछ'है'करके समझ में पड़ रहा है तब भी वह चेतन या ज्ञान देव की उसी समय की झाँकी ही है, जिसे हम 'है-है' करके कहते हैं; बच्चे के देह और उसके मन या बुद्धि को या किसी अन्य के भी ये सब देह, मन बुद्धि आदि को आप सदा एक रूप में बना नहीं देख सकते। जैसे देह क्षण-क्षण बढ़ता जाता है, पुनः समय पाकर वृद्ध भी होगा। जबकि यह परिवर्तन कभी भी नहीं रुकता, सदा चलता ही रहता है, पानी के प्रवाह के समान बहता ही जा रहा है; तो इस प्रवाह के कौन से दृश्य (दीखने वाले आकार) को आप 'है' या 'था' या 'आगे भी होगा', करके कह सकते हैं। केवल चेतन या ज्ञानदेव की माया को न समझ सकने के कारण या इसी माया के ढक्कन के कारण सत्य (असलीयत) समझ में न पड़ने के कारण से यह सब 'है-है' का जाल रूप संसार बना बैठा है। केवल उसी चेतन की क्षण-क्षण

बदलती हुई मायाशक्ति द्वारा चेतन या ज्ञानदेव की भी बदलती हुई झाँकियां-सी प्रतीत होती हैं। उन्हीं झाँकियों को भिन्न भिन्न देखता हुआ जीव उस देव की प्रत्येक झाँकी को पृथक्-पृथक् सत्ता देता है। यही सब 'है-है' का जाल है। है तो केवल ज्ञानदेव ही, परन्तु बिना विवेक या बोध के जीव भिन्न सत्ता (हस्ती) वाली वस्तुओं की कल्पना करके उन्हीं में विविध प्रकार से बन्धा बैठा है। इसी सत्य को पहचानना है और इसी से सब मिथ्या जाल से मुक्त होना है।

जैसे बच्चे के दृष्टांत से बतलाया गया कि जो कभी भी उसमें दीखा, चाहे आप भले ही कहें कि 'बच्चा ऐसा है' 'वैसा है', परन्तु बच्चा कैसा भी नहीं। वह एक अपने ही समय की झाँकी थी जो बच्चे को कोई सत्ता दे रही थी तथा वह अपनी या आपकी दृष्टि (नज़र) में ही दिखाई दे रही थी। 'है' का अर्थ है बनी रहने वाली वस्तु। जब आप कहते हैं कि बच्चा 'ऐसा है', 'वैसा है', तो वहाँ कोई बनी या बसी रहने वाली वस्तु आप पकड़ में लिये बैठे हैं और उसी के संस्कार आप को छल रहे हैं। आप उसे सत्ता (हस्ती) देकर उसी में बन्धे न जाने किस चक्र में पड़े हैं। इसी प्रकार वैरी, दुष्ट, मित्र, हंसने-हंसाने वाले, रोने-रुलाने वाले आप की ही दृष्टि में बसे संसार बने बैठे हैं। केवल सुख-दुःख के कारण यह सब सत्ता या हस्ती की 'है-है' की गाँठें बनी बैठी हैं। यदि थोड़ा सुख और दुःख में सम (बराबर) होकर जीने का अभ्यास करो, वैसी आदत डालो तो ये सब 'है-है' की गाँठें टूट जायेंगी; तब पुनः एक ही

ज्ञान देव लीला करता हुआ दृष्टि में नज़र आयेगा। यही ज्ञान होगा कि जो कुछ हमें दीखा था वह कभी भी केवल दीखा ही था, 'है' या 'था' वहाँ कुछ भी नहीं। कभी दीखा था; पुनः रहा भी कहीं नहीं। इसलिये उस का पुनः ध्यान भी क्यों किया जाए। उसके ध्यान से उन्हीं के संग का काम या इच्छा (सुख समझकर उन्हें ग्रहण करने की या दुःख समझ कर उन्हें त्यागने की) होगी। जब वे कुछ भी 'न थे', 'न हैं' 'न होंगे ही'; केवल उसी समय की ज्ञान देव की झाँकी रूप ही वे सब थे; तो पुनः उन न होने वालों में न तो इच्छा, काम ही होगा और न उनको पाने का भाव ही मनुष्य में बहता-बहता उसे कहीं भी जन्मायेगा या मारेगा। और इन सब होने वालों की अशान्ति या दुःख से बचा मन शान्त रह कर या शान्त होकर इसी का सुख अनुभव करेगा। तब केवल यही ज्ञानदेव ही भासमान या प्रकाशमान रहेगा कि केवल एक ज्ञान-ही-ज्ञान कभी दीखा था। इसी ज्ञान देव में ही वे सब कुछ-के-कुछ भासे थे। जैसे कहीं चमकती हुई सीपी में किसी को चाँदी दीख गई या वैसे ही थोड़े प्रकाश में पड़ी टेढ़ी मेढ़ी रस्सी में सांप प्रतीत पड़ गया; परन्तु वहाँ न कोई चाह की वस्तु चाँदी थी; न द्वेष की वस्तु सांप ही था। था केवल हमारा वैसा ही एक प्रकार से माया या अज्ञान के साथ ज्ञान देव ही ज्ञान देव; सदा चेतन रहने से, समझता रहने से चेतन देव ही चेतन देव। यही सब की नींव (अधिष्ठान) है और वही मेरा भी सब से अन्दर का अपना आपा रूप आत्मा है। यह अपना आपा जो कि केवल जगत् की भ्रान्ति और सुख के

स्वार्थ से तृष्णा रूप से लद रहा है, उससे न्यारा हो जाये या टूट जाये तो यही ज्ञानदेव अनन्त सुख या आनन्द रूप से प्रकट भासता है। यही मुक्ति का स्वरूप है। यहाँ कोई दुःख नहीं दीखता। यहाँ तक अपनी मति को उन्नत तथा विकसित करके जो संसार का त्याग होगा वही त्याग सफल होगा। केवल दुःख मान कर, दुःख रूप से विषयों का सुख जब अनुभव में आने लगे तो रोग, शंका और अशक्ति के कारण से त्याग हुआ तो जीव उनके ध्यान को नहीं छोड़ सकेगा, क्योंकि उसे अविद्या परेशान करेगी। इस अविद्या को सुमति (सत्य की बुद्धि) जगा-जगा कर बोध उत्पन्न करने में लगाना महान् फल वाला है।

यहाँ अविद्या को अपने अन्दर कार्य करती हुई निकट से पहचानने का यत्न करे। यह शब्द (अविद्या) जितना सुनने या पढ़ने में बड़ा प्रसिद्ध तथा परिचित प्रतीत होता है उतना इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। यह दर्शन शास्त्रों में कई एक प्रकार से निरूपण करने में आया है। यहाँ साधक को केवल उतना ही जानना है जितना कि इस अविद्या को त्याग कर आत्मा के साक्षात्कार या प्रत्यक्ष दर्शन के लिये चाहिये। अविद्या आत्मा या उसके आनन्द रूप को ढांकने वाला तत्त्व है। जब तक संसार के प्राणियों तथा पदार्थों का संग बना रहा तब तक उनके संग से इस जीव की 'मैं' भी बहुत प्रकार से प्रकट हो-हो कर आनन्द मानती रही। इसी 'मैं' के जाल को जीव ने अपना स्वरूप या आत्मा पहचान लिया या समझ लिया। परन्तु बदलते हुए संसार में यह कोई भी 'मैं' टिकी रहने वाली नहीं। जब

इन परिचय वालों का संग नहीं रहा, तो यह 'मैं' भी नहीं मिलती। इस पर भी ढक्कन पड़ जाता है। जो ज्ञान रूप आत्मा बाहर के संग से प्रकट हो रहा था, जब वह संग नहीं रहा तो अपना आपा नष्ट हुआ-सा दीखता है; परन्तु नष्ट होता नहीं। केवल पहली संसार वाली तृष्णा और उसी की 'मैं' की आसक्ति वाला जीव अपने ज्ञान स्वरूप को उसी संसार की तृष्णा की सोई हुई अवस्था के ढक्कन से ढके रखता है। यही ढक्कन अविद्या का तत्त्व है। जब मनुष्य इस अविद्या को अपने ध्यान में पहचान लेता है तो विवेक तथा विचार के बल द्वारा संसार के स्वरूप को समझ कर उसकी तृष्णा को भी छोड़ने के लिए तत्पर हो जाता है। क्योंकि संसार की कोई भी विभूति सदा तो रहती नहीं, पुनः उस की तृष्णा भी क्यों रखी जाये। जब ध्यान में ही इसे टालने लग जाये तो आत्मा तृष्णा के भार से हल्का हुआ-हुआ आनन्द रूप से प्रकट हो जाता है। तब अविद्या का ढक्कन भी नहीं रहता तथा नित्य पद की प्राप्ति होती है।

सीधे-सीधे जुड़ने न दे,
व्यापक से छला हुआ मन।
उन्हीं से यह करे है प्रीत;
निहित या में हित विपरीत।। । २६८ ।

गत पद्यों में कई एक स्थानों पर व्यापक जीवन या समष्टि रूप परमेश्वर के प्रति भक्ति भाव रखने के निमित्त मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, शील आदि दसों ही बलों को अपने अभ्यास में लाने के लिये कहा गया था। उसी

मार्ग से मनुष्य अपने संकुचित वृत्त (दायरे) या जीवन से निकल कर प्रथम उस व्यापक जीवन रूप परमात्मा से जुड़ेगा अर्थात् उसमें योग प्राप्त करेगा। तब उसे उसी जुड़ने से या योग से व्यापक सत्यों का ज्ञान ध्यान व विचार द्वारा अपने में होगा। उस से मिथ्या 'तेरी', 'मेरी', या 'मैं', 'मेरी' की भ्रान्ति समाप्त होने की दिशा में बढ़ेगी। एक दिन सब भ्रान्ति समाप्त हो जाने पर जो गत पद्य (२६७) में सत्य बतलाया कि केवल एक चेतन स्वरूप या ज्ञान ही सर्वत्र दीखेगा और वही सब मिथ्या जगत् की नींव या अधिष्ठान रूप से समझा जायेगा। अन्त में इसी में सब भ्रान्ति से मुक्त होने पर आनन्द रूप से प्रतिष्ठा होगी।

अब यह पद्य उस विघ्न को जो उस व्यापक से जुड़ने नहीं देता, को दर्शाता है जिससे कि मन उस विघ्न को जीतने के लिये प्रेरित हो।

पद्यार्थ :- संसार में अल्प सुख से छला हुआ मन कुछ एक शरीरों में ही अपनेपन की अपनी दृष्टि में कल्पना करता हुआ ऐसे बन्धा रहता है कि इसे सरल या सीधे भावों के साथ व्यापक सत्य रूप जो परमात्मा है उस से जुड़ने का यत्न नहीं बनता। तब बिना जुड़े सत्य ज्ञान या असलीयत का बोध कैसे हो ? बोध बिना सब मिथ्या संसार से मुक्ति भी कैसे मिले ? मुक्ति बिना सब दुःख भी समाप्त होने के नहीं। केवल अपने स्वार्थ के मार्ग से तो यह प्राणी उसी व्यापक जीवन रूप परमात्मा में ही है, परन्तु है बन्धनों के मार्ग से ही; इन बन्धनों के स्वार्थ को छोड़ता हुआ निःस्वार्थ, निष्काम भाव से सब के प्रति मैत्री आदि

भावों को रख कर नहीं है। प्राणी उन्हीं शरीरों और कर्मों और भावों से अधिक प्रीति करता है जिनसे उसका स्वार्थ साधन हो; निःस्वार्थ प्रीति रूप भक्ति सकल जीवों के लिये समान रूप से नहीं। परन्तु जो ऐसी स्वार्थमयी प्रीति रखता है वह स्वार्थमयी प्रीति इस जीव के परमहित रूप सकल संसार के बन्धनों से मुक्ति रूप फल या हित से विपरीत है। जो कुछ स्वार्थ की अधिक प्रीति से इस जीव को मिलेगा उससे जो कुछ पुनः परिणाम के रूप (नतीज़े के रूप) में इस को प्राप्त होगा, वह सब भला न होगा। वह केवल दुःख शोक रूप ही होगा। इसलिये जीव सांसारिक स्वार्थमयी प्रीति में हित से उल्टा ही बसा या टिका हुआ है।

इस पद्य का भाव यह है कि जैसे प्राणी अपने सांसारिक स्वार्थ वालों से मित्रता का भाव रखता है तथा उनके दुःख में दया का भाव भी रखता है; अपनों के गुण दृष्टि में रखता हुआ उनसे मधुरता का बर्ताव भी करता है। उनके लिए स्वयं दुःखी होकर भी उनके सुख की सोचता है। वैसे ही यदि सब के लिए एकान्त में अपने मन में इन्हीं मित्रता आदि के भाव बनाये और दूसरों के प्रति सही बर्ताव रखे और उनके अवगुण या दोष न देखता हुआ उनके गुणों पर दृष्टि रख कर उनको ही बन्धु बनाये, तो वह प्राणी इस निःस्वार्थमयी भक्ति द्वारा व्यापक सर्व जीवन के सागर रूप परमात्मा के लोक को प्राप्त होगा। तब उसे व्यापक जीवन भी समझ में आने लगेगा। उस जीवन को चलाने वाले राग, द्वेष, मान, मोह आदि सब बन्धन ही

सर्वत्र दीखेंगे। 'तेरी-मेरी' या 'मैं-मेरी' सब झूठी ही दीखेगी।

उन्हीं का सहारा सदा चाहे,
ब्रह्म का न भावे है विधान।
रहे दुर्गुणों में सदा ही रुलाये;
नीकी लागे न इसे गुणों की खान।। ।२६६।

जब कि सत्य का साक्षात्कार करना है तो आगे से आगे सत्य को समझने के लिए उसमें मन जोड़ना पड़ेगा। इसी जोड़ने का नाम योग है। ऐसा योग यदि चाहिए तो मनुष्य को जीव भाव के 'छोटे क्षेत्र' या 'तेरी-मेरी' के दायरे से निकलना भी आवश्यक होगा। इसी के लिए जीव को अपना जीवपने का स्वार्थ भी कम करना पड़ेगा अर्थात् जीव में अपने सुख के लिये जो राग और द्वेष और उनसे होने वाले बहुत से हिंसा, झूठ, चोरी आदि मिथ्या कर्म हैं उन से होने वाले सुख को भी छोड़ना पड़ेगा या दिनों-दिन घटाना पड़ेगा। जितनी मात्रा में स्वार्थ त्यागा जायेगा उतना-उतना मनुष्य का मन व्यापक भाव को प्राप्त होगा। व्यापक का नाम ही यहाँ ब्रह्म शब्द से कहा है। परन्तु इसमें विघ्न या अड़चन है वही जीव का थोड़ों के सहारे बन्धा हुआ स्वार्थ सुख के स्वरूप में; और दुःख से बचाव के लिये भी कुछ लोगों का बन्धन और कई एकों का द्वेष रूप से भी बन्धन। यदि अपने इन्हीं छोटे संसार के स्वार्थ का ही कोई सहारा बनाये रखना चाहे, तो वह सर्वव्यापक, सब में समान जो ब्रह्म या व्यापक है या उसका विधान (कायदा कानून) है उसको समझ भी नहीं सकेगा और

जीव को किस प्रकार उसी का स्वार्थ उसी को छल कर सब मिथ्या राग, द्वेष, काम, क्रोधादि विकारों द्वारा सब मिथ्या कर्म करवा कर किस-किस चक्र में डाल देता है। यह सब इस मनुष्य को कभी भी ज्ञात नहीं होगा। यह सब इस प्राणी के भाव तक में भी नहीं होगा। यह अपने स्वार्थ हेतु दुर्गुणों में, ईर्ष्या, मत्सर और दूसरों से उलझने में ही लगा रहेगा; परन्तु उस व्यापक परमात्मा के गुणों को या मैत्री आदि बलों को नहीं पहचान पायेगा। इस से पुनः न चाहता हुआ भी अपने स्वार्थ के कारण दुर्गति को प्राप्त होगा। इससे बचने के लिये ही यह पद्य प्रेरित करता है।

पद्यार्थ :- जिन के संग से इस जीव का हित बिगड़ता है उन्हीं का सहारा यह जीव चाहता है। अपने आत्मा का व्यापकीकरण अर्थात् व्यापक भाव में प्रवेश करना इसे नहीं भाता। छोटे जीव भाव से निकल कर मैत्री आदि बलों वाला या त्याग, तप और अपने मन को शान्त बनाने और रखने के गुण वाला भगवान् इस स्वार्थी जीव को नहीं भाता; काम, क्रोध, ईर्ष्या, मत्सर (द्वेष) आदि अवगुणों में रुल कर दुर्गति पाना ही भाता है।

ऊपर कहे इन दो पद्यों का भावार्थ यह है कि परिवार और मित्र आदि जाने पहचाने व्यक्तियों के सहारे से इस जीव को जो अपनी प्यार वाली 'मैं' अनुभव में आती है उसी अपनी 'मैं' या 'मैं भाव' की खींच के कारण वह इन्हीं अपने परिवार या मित्र वर्ग का सहारा सदा खोजता है। इन्हीं में अपनी दृष्टि गाड़े रखने के कारण जीव व्यापक ब्रह्म या सर्वत्र विस्तार वाले ब्रह्म से अपरिचित-सा ही बना

बैठा रहता है; क्योंकि वहाँ इसे (इस जीव को) परिवार वाले भाव न मिलने से वह परिवार या मित्र प्यारों में पायी हुई 'मैं' नहीं मिलती। यह (प्राणी) इस 'मैं' को अपना आत्मा रूप से समझे बैठा है, यद्यपि यह बनी रहने की नहीं है। जहाँ इन सब प्रियजनों का संयोग नहीं, वहाँ से तो इसे भय ही लगता है। इसलिये व्यापक ब्रह्म में तो यह आसक्ति वाला प्राणी कहीं भी स्थान नहीं पाता। अब यदि वह इस के परिवार आदि की आसक्ति के राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि दुर्गुणों और अन्यों से भय, शंका आदि सब त्याग सके तथा भगवान् के सब जीवों के प्रति मैत्री आदि अपनाने का धर्म रख सके, तो इस प्राणी को अपने परिवार के समान ही व्यापक, चारों ओर फैला हुआ जीवन का सागर सामान्य रूप से भाने लगेगा तथा सुहावना भी लगेगा। इस में बिना विशेष किन्हीं व्यक्तियों के परिचय के, किसी से बोले चाले बिना भी मन आनन्द मानेगा और इसी व्यापक की लीला अपने ध्यान में देखता हुआ अपने में ही तृप्त रहेगा। परमेश्वर के लोक को प्राप्त होना, यंह भी एक प्रकार की मुक्ति ही है। यदि साधक का सही उद्योग बना रहा तो यही पुनः आगे बढ़ते-बढ़ते अन्त में आनन्द रूप आत्मा तक भी पहुँचा सकता है। इसके लिये उद्योग की चर्चा स्थान-स्थान पर की गई है।

घर इस का बने हैं संस्कार,
कड़वा, मीठा जो निखिल विकार।
मिले उन्हीं में मीठा 'मैं' का भाव;
जिस के मोह से न भावे है अभाव।।

। २७० ।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

यह पद्य भी मनुष्य को अपने आप को व्यापक जीवन रूप परमात्मा से जोड़ने की प्रेरणा देने के लिये, अपनी वासनाओं (संस्कारों) से तथा उन्हीं वासनाओं और उन के काम, लोभ आदि विकारों से बचने के लिये और उन्हीं को त्यागने के लिये प्रेरित करता हुआ उन के सहारे के बढ़े बन्धन तथा सांसारिक "मैं भाव" को भी त्यागने की प्रेरणा देता है। जब मनुष्य को अपनी संसार में पायी 'मैं' नहीं मिलती तो वह अपना विनाश जैसा समझता हुआ परे की ज्ञान रूप आत्मा या ब्रह्म को न पहचान सकने के कारण से ही पुराने संस्कार जगाकर वैसे ही संसार में होता हुआ अपनी सांसारिक आत्मा या 'मैं' रूप से अपने आप को बना या बसा रहना समझता है। यह सब व्यापक सत्य की भक्ति या व्यापक में मन जोड़ने से ही समझ में आ सकेंगे। जीव भाव के स्वार्थ को ध्यान द्वारा छोड़ कर धीरे-धीरे व्यापक के विधान को समझने से ही प्राप्त होंगे। इसी सब भाव को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- इस जीव का घर तो इसी के संस्कार (वासना रूप से) बने बैठै हैं। उन्हीं संस्कारों में बसी, बैठी "मैं" को पाने के लिये यह जीव छोटे संसार में घुसता है। इन्हीं संस्कारों या वासनाओं में जीव के स्वार्थ के अनुसार काम आदि मीठे और क्रोध, चिड़चिड़ापन आदि कड़वे विकार बसे बैठे हैं, जिन से किसी का अच्छा करना; किसी का अच्छा बिगाड़ कर अपने स्वार्थ हेतु बुरा करना भी बसा, बना बैठा है। इसी जगत् में पुनः उछालने वाली अपनी 'मैं' मीठी लगती है। बच्चों में मान पायी हुई जो

卐卐卐

''मैं'' बड़ेपन को अनुभव करती है उसे छोड़ने को मन नहीं चाहता। अपने प्यारे, जिस आदर, सत्कार वाला हमें अपना करके जानते या मानते हैं वह सब व्यापक भाव में पहुँचने में अड़चन डालता है। इन्हीं का सहारा बनाये रखा जाता है। इसी 'मैं' का इतना मोह है कि जहाँ यह नहीं मिलती, वहाँ जाने और बसने को मन ही नहीं चाहता। इस मीठी 'मैं' का अभाव (न होना) कभी भी नहीं भाता। परन्तु यह समय के परिवर्तन के साथ-साथ या मृत्यु आने पर, अथवा जीवन काल में भी स्वार्थ का सम्बन्ध न रहने पर, वैसी पहले समय वाली मीठी 'मैं' तो मिलेगी नहीं। इसका वियोग तो सहन करना ही पड़ेगा।

यही जो प्यारे दूसरों के संग से 'मैं' या 'मैं भाव' (अस्मिता) को मनुष्य संसार में अनुभव करता हुआ सुख से समय व्यतीत करता है वह इसे 'मैं' या 'मैं भाव' को छोड़ कर केवल ज्ञान रूप, सदा एक रस रहने वाला, सदा वर्तमान अपना आपा (आत्मा रूप) नहीं पहचानने देता। अकेले में भी प्राणी संसार वाली 'मैं' को ही याद करता हुआ तथा आगे जो बाहर प्रकट होना है, ऐसी अपनी 'मैं' को ही हर समय सिर पर ढोता रहता है। जो चल बसी या अतीत हो गई वह तो अब वर्तमान नहीं रही, सत् स्वरूप से अनुभव में नहीं आती। आत्मा तो सत्-चित् स्वरूप है अर्थात् हर समय ज्ञान में आते रहने वाला है। तभी यह सत्-चित्-आनन्द रूप से मनुष्य को सदा बसे या नाश रहित अवस्था में होने का अनुभव करवायेगा। परन्तु संसार वाली 'मैं' में यह बात नहीं बनती। दूसरों का संग

卐卐

वैसा नहीं रहता; अपनी भी शक्ति या योग्यता वैसी 'मैं' या 'मैं भाव' को पाने वाली नहीं रहती। तब पुनः बाहर की 'मैं' तो असत् हो जाती है। ऐसी अवस्था में उसी सांसारिक 'मैं' के संस्कार वाला जीव अपने आप का 'न रहना', या विनाश को शंका में लाकर अत्यन्त दुःखी होकर पुनः संसार के संस्कार जगाकर संसार के ही स्वप्न देखता है। उसी में जन्म पाता है और पहले के समान मरण चक्र भी देखता है। यह जन्म-मरण, आवागमन संसार के रास्ते कभी भी मिटने का नहीं, परन्तु जीव इसी में मोहित हुआ सदा इसी में बसा रहता है और इसी में बसा रहना ही उसे रुचिकर लगता है।

मनुष्य को केवल ध्यान अवस्था में ही अपने आप की खोज करने पर ज्ञात होगा (पता लगेगा) कि जो सांसारिक प्राणी को अपना आपा दूसरों के संग से प्रकट भासता है वहीं तक ही यह जीव या मनुष्य नहीं है। मनुष्य या जीव की वास्तविकता (असलीयत) बड़ी गम्भीरता तक पहुँची हुई है। इस देहधारी में जो-जो शक्तियां काम करती हैं वे स्वतन्त्रता से अपने नियमों के अधीन जीव को संसार में प्रकट करती हैं, जन्माती हैं और उन्हीं के विधान के अनुसार सुख व दुःख प्राणी संसार में अनुभव करता है।

यदि इन शक्तियों की पराधीनता से निकलना है तो इसे आत्मा की ही शरण खोजनी पड़ेगी। आत्मा भी जो शुद्ध ज्ञान मात्र का ही स्वरूप है। संसार के प्राणियों वाली 'मैं' बनाये रखने का भाव इस मनुष्य को त्यागना ही पड़ेगा।

यूँ-यूँ (ज्यों-ज्यों) मनुष्य अपने मन को पहचानने वाला होता जाता है त्यूँ-त्यूँ उसका ध्यान अन्तर्मुख होने लगता है। वह अपने सब काम, क्रोधादि विकारों को पहचानने लग जाता है। इनके कारण की खोज करने का सामर्थ्य भी पा लेता है। पुनः उसे अन्दर के सब सत्य दिखाई देने लगते हैं। यूँ-यूँ (ज्यों-ज्यों) वह अपने सब विकारों को शान्त करने की योग्यता प्राप्त करता जाता है त्यूँ-त्यूँ उसे अविद्या तक के सारे बन्धन भी प्रकट समझ में आने लग जाते हैं। अन्त में इन सब को वह अपने आप में शान्त करके अनन्त सुख को अपनी आत्मा में ही पाता है। परन्तु आरम्भ यहीं से होगा कि शुद्ध आचरण करता हुआ मनुष्य प्रथम अपने मन को और इसके भाव और विकारों को ऐसे पहचानने लगे जैसे कि संसार की प्रत्येक वस्तु को पहचानता है।

यहाँ "मैं" को मिटाय, थोड़ा खटका तो आय,
पर भासे जो अनन्त क्षण-क्षण में समाय।
राखे मन धीर, सह ले वेदना विपरीत;
क्रम से टले दुःख, पावे मुक्त परम प्रीत।।
। २७१ ।

गत पद्य में दर्शाया गया कि सांसारिक 'मैं' या 'मैं भाव' की मिठास का इतना मोह है कि इस 'मैं' के बिना जीव अपना विनाश-सा समझने लगता है। इसी सत्य को सम्मुख रखकर यह पद्य दर्शाता है कि ऐसी विनाश की शंका कोई सार वाली नहीं है; क्योंकि जो 'मैं' के अभाव या 'न होने' को देख या समझ कर दुःखी हो रहा है वह

तो कम-से-कम ज्ञान स्वरूप में नष्ट हुआ नहीं हुआ और न होगा ही। पुनः नाश या अपने मिटने की शंका किस बात की ? यह ज्ञान अन्त रहित (अनन्त) है पर इस को भासने या दृष्टि में प्रकट, प्रत्यक्ष रूप से वही संसार वाली 'मैं' के मीठे संस्कार नहीं आने देते क्योंकि उन्हीं प्रेमी या अपने मन के अनुकूल चलने वालों में जो अपना आपा या 'मैं' अनुभव में आती है वह इतनी मीठी होती है कि जब उसका समय बीत भी जाता है तो भी वही याद में लिपटी हुई, और मन को खींचती हुई 'मैं' असलीयत या सत्य को समझने या पहचानने के लिए विचार तक को भी जगने नहीं देती; निद्रा लाकर भी उसी मीठी 'मैं' के स्वप्न ही दिखाती है। बदलते रहने वाले समय में यह सदा टिकी नहीं रहती, यह सत्य दृष्टि में रख कर मनुष्य को इस से आसक्ति छोड़ कर नित्य ज्ञान रूप आत्मा से प्रीति जोड़नी है। यदि इस संसार वाली मीठी 'मैं' की याद मन न भी भूलना चाहे तो भी जब तक इसकी याद टिकी रहती है तब तक मनुष्य स्मृति और सावधानता रख कर अपने आपको ज्ञान से संभाले रखे; अन्त में मन से यह उतर ही जायेगी। उतरते ही इसका, चेतन आनन्द रूप आत्मा प्रकाशमान् हो जाएगा। इस साधन का सहारा सदा बनाये रखे। आत्मा तो प्रकट ही है। यह अनन्त ज्ञान स्वरूप क्षण-क्षण चमकने वाला है और चमक भी रहा है । इसी का नाम 'चित्' है ।

अब यह पद्य यही प्रेरणा देता है कि इस सदा बसे रहने वाले सब की नींव रूप चेतन को अपना आपा रूप

आत्मा पहचानने के लिये संसार की 'मैं' को भूलना आवश्यक है और उस संसार वाली 'मैं' की तुच्छता को भी पहचानना आवश्यक है। जब वह बनी रहने की ही नहीं तो वह गई ही गई हुई है; बीती ही बीती हुई है, इसी का नाम तुच्छ और असार है। पुनः इस का मोह क्यों करना। ऐसा बोध मन में रख कर धीर पुरुष इस में वियोग की सारी वेदना (तकलीफ) सहन कर ले; अन्त में सब दुःख टल ही जायेगा और सब दुःख से मुक्त होने पर वही धीर पुरुष परे का जो अनन्त ज्ञान स्वरूप सब में समान आत्मा या चेतन ब्रह्म है उस की प्रीति को भी पायेगा। उसमें वह आनन्द के साथ स्थिर (टिका) रहेगा।

शब्दार्थ :- यहाँ 'मैं' को मिटाने के लिये मनुष्य आगे बढ़ता है और मिटाता जाता है तो इसे अपना आपा ही मिटा हुआ होने का खटका (शंका, भय) होता है। परन्तु प्रत्येक क्षण में समाया हुआ अनन्त ज्ञान स्वरूप परे वाला अपना आपा भासने पर यह खटका व शंका, भय नहीं रहता। वह परे वाला आत्मा भासेगा अवश्य यदि धीर होकर मनुष्य अपने मन की रक्षा करता रहे। संसार में न जाने के अर्थात् दूसरों के संग के सुख को दूर ही रखने के सब दुःख को सहन कर ले। अन्त में दुःख टलेगा ही और मुक्त हुआ-हुआ पुरुष उस परे वाले अनन्त ज्ञान की प्रीति को भी पायेगा।

संसार वाली उलझन के संस्कार भी जब कभी स्फुरित हों तो वे भी क्षण-क्षण बदलते हुए ही दीखें। जैसे भगवान् चेतन देव अपने विज्ञान में कहीं सदा एक जैसा नहीं दीखा

तो आप पुनः किसको एक जैसा अपने मन में बैठा कर रखोगे ? आप भी इसका प्रत्येक क्षण न्यारा-न्यारा ही अनुभव करो। है तो सब यह उसका ज्ञान, विज्ञान स्वरूप ही परन्तु इसमें वस्तुपने का तो सब भ्रम ही है। पुनः उस वस्तु का एक रूप में टिके रहना तो केवल बुद्धि का अपने सुख दुःख के राग, द्वेष और मोह के कारण से ही मिथ्या विश्वास रूप में ही है। इस सब मोह जाल को प्रकट इस विज्ञान देव के सही स्वरूप को साक्षात्कार करके समाप्त करना है। तब आप को इस पद्य में कहे भाव का सत्य पूर्ण रीति से अनुभव में आयेगा कि बात तो सही है कि बदलते हुए देह में जो क्षण कभी दीखा वह टिका कहाँ है ? टिका हो तो बदलती हुई दशा (तबदीली) कैसी ? बदलती दशायें ही न हों तो बच्चा एक दिन बूढ़ा कैसे होता ? इसलिए जैसे इस पद्य में दर्शाया कि विज्ञान क्षण-क्षण चेतता रहता है, कभी टिका नहीं है। इसलिए बसी हुई वस्तु के रूप में 'तूं या मैं' सब मिथ्या ही है ! ऐसा जानने पर अविद्या नहीं रहेगी। यही चेतता हुआ विज्ञान सदा जागता रहेगा। जो पीछे का था वह तभी का ही था : आगे के समय में वह कैसे होगा ? पीछे वाला ही आगे के विज्ञान के क्षणों में देखेगा तो ही संसार की धारा बनेगी। 'वही मेरा प्रेमी', 'वही मेरा वैरी', यही संसार की धारा है। इसे प्रत्येक क्षण न्यारा-न्यारा देखते हुए समाप्त करना है। जब आप को अपने अन्दर विज्ञान का प्रत्येक क्षण दीखने लगेगा तो क्षण का साक्षात्कार होगा। प्रत्येक क्षण ज्ञान का होगा। अज्ञान या ज्ञान से विरोधी अविद्या का नाम तक भी

卐卐

नहीं रहेगा, न अपना स्वरूप छिपेगा ही। पुनः अपना आपा पाने के लिये संसार में जन्मना भी नहीं पड़ेगा। परन्तु इसके लिये मनुष्य को सही विज्ञान या मति वाला तथा स्मृति वाला बनना पड़ेगा तभी वह संसार से पार जा पायेगा।

केवल ज्ञान है इस का स्वरूप,
पर हो दूजे के संग से विरूप।
विज्ञप्ति यथा-यथा चमकाय;
कहाँ छोड़े कुछ ? 'मैं' का लेश भी न पाय।।

। २७२ ।

गत पद्य में दर्शाया गया कि अपनी संसार में होने वाली, दूसरों के संग से पायी हुई अल्प काल की 'आत्मा' या 'मैं' रहने वाली तो है नहीं; इसलिए स्वयं अपनी इच्छा से ही इसे बोधपूर्वक त्याग कर इसी की जड़ में बैठी हुई, शुद्ध ज्ञान स्वरूप से ज्ञान मात्र के ही रूप में पायी जाने वाली आत्मा (सतत् या लगातार ज्ञान रूप से चमकने वाली 'मैं') को ही धैर्य रख कर सांसारिक 'मैं' के मिटने का कष्ट सहन करके, जीवन काल में ही सब दुःखों का अन्त करके देख ले। इसके लिये अपनी बाह्य या सांसारिक 'मैं' को मिटाने का संशय न माने। वह मिटने ही वाली है।

अब शंका होती है कि अपनी 'मैं' तो हम अपना मिथ्या बाहर का स्वार्थ त्यागने पर न जन्मने दें; परन्तु इतना बड़ा संसार या उस के प्राणी पुनः अपनी-अपनी उस कई एक प्रकार की 'मैं' से या 'मैं भाव' से शान्त टिकने नहीं देते।

उन्हें बिना किसी कारण के भी अपने को परेशान करते देख कर पुनः उन के सम्बन्ध से भी हमारी 'मैं' उछल पड़ती है। इस का क्या उपाय बने ? तो इसी का उत्तर स्वरूप यह पद्य है कि :-

पद्यार्थ :- इसी जीव का या मनुष्य का जो कि संसार में अपने स्वार्थ से या दूसरों के तनावों द्वारा या कि संसार में सदा बने रहने के कारण से 'मैं भाव' उछलता है वह इस का 'मैं भाव' सच्चा अपना आपा या आत्मा नहीं है, जो कि गहराई में अपने हित की सोचता है। वास्तव में (असलीयत में) तो इस का स्वरूप केवल ज्ञान ही है। चाहे ज्ञान कैसा भी है, दुःख का है; सुख का है; काम रूप में भासा है; क्रोध, अहंकारादि रूप में भासा है या अन्य किसी भी रूप में दीखा है। वह सब केवल ज्ञान का ही रूप है। इस प्रकार ज्ञान रूप से ही सब को चिन्तन करना तथा पहचानना। इस प्रकार विज्ञप्ति अर्थात् मनुष्य का विज्ञान चमकेगा, शुद्ध होगा; पवित्र, निर्मल, सब बन्धन आदि मैल से परे होगा। तब 'मैं' या उसके कल्पना किये हुए संसार का लेश (थोड़ा) भी अंश न बचेगा। यही मुक्ति की चरम सीमा है। इसी ज्ञान के रूप में ही साधक को अपनी दृष्टि (नज़र) रखनी है। जो कुछ सांसारिक, दूसरों के संग से 'मैं भाव' या विकार दृष्टि में पड़ते हैं वे सब क्षण मात्र के ही हैं। रहने के तो हैं नहीं; इसलिए उन के संग से कहीं उलझ कर कहीं ज्ञान रूप की अपनी समझ न खो बैठे। यह जो दूसरे का संग है वही ज्ञान के सच्चे स्वरूप को छुपा कर कुछ दूसरे को सत् जैसा (दुःख है, सुख है, मित्र

है, शत्रु है, बुरा करने वाला है) बना देता है।

ये सब तो सब को दीखते हैं और यही सत् जैसे प्रतीत होते हैं; जैसे कि यही सब बने, बसे बैठे हैं; ऐसा सब तो ज्ञानदेव में प्रकट होता है। परन्तु केवल ज्ञान का जो कोरा अपना सही स्वरूप है, समझने या पहचानने का स्वरूप है; वह कहीं भी नहीं दीखता। अब साधक पुरुष को यही करना है कि वे सब मिथ्या सांसारिक रूप तो दब जायें और बोध द्वारा ये सब तो कुछ भी न दीखें, परन्तु केवल ज्ञान-ही-ज्ञान सब में दीख पड़े। यही भावना शब्द द्वारा भी शास्त्रों में कहा गया है। भावना का अर्थ है कि वैसा केवल ज्ञान-ही-ज्ञान का भाव ही बनाना। दूसरा सत् का भाव संस्कारों के कारण से बन कर ज्ञान को प्रकट प्रकाशमान् नहीं होने देता। परन्तु साधक पुरुष को ज्ञान का भाव रख कर दुःख आदि में, अपमान भाव में, दूसरों के अपराधों में भी चमकता हुआ ज्ञानदेव ही देखना है। यही पद्य में कहा गया है कि विज्ञप्ति अर्थात् विज्ञान ही मनुष्य में जैसे-जैसे चमकेगा, वह संसार में कुछ भी न छोड़ेगा; किसी की भी सत्ता (हस्ती) टिकने न देगा। यहाँ तक कि अपने में या दूसरों में चमकने वाली, एक दूसरे के सम्बन्ध से ही उछलने वाली 'मैं' भी कहीं न दीखेगी। एक ही केवल ज्ञान का स्वरूप अपनी क्षण-क्षण नई-नई झाँकी प्रकट करता हुआ लीला करता हुआ दीखेगा।

यहाँ विज्ञप्ति शब्द का प्रयोग किया गया है; इस का अर्थ है ज्ञान जो हमें कुछ सूचित करता है, सत्य के बारे में सही सूचना देता है। वह ज्ञान का ही स्वरूप है; परन्तु

मिथ्या उलझन से बचने के लिये सत्य को जनाता है। वही विज्ञप्ति जैसे-जैसे हमारे में बढ़ती जायेगी, चमकेगी, हमें सत्य का बोध होने पर सर्वत्र केवल ज्ञान-ही-ज्ञान, हर समय चेतते रहने वाला चेतन ही चेतन दिखाई पड़ेगा। न कोई पदार्थ और न कोई प्राणी ही इस से विलक्षण रूप में दृष्टि में आयेगा। यही संसार में भी रहते हुए मुक्ति का स्वरूप उद्योगी पुरुष, मैत्री आदि बलों के संग जीवन को जानने वाला और थोड़ी देह की आवश्यकता को ही रखता हुआ अनुभव करता है।

'मैं' का सहारा यही स्तम्भ देखे जन,
बाहर सारे विषय, उनसे चौंका चमका मन।
मीठा, कड़वा वेदन और विविध विज्ञान;
संस्कार बहु उपजें, इन सब में 'मैं' का मान।।
। २७३ ।

गत पद्य में दर्शाया गया कि मनुष्य को केवल ज्ञान स्वरूप ही अपना आपा पहचानना चाहिये। यही इसका सच्चा स्वरूप (आत्मा) केवल स्त्री, पुत्र, मित्र या अन्य बन्धुओं के कारण से द्रोही, शत्रु आदि रूप से भी झलकता है। उन दूसरों के संग से होने वाले भावों में मनुष्य को बहा कर दुर्गति में डाल देता है। दूसरे भी न जाने किन-किन भावों में बहते हुए एक दूसरे के सम्मुख किस-किस प्रकार से व्यक्त या प्रकट भासते हैं। हैं तो बेचारे वे भी केवल ज्ञान का ही स्वरूप; परन्तु इन्हीं अविद्या आदि बन्धनों ने उन्हें क्या-का-क्या प्रकट कर रखा है। उन्हें वैसा भयंकर रूप में दिखा कर या अन्य प्रकार के

अपराध युक्त मन से भय वाले प्रकट करके दूसरों को भी न चाहते हुए मिथ्या मार्ग पर खींच कर ले जाया जाता है। यही माया का छल या भ्रान्ति शब्द से कहा गया है। यह सब जाल केवल बाह्य सांसारिक 'मैं' के ही सहारे हैं। अब यह पद्य इस मिथ्या 'मैं' के सहारे जिनके ऊपर कि यह झूठी या मिथ्या 'मैं' टिकी बैठी है, उन्हीं सहारों को दर्शा रहा है जिन पर इस 'मैं' का या 'मैं भाव' का घर टिका है; जिन स्तम्भों (खम्भों) पर खड़ा है, उसे यह पद्य दर्शाता है जिससे कि इन्हें समझ कर, इन्हें त्यागता हुआ पुरुष इन्हीं की जड़ में बसे हुए शुद्ध चेतन या ज्ञान देव को अपनी आत्मा के स्वरूप से अनुभव में लाये।

पद्यार्थ :- मनुष्य एकान्त में आसन पर ध्यान में स्थिर होकर अपने अन्दर ज्ञान दृष्टि द्वारा इस संसार में उछलने वाली 'मैं' को टिकाने वाले स्तम्भ या सहारों को समझे और परखे।

यह 'मैं' संसार के विषयों के संग बसे देह में भी होती है। जैसे देह रूप से मनुष्य अपना आपा पहचानने लगता है और देह धर्मों में बन्ध कर उग्र कर्म करता है, उसी प्रकार देह में ही इन्द्रियों द्वारा विषयों से सम्बन्ध होने से इन्द्रियां भी 'मैं' का सहारा या स्तम्भ बन जाती हैं। जीव देखने, सुनने, चखने वाला बनता है। यह भी 'मैं' को ही बसाने वाली हैं। इसी प्रकार प्राण क्रिया विविध प्रकार से कर्मों में मनुष्य की 'मैं' प्रकट करती है, जिससे मनुष्य कहता है कि 'मैं यह करता हूं', 'मैंने वह किया', 'यूं-यूं करूँगा', इत्यादि करने वाला भी बनता है। यद्यपि ज्ञान

रूप से अकर्ता है। कर्म सब वायु देव के हैं या उसी का बसा हुआ स्वरूप देह में प्राण है। उसी के ही सब कर्मों में इस जीव की भी 'मैं' उपजती है। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या और अनन्त प्रकार के संकल्प विकल्प और वैसे ही अनन्त भाव (महसूस करने के प्रकार से) मन के देव में उछलते रहते हैं। इन सब में मनुष्य की 'मैं' प्रकट घूमती रहती है। मनुष्य कहता है 'मैंने सोचा', 'मुझे भासा', 'मुझे क्रोध आया', 'मुझे वह प्रिय जचा', इत्यादि अनन्त मन की संज्ञाओं (नामों) की कल्पना मनुष्य करता है। नाम मन में कूदने या टिके रहने वाले, या बहने वाले धर्म हैं। इन सब में 'मैं' उछलती है। ये सब तो प्रकट सत् या बने, बसे दीखते हैं, परन्तु इन की तह या तल पे टिका हुआ चेतन देव या ज्ञान देव नहीं झलकता। वह समान रूप से नहीं भासता, परन्तु छुपा या ढका रहता है। इसी प्रकार सुख रूप प्रकट होने से मीठा संवेदन (महसूस करना) और दुःख रूप से अनुभव में आने से कड़वा संवेदन; ये दो प्रकार की वेदनायें हैं (वेदना का अर्थ है महसूस करना)। इनमें जो न तो सुख और न ही दुःख रूप से अनुभव में आये वह एक तीसरी वेदना हो सकती है। परन्तु यह सब वेदनाओं के ही प्रकार 'मैं' भाव का एक स्तम्भ या सहारा है। इन्हीं में शास्त्रों में कहे गये पाँचों कोश भी आ जाते हैं जो कि आत्मा को ढांकने वाले हैं। इन सब पर्दों में छिपा हुआ ज्ञान देव स्वरूप (केवल चेतन ही चेतन) हम ने अपनी दृष्टि में रखकर शेष जो भी ढक्कनों के रूप में दीखने वाले ज्ञान हैं, उन सब की उपेक्षा करनी है।

卐卐

अन्त में सब से पीछे का स्वरूप है जिस पर कि 'मैं' टिकी है वह है बहुत प्रकार के सांसारिक जीवन और सांसारिक प्राणियों और पदार्थों के संस्कार। ये सब संस्कार वासना रूप से शास्त्र में प्रसिद्ध हैं क्योंकि यह अन्दर जीव स्वरूप में बसे-बसे पुराने ही ढंग के स्वार्थ को सम्मुख लाकर ज्ञानदेव पर पर्दा डालते हैं।

इन सब को एकान्त में आसन और ध्यान में सजे उद्योगी पुरुष को पहले विवेक द्वारा अपने स्वरूप से निकालना है। पुनः उस विवेक के स्वाभाविक हो जाने पर इन्हें केवल दृष्टि रखते-रखते केवल दर्शन मात्र से ही बिना कुछ सोचे विचारे भी क्षण-क्षण उत्पन्न होते, नष्ट होते, आते या विदा होते हुओं को देखते-देखते क्षण-क्षण टालते जाना है। एक दिन केवल ज्ञान-ही-ज्ञान तो रहेगा। इन सब में मन न उलझेगा। तब मनुष्य अपनी मुक्ति प्रकट देखेगा।

केवल देहादि को अपना आपा देखते हुए प्रत्येक वस्तु या मन की बदलती हुई अवस्थाओं में भी यह झूठी 'मैं' अपने को सदा स्थिर मानती है। यही सब पीछे कहे गये झूठी 'मैं' के सहारे हैं। सच्ची 'मैं' तो आत्मा के बल ज्ञान स्वरूप में ही है। उद्योगी पुरुष को केवल परे का ज्ञान रूप सत्य साक्षात्कार में ला कर इस से मुक्ति पानी है।

यह मिथ्या 'मैं' भाव ही जीव का बाह्य अस्तित्व है। यदि यह बाहर 'मैं' की खोज अर्थात् इसे पाने का भाव न रहे तो बाह्य सत्ता से मनुष्य को अत्यन्त छुटकारा (मुक्ति) प्राप्त हो जाये और जहाँ संसार का अस्तित्व नहीं है वह

उस आत्मा में ही सुखी हो जायेगा। छोटी-छोटी बातों में भी बाहर अपनापन दिखलाने की इच्छा और भाव होता है। कारण कि संसार में अपने होने को अनुभव करने का भाव सदा बना रहता है जिस के बिना अपना विनाश सा प्रतीत होने लगता है।

यदि कोई केवल ज्ञान स्वरूप को जागता रख सके तो उसे संसार में हुए बिना भी अपने विनाश की शंका नहीं होगी, केवल अपने आप का ढका रहना ही विनाश की शंका उत्पन्न करके संसार में जन्माता है। इसलिये ज्ञान स्वरूप में सदा जागने का यत्न बनाये रखे। विवेक विज्ञान युक्त होकर एकान्त में समय व्यतीत करने की आदत डाले।

ॐ इति कामात्म परिहार वर्ग ॐ

卐 अथ बन्धन विमुक्ति पूर्वक परमात्म प्राप्ति योग निरूपण वर्ग 卐

यहाँ सूझ न बूझ कछु, अविद्या तम को फैलाये।
संस्कार की खींच कर, जस तस ज्ञान उपजाये।।
। २७४ ।

गत पद्यों में जो यह दर्शाया गया कि मिथ्या 'मैं' या 'अहंकार' की गांठ को तोड़कर पुनः पूर्ण चेतन स्वरूप जो पुरुष का अपना वास्तव (असली) स्वरूप है उस में प्रतिष्ठा को प्राप्त करके संसार के सकल दुःख का सदा के लिये अन्त करे। यही मुक्ति का स्वरूप है। अब आगे के कुछ पद्यों में इसी ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर बतलाया गया साधन संक्षेप से कहा गया है, जिस से कि वह साधन जीवन में उतारने के लिये हर समय स्मृति (याद) में रखा जा सके। यहाँ सब कुछ कहा गया साधन मनुष्य को अपने अन्दर उतारना है।

पद्यार्थ :- जहाँ मनुष्य के मन में कुछ भी सुझाई न पड़े; और कोई बोध या ज्ञान न हो, वहाँ यह समझना चाहिए कि अविद्या अपनी छुपाने की शक्ति रूप तम (अन्धकार) को फैलाए बैठी है। तम या अज्ञान की ज्ञान शून्य इस अवस्था में यह अविद्या पुनः शक्ति रूप से पुराने संस्कारों को खींच कर अन्धकारमयी अवस्था में जैसा-तैसा कोई-न-कोई ज्ञान उपजाती है जिस से मनुष्य का मन अन्धकार से कुछ निकला हुआ सुख का श्वास पाता है।

इस पद्य का भावार्थ यह है कि संसार में मनुष्य की 'मैं' केवल सांसारिक सुख के कारण बनी या टिकी बैठी

है। या तो सुख का अनुभव करते समय बीते या पुनः सुख के साधनों को जुटाने के उपायों में लगे-लगे समय व्यतीत हो। जब ये दोनों नहीं तो आलस्य, निद्रा आदि में मन लीन होना चाहता है। परन्तु सदा निद्रा में भी इस मन को रहने की आदत नहीं। जब उस से उठेगा तो संसार के सुखों को पाने के लिये उन्हीं के संस्कार जगायेगा। यदि उनका समय न रह गया हो तो आप चाहे ध्यान में बैठें या वैसे ही रिक्त (खाली) बैठें, आपका मन वहाँ सुख नहीं मानेगा, दुःख ही प्रतीत करेगा। क्योंकि उस का सुख है उन्हीं पुरानी आदतों के सुख में समय बिताना। यही मन तब झटपट अब उस पुराने सुख के बिना अपने को दुःखी-सा अनुभव करता हुआ आप जिधर भी ध्यान ज्ञान में इसे लगाना चाहेंगे, यही मन अपनी बनी बैठी तृष्णा की शक्ति से उधर ज्ञान के दीपक को सहज में जलने देने में अड़चन डालेगा। उधर से बुझता हुआ आप की सुध बुध को ही नहीं रहने देगा। झट-पट ज्ञान की अवस्था से अनुपस्थित-सा होता हुआ तम में या ज्ञान-शून्य अवस्था में लीन हो जायेगा। अब यह ज्ञान-शून्य अवस्था किसी के लिये भी भयंकर-सी अनुभव में आती है क्योंकि ज्ञान ही जीव का स्वरूप है। कोई तो ज्ञान सदा बना रहना चाहिए, यदि बाह्य (बाहर संसार का) ज्ञान नहीं तो निद्रा के सुख का ही ज्ञान हो। परन्तु यदि न कोई बाह्य ज्ञान और न निद्रा के सुख का ही ज्ञान हो तो अविद्या की ऐसी अन्धकारमयी अवस्था होती है जो कि अपने में इतनी भयदायनी (डराने वाली) प्रतीत पड़ती है कि कोई भी जीव

अधिक समय तक इस को रखने या बनाये रखने के लिए तैयार नहीं हो सकता। इस में अपने आप का विनाश या बने न रहना-सा दीखता है। यदि यह अविद्या की दशा या अवस्था कुछ निद्रा को जीत कर और कुछ चिन्तन विचार के बल से हटाते रहे तो यह साधन की सरणि (मार्ग) है। यदि यह नहीं तो अविद्या अपनी अवस्था में जीव के मन में सन्नाटा छाया नहीं रहने देगी। यह ऐसी भयंकर सी दीखेगी कि यह पुनः सत् के ज्ञान बिना उन्हीं असत् संसार के संस्कारों को खींचेगी; जगायेगी; और उन्हीं संस्कारों के मार्ग, संसार के काम (इच्छा) और उसमें बने रहने के भाव को ही रचा कर संसार में ही जीव को धकेलेगी। जैसे निद्रा के आने पर उस अन्धकार वाली अवस्था में भी स्वप्न का संसार खड़ा होता है ऐसे ही मरने पर जन्म का संसार खड़ा करेगी।

मन बुद्धि भटकत रहे, इन्द्रियगण भ्रमाय।
करन समाधि थे चले, नींद आसन पै लुभाय।।
। २७५ ।

गत पद्य में दर्शाया गया कि अविद्या संस्कारों को जगा कर संसार में ही पुनः जीव को जन्माती है। संसार में भटकना का स्वरूप बतलाता हुआ अब यह पद्य यह दर्शा रहा है कि ध्यान तथा इसी की उन्नत अवस्था समाधि और इसी में होने वाले सत्य को पाने का विचार आदि जो कोई करना चाहे, तो वही संसार की ही तृष्णा वाला मन अपनी तृष्णा रूप विद्युत जैसी शक्ति द्वारा, तृष्णा के रास्ते का अवरोध (रुकावट) मानता हुआ मन बुद्धि को उन्हीं

संस्कारों द्वारा भटकाता रहेगा जिन संस्कारों को तृष्णा की ही टूटी हुई या रुकी (अवरुद्ध) हुई अवस्था रूप अविद्या खींचती है। तृष्णा राग-द्वेष रूप में प्रत्यक्ष मन में बहती दीखती है; इसे साधक स्वयं अपने मन में देखे। परन्तु जब राग-द्वेष या इन्हीं के परिवार वाले अन्य काम, क्रोध आदि का मार्ग रुका, कि तृष्णा अपने सक्रिय या भोगों में प्रेरित करने वाले रूप से टूट जायेगी और टूटी फूटी यही तृष्णा की ही अवस्था ऐसी अन्धकारमयी, ज्ञान-शून्य सी बन जायेगी कि इस में कोई ज्ञान ही न रहेगा, कोई सूझ बूझ ही न रहेगी। परन्तु यदि पुनः मन निद्रा में भी नहीं जायेगा तब यही अविद्या का तत्त्व पुनः जीव को यही तृष्णा का ही मार्ग अपनाने को बाध्य (लाचार) करेगा। इस सत्य को आप दैनिक जीवन में भी देख सकते हैं तथा परख सकते हैं। जब मन अकेला हुआ; दूसरे का संग न रहा तो यह मन दूसरे के सुख बिना अकेले में सुख नहीं पाता। या तो सोयेगा; नहीं तो संग के सुख और संगत वालों के संस्कार जगा-जगा कर उधर की ही इच्छा करेगा; तथा अन्त में जब मन में उस सुख की तृष्णा का तनाव अधिक हो जायेगा तो अन्त में अपना एकान्त स्थान छोड़ कर कहीं संगत में ही पहुँचेगा और वहाँ की 'तेरी-मेरी' की बातों में ही सुख मानेगा। यही सब मरने पर होगा। यदि अपनी आत्मा का सुख न मिला, तो जब अकेले में मन न लगे तब इन्द्रियगण भी उछल कर संस्कारों की दिशा में जा कर उसी तृष्णा के पदार्थों को ही देखें व सुनेंगे। यही उन इन्द्रियों का भ्रमण है। अब यदि मनुष्य या साधक पुरुष ध्यान समाधि करने बैठा

तो यह तृष्णा की शक्ति अविद्या बन कर अपने ही मार्ग पर खींचती है। मन में उन्हीं संसार के सुखों के संकल्प या इरादे उत्पन्न करेगी तथा बुद्धि भी उन्हीं को पाने के मार्ग का निश्चय करने में लगी रहेगी। इस प्रकार संसार का ही जीवन पुनः प्राप्त होगा।

शून्य में मन रमता नहीं, घोर अविद्या की रात।
निज से लड़ना सीख ले, बोध की चढ़े प्रभात।।

। २७६ ।

गत पद्य में बतलाई गयी अविद्या और उसके द्वारा संस्कार जगने पर मन बुद्धि की भटकना और इन्द्रियों के भ्रमण आदि में अपने को सम्भाले रखने की प्रेरणा स्वरूप यह पद्य है।

पद्यार्थ :- जैसे अविद्या संस्कारों को जगा-जगा कर मन को मिथ्या संकल्प या काम, क्रोध, लोभ आदि द्वारा संसार में धकेलती है, वैसे ही बुद्धि को भी सांसारिक सुख को ही शुभ समझने का निर्णय (फैसला) देती है। बुद्धि का यही कार्य है कि वस्तु का निश्चय करना। यदि यह संसार में ही सुख की दृष्टि बनाये तो यह भी भटक ही रही है। अब यह बात सही है कि अविद्या की शून्य-सी (सन्नाटे की) अवस्था में न तो मन रमेगा और न उसमें अपना सुख ही मानेगा क्योंकि मन ज्ञान का ही एक पुतला है। जहाँ ज्ञान शून्य अविद्या की रात्रि का अन्धकार ही छाया होगा, वहाँ ज्ञान का पुतला मन कैसे सुख मानेगा ? यही मन में उच्चाटन करने वाली अवस्था, पुनः जैसा-तैसा या जिस किसी भी प्रकार के मन के संकल्प विकल्प या बुद्धि के

निर्णय, चाहे वे भले के विपरीत भी क्यों न हों, जगा कर ही शून्य में दुर्दशा वाले मन को थोड़ा सुख का श्वास देती है।

अब यही समझना है कि जैसे मन और बुद्धि वहाँ उत्पन्न होते हैं उन में मनुष्य की पुरानी 'मैं' है। इस 'मैं' से लड़ना सीखे। ज्ञान बोध जगाये, विचार को जगा कर मिथ्या संकल्प, मिथ्या बुद्धि के निर्णय आदि का खण्डन करके उनमें दुःख देखता हुआ, सही संकल्प और निर्णय बना कर अपनी पुरानी 'मैं' को जीते और उस से लड़े। यदि यही 'मैं' निद्रा में जाये तब भी लड़ कर इसे जीते। अन्त में बोध सत्य ज्ञान की प्रभात होगी। संसार का मार्ग मिथ्या दुःखदायी प्रकट भासने लगेगा। आत्मा का सत्य साक्षात्कार में आयेगा ही। प्रथम मनुष्य अपने में ऊपर कहे गये तृष्णा के सब खेल स्वयं पहचाने।

कुछ भी हो, कुछ सूझ पड़े, भले दुःख क्यों न हो।
खुले पहचान जो बन्ध की, सुस्ती दूर भी हो।।
। २७७ ।

गत तीन पद्यों का यह भाव था कि चाहे तो रोग के कारण से या समय न रहने से या कर्म भोगने की शक्ति के न रहने पर, संसार से तो थोड़ा अवकाश या फुरसत प्राप्त हो गई, परन्तु अब मन तो उन सब के न रहने पर भी खाली टिक या रह नहीं सकेगा। तब मन, बुद्धि और इन्द्रियों को तो भटकाता, भ्रमाता ही रहेगा। अब एक तो जीवन धारण करने का यही रास्ता हुआ कि चलो मन को

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

भटकने दो, जैसे भी भटके और इन्द्रियों को इधर-उधर घुमाते रहो; इस से भी समय तो बीत ही जायेगा; अन्त में मृत्यु इस संसार से उठा करके ले जायेगी। वह तो है प्रकृति का मार्ग, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस मार्ग से मनुष्य की भलाई नहीं। परन्तु दूसरा है धर्म का मार्ग जिससे कि मनुष्य को अपने आप को यत्न से श्रम करके भी चलाना है, भलाई इसी के साथ है। चाहे अभी संसार की दशा समझ में नहीं भी आती। प्रथम श्रद्धा करके ही उसे सीखते हुए चलना पड़ेगा। इसलिये जब मन खाली होता हुआ भटके और अविद्या और तृष्णा छल कर इसे संसार में ही भटकायें, तो प्रथम अपना भला चाहने वाले मनुष्य का यह कर्तव्य है कि प्रकृति के मार्ग से थोड़ा उठने के लिये मन को जगाये। खाली या शून्य-अवस्था में पड़े मन को अविद्या के राज्य में न पड़ा रहने दे। इसी को यह पद्य यूँ दर्शा रहा है किः

पद्यार्थ :- कुछ भी हो अर्थात् मन में या मन की कोई भी अवस्था हो, वह अवस्था अन्धकार में न बहे; परन्तु उस को आप अपनी बुद्धि जगा कर समझने का यत्न (कोशिश) करने में मन को चेतन करो या जगाओ कि यह क्या अवस्था है ? स्वयं विचार जगा कर इस का निर्णय करने में मन को लगाओ। कुछ-न-कुछ इसके बारे में सुझाई पड़े, यह जो अवस्था बह रही है कुछ समझ में तो आये कि इसे क्या कहना चाहिए ? यदि आप ऐसे अपने को जगाते या चेताते रहोगे तो कम-से-कम यह अवस्था अविद्या के अन्धकार में बहती हुई अपने ही ढंग के संसार के संस्कार

तो न जगा सकेगी। यही जो आप कुछ भी समझने के यत्न में होंगे तब अविद्या का अन्धकार तो थोड़ा टलेगा ही; चाहे यह मन में दुःख की ही अवस्था क्यों न हो, इसे पहचाने। वह दुःख ही प्रथम खाली मन में आता है जो कि भोगों के मार्ग पर न चलने से उन की तृष्णा पूरी न होने से तृष्णा ही अपना घुटा हुआ रूप दिखलाती है, यह भी एक दुःख का ही अनुभव है। इसी दुःख की भी यदि प्रथम पहचान मन में खुल गई और इसी दुःख के कारण मन का विषयों के संस्कार जगा कर भटकना दीखने लग गया तो इस संसार का सब बन्धन धीरे-धीरे पहचान में आने लगेगा और जगा जगाया मन आलस्य से भी दूर हो जायेगा।

इस सब साधन के आरम्भ करने पर अपने आप अकेले में भी मन लगने लगेगा। केवल अकेले में बिना ज्ञान के रहने से ज्ञान-शून्य अविद्या की अवस्था संसार की खींच करती है। सुख का अधिक राग भी मनुष्य को थोड़े से दुःख से डरा कर पुनः संसार में ही सुख दिखलाता हुआ भटकाता है। परन्तु संसार का सुख सदा एक जैसा कभी भी नहीं रहता। इसलिये साधक को अकेले में संग के सुख के बिना भी समय व्यतीत करना सीखना चाहिये। यदि कोई भी ज्ञान अभी तृष्णा न जागने दे, तो कम-से-कम खाली बैठे को दुःख का अनुभव तो होगा ही। इस दुःख को कांटे की चोभ के दुःख या सिर दर्द के दुःख के समान देखता-देखता समय व्यतीत करे। इस सब दुःख के कारण को जानने के लिये थोड़ा मन में इरादा रखे, तो अन्दर ज्ञान देव जग जायेंगे। इस पद्य का यही भाव है।

इक-इक कर चीने सभी, लम्बा आसन साध।
सब बन्धन जब चीन ले, सकल ही मिटे उपाध।।
।२७८।

पूर्व पद्य में कहे गये 'अपने आप को या अपने मन को' चेतन करने की पूर्णता को कहने वाला यह पद्य है।

पद्यार्थ :- जब मन की पहचान खुल गई तो मन अविद्या द्वारा जगाये गये भोगों के या संसार के संस्कारों की ओर उन्हीं के विकार जगा-जगा कर तो प्रेरित नहीं कर सकेगा। यदि विकार (कामादि) उत्पन्न होते भी हैं तो भी उन्हें पहचानता हुआ साधक पुरुष अपनी बुद्धि द्वारा चिन्तन करता हुआ समझने का यत्न करेगा ही कि इन विकारों को पूरा करने में या इन के मार्ग पर चलने में भलाई है या कि अन्त में दुःख और शोक की बुराई और संसार में दुर्गति से आगे पुनः दुर्गति।

कैसे-कैसे दुःख दिखला कर तृष्णा वाला मन संसार में ही बान्धता है, इसका सब बन्धन समझ में आने लगेगा। परन्तु इसके लिये अपने आसन को चिरकाल तक स्थिर रखने का अभ्यास रूप साधन की आवश्यकता है। यह एक ही दिन का काम नहीं है। इसी मार्ग पर चलने का लम्बा जीवन साधना पड़ेगा। चिरकाल तक आसन पर टिक कर मन को अपने अन्दर के सत्यों को पहचानने के लिए यदि झुकाये या लगाये रखे तो एक-एक करके मन को बान्धने वाली सब तृष्णा की अवस्थायें समझ में आने लगेंगी। इस प्रकार सकल संसार का तथा सब प्राणियों का भी बन्धन परखने में आयेगा कि संसार जीव के साथ कैसे बन्ध रहा है ?

इसी सब संसार के बन्ध और तृष्णा के बन्धनों के रूप में पूर्ण ज्ञान वाला जन इन सब बान्धने वाले कारणों से अपने को यत्न से मुक्त भी कर लेगा। तभी इस जीव पर लदी सकल उपाधि भी मिट जायेगी। यहाँ "उपाधि" शब्द का अर्थ है कि जो व्यर्थ की वस्तु या व्यर्थ ही में जीव को भटकाने और दुःखी करने का कारण है। यह सब मन की पूर्ण पहचान खुलने पर अंतर्दृष्टि में तृतीय (तीसरा) ज्ञान नेत्र खुलने पर समझ में पड़ने लगेगा और उस के पश्चात् त्यागने का भी यत्न बनेगा तथा वैसी शक्ति भी प्राप्त होगी। यह जो सब पहले दृष्टि, संशय, राग-द्वेषादि अविद्या पर्यन्त दस बन्धन इस ग्रन्थ में बतलाये गये हैं, उन से मुक्ति मिल जायेगी और जो संसार का कर्मचक्र के रूप में बन्धन है और पुनः उन का दुःख रूप फल है उन सब से भी मुक्ति मिलने पर आत्मा में नित्य टिकाव और शान्ति भी प्राप्त होगी।

बाहिर भावना शुद्ध हो, कुछ करने की न ठान।
मैत्र्यादि सब सबल कर, बन्धन का न रहे निशान।।
। २७६ ।

गत पद्य में जो मन को पहचानने का सुझाव दिया गया और उस पहचान को अविद्या आदि बन्धनों की गहराई तक पहुँचाने के लिए प्रेरित किया गया, उसी सब ध्यान में विचार जगाने का कर्म या साधना तभी सफलता तक पहुँच पायेगी, यदि बाहर संसार की ओर से साधक के मन में चिन्ता न छा रही हो अर्थात् बाहर से मन चिन्ता रहित (बेफिकर) हो। यदि ध्यान में आसन पर बैठे

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

का मन बाहर की उलझनों या समस्याओं से घिरा रहा तो अन्दर की पहचान खुलनी कठिन होगी। बाहर चिन्तन तभी बन्धा रहता है यदि बाहर या तो कोई खोटा कर्म बन गया या पुनः खोटा कर्म करने का भाव ही मन में खड़ा रहे। यह सब तब तक ही होता है जब तक कि अपना कुछ स्वार्थ बाह्य जगत् में प्रबल हो या पुनः दूसरों से अपने को दुःख होने पर दुःखी मन मिथ्या करने कराने के भावों में ही ढुलकता रहे। यद्यपि ऐसा साधनारत, साधना में लगने वाला बाहर भोगों के निमित्त तो किसी से भी नहीं उलझेगा। यह बाहर की उलझन तो प्रकृति वाले मन की होती है जो कि जन्म से जीव अपने साथ लाता है; परन्तु तब भी दूसरों से दुःख होने पर विपरीत द्रोह (वैर चिन्तन) के भाव मनुष्य में अवश्य बन कर व्यर्थ में ही मन को लपेटे रखते हैं। ध्यान, विचार स्थिर नहीं रहने देते। ऐसी अवस्था में श्वास और प्राण शक्ति विक्षिप्त होने पर आसन भी नहीं डटता। इसी सब ध्यान-ज्ञान के मार्ग के विघ्नों को शोधने के लिए यह पद्य इस प्रकार का सुझाव देता है कि:-

पद्यार्थ :- बाहर अर्थात् जगत् में अपनी भावना को शुद्ध करे; मिथ्या राग या द्वेष, काम या क्रोध के भाव न लदे रहने दे। उत्तम भावना का नाम शुद्ध भावना है। यदि कहीं दुःख में बदला लेने का या दूसरे का बुरा करने का भाव बने तो इस प्रकार के भाव को हटा कर उसके सुख में सुखी होने का मैत्री आदि भाव रचे। यही रचना ''शुद्ध भावना'' शब्द से कही गई है। परन्तु ऐसा भाव बनाने से पहले मिथ्या या दुर्भाव द्वारा जो कुछ मिथ्या करने कराने

का या संसार में मिथ्या कर्म का मन है, उसे दबाने की सोचे। ऐसे मैत्री आदि दस बलों के प्रबल होने पर बन्धन का कहीं निशान भी नहीं रहेगा। ये सब मैत्री आदि बल इस ग्रन्थ में अपने स्थान पर दर्शाये जा चुके हैं। शुद्ध भाव बनाने का तात्पर्य यह है कि जो भाव संसार की उलझन में न पटक कर, उलझन से बाहर निकाले; जैसे कि किसी व्यक्ति से अपने को दुःख होने पर या किसी द्वारा अपना सुख बिगाड़ने पर वह प्राणी वैरी जैसा लगता है। हैं तो यह वैरी दृष्टियां नजर में ही, परन्तु इस वैरी समझने के भाव से कोई उस व्यक्ति को दुःख पहुँचाने का कर्म भी करने का मन बन सकता है। अब ऐसी अवस्था में उस व्यक्ति को वैरी के भाव से देखने के स्थान पर यदि किसी ऐसे भाव में देखा जाये कि जिससे द्वेष या वैरी भाव की शान्ति हो; आगे बाहर संसार में उलझन न बढ़े जिससे कि अकेले में भी हमारा मन उस वैरी भाव वाले कर्मों द्वारा हमें भी भय दिखलाये। जब आप का वैर भाव दूसरा व्यक्ति जाने पहचानेगा तो वह भी आप को अपना शत्रु मान कर आप को दुःखी ही करेगा। इस प्रकार शंका-भय के स्थान पर आप भी सदा उलझे, अपने कल्याण का रास्ता कैसे चल पाओगे ? ऐसी अवस्था में यह भी भाव की शुद्धि है कि "वैर करने वाले को भगवान् या ईश्वर की माया अपनी कठपुतली बनाकर नचाती है, उस बिचारे साधारण जीव का इसमें क्या दोष" ? यह भी भाव ही है। परन्तु यह शुद्ध भाव है। शुद्ध भाव की रचना करने का नाम ही है शुद्ध भावना। यही शुद्ध भावना सब स्थानों पर बनाये तो वह

प्राणी संसार के मार्ग पर नहीं बहेगा, परमात्मा के मार्ग पर ही रहेगा। इसी प्रकार कोई भी छोटा-मोटा दुःख आ पड़ने पर उस में यह भाव बनाये कि "भगवान् दुःख को सहन करने के लिये तपस्या का मौका दे रहे हैं"। इसी प्रकार कोई सुख न मिलने पर समझे कि "एक दिन तो शरीर न रहने से इसका सुख भी नहीं रहेगा", ऐसी भावना करे।

दृष्टि, न संशय न काम ही, न क्रोध व नींद सताय।
स्थिर आसन तासे लगे, न श्रम से धीर घबराय।।

। २८० ।

गत पद्यों में अपने आप को साधने के लिए द्विविध (दो प्रकार से) अपने आप को वश में रखना या करना पड़ेगा, यह दर्शाया गया। अपने आप में बाह्य भोगों के सुख को त्यागने से दुःख होने पर इसी दुःख में दृष्टि खोलना अर्थात् इस दुःख को पहचानना; और इसी पुनः खुली दृष्टि से दुःख से जुड़े हुए अर्थात् दुःख को स्मृति और सावधानता के साथ अनुभव करते हुए तथा इसी के बारे में इसी की जड़ या कारण को समझने के लिए मन को जोड़ते हुए, दुःखों की जड़ (मूल या कारण) बाह्य तृष्णा को पहचान कर दृढ़ आसन पर स्थिर रह कर सारी तृष्णा छोड़ना या छोड़ने का यत्न रखना और दूसरा साधन यह करने का है कि बाहर दूसरों में जीवन को इस प्रकार धारण करना कि उन से केवल मन के समय के अनुसार भड़कावों या जोशों द्वारा कोई मिथ्या व्यवहार शरीर से या वाणी से न हो पाये। इतना ही नहीं, इन मिथ्या दूसरों के प्रति कुछ करने के मन के भाव तक भी न जन्मने पायें।

यदि जन्में तो उन्हें उन के विपरीत मैत्री आदि की भावना द्वारा शुद्ध मन रचा कर दूर कर दे।

परन्तु इस सब के लिये एकान्त में दीर्घकाल तक आसन पर टिकने की आवश्यकता है और दीर्घकाल तक आसन पर स्थिर रहने के लिए मन में बाह्य संसार की कोई लगन विघ्न करने वाली न होनी चाहिए। इसी के लिए अब यह पद्य दर्शा रहा है कि आसन की स्थिरता और पुनः उस आसन पर मन को लगाये रखने के लिए साधक पुरुष को प्रथम क्या करना पड़ेगा ?

पद्यार्थ :- मनुष्य का आसन तभी स्थिर हो सकता है यदि वह बाहर (संसार) की किसी भी प्राणी या पदार्थ की दृष्टि (नज़र) या पुनः कुछ भी संसार को समझने की दृष्टि, जो कि संस्कारों के अनुसार उस के राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभादि को उत्पन्न करने वाली है तथा जिनका सम्बन्ध भोगों से व बाह्य सुख से ही है; ऐसी कोई भी दृष्टि (नज़र) न बनने दे। यदि संस्कारों से बन भी जाये तो उसे या तो विचार द्वारा उस की तुच्छता समझते हुए या पुनः साक्षी भाव से केवल देखते-देखते ही दूर कर दे। इसी प्रकार कोई दृष्टि मन में उत्पन्न हो कर कई एक प्रकार से संशयों (शक, शुभाह) को उत्पन्न करती है। जैसे कि 'कहीं इस में या उस में हमारा बुरा या विपरीत तो नहीं हो जायेगा' ? 'कहीं नींद को रोकने से सम्भवतः फिर निद्रा आये ही नहीं'? 'कहीं मस्तक ही न बिगड़ जाये' ? ऐसे बहुत से संशय आ सकते हैं। इन सबको रोके अर्थात् सही विचार द्वारा बुद्धि या ज्ञान उपजा कर रोकता हुआ आसन

पर स्थिर रहे। आसन शिथिल न होने दे। और कोई भी इच्छा जो मन में चक्कर लगाये उसे भी इसी प्रकार रोकने का विचार बनाये और ध्यान में सब बन्धन पहचानने का यत्न रखे। पहचानने पर सब को परिहार करने (छोड़ने) के ही यत्न से आत्मा में सुख पाने के मार्ग पर रहे। संसार में सदा बने रहने वाले सुख की आशा न रखे। इससे आसन स्थिर होगा, ध्यान जमेगा। श्रम या परिश्रम करने से धीर पुरुष घबराये नहीं । इसका यह तात्पर्य है कि किसी को भी जन्म से संसार का संग छोड़ कर एकान्त में बैठने की आदत तो है ही नहीं। जब वह इस एकान्त आसन पर अपना अधिक समय व्यतीत करना चाहेगा तो उसे संसार वाला मन दुःखी करेगा। इसे आसन छोड़ने की ही प्रेरणा देगा। तब साधक पुरुष धीरता रखे और उस दुःख में भी धैर्य न छोड़ता हुआ आसन के समय को दिनों दिन थोड़ा बहुत बढ़ाता ही जाये। इस प्रकार उसे आसन स्थिर करने का अभ्यास हो जायेगा। दुःख में आसन पर डटे रहने का श्रम या परिश्रम बनाये रखे। धैर्य या धीरता भी इसी का नाम है कि दुःख पड़ने पर भी बुद्धि रखता हुआ और अपनी स्मृति (याद) और होश को न खोता हुआ दुःख को व्यतीत करता (बिताता) जाये।

लम्बा जागे तो दृष्टि में, बन्धन इक-इक आय।
ज्ञान दृष्टि जाग्रत रहे, पाला इन से छुड़ाय।।
। २८१ ।

गत पद्य में कहे गये के अनुसार दृष्टि आदि ध्यान तथा आसन के विघ्नों के टलने पर आसन स्थिर होता है।

अब इसी आसन पर उद्योगी पुरुष अन्दर के सब संसार की तृष्णा के सब बन्धनों को पहचान कर उन से मुक्ति पाने के योग्य हो जाता है। यह पद्य इसी वार्ता को सूचित करता है।

पद्यार्थ :-मनुष्य को समय का बन्धन उतना ही प्रबल है जितना कि खाने, पीने, सोने आदि का; खाने-पीने के तथा सोने आदि का समय टालना कठिन पड़ता है। मन उसी का छन्द (दृढ़ इरादा) बनाये बैठा रहता है जिसका कि आदत के अनुसार करने का समय उपस्थित हो जाये। यही समय का बन्धन है जो कि केवल जीव का सांसारिक सुखों के मार्ग पर चलने का ही है। उद्योगी पुरुष इस समय के बन्धन को भी बुद्धिमत्तापूर्वक टाल सकता है। इस का तात्पर्य यह है कि यदि कभी खाने-पीने, सोने आदि का समय टालकर कोई महान् कार्य करना है और वैसा समय टालने पर कोई देह आदि को क्षति (नुकसान) भी नहीं होती तो ऐसे बुद्धिमत्तापूर्वक कभी भोजन और कभी निद्रा आदि के समय को टालता हुआ भी मनुष्य लम्बा आसन भी लगा सकता है। तब मन कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे बन्ध रहा है, उसे यह सब पहचान हो जायेगी। इसी रहस्य को मन में रखकर ऋषियों ने खाना त्यागने के और जागने के व्रतों को शक्ति पाने के लिये रखा हुआ है। एकादशी आदि व्रतों में अन्न त्यागना; जन्माष्टमी या शिवरात्रि आदि व्रतों में निद्रा का त्यागना भी इसी समय के बन्धन को जीतने के लिये ही है।

अब इसी वार्ता को अपने में रखता हुआ यह पद्य यह

दर्शाता है कि यदि कोई अपनी निद्रा और खाने-पीने की तृष्णा को भी क्रम से जीत कर लम्बा आसन साधे तो निश्चय ही 'कहाँ-कहाँ मन बन्ध रहा है', यह सब ज्ञान दृष्टि में आयेगा। राग, द्वेष, मान, मोह आदि बन्धन एक-एक करके सब पहचानने में आयेंगे। यदि ज्ञान दृष्टि अर्थात् विवेक जागता रहा तो सब बन्धनों से मनुष्य छूट भी जायेगा। विवेक द्वारा उसी लम्बे आसन पर पता चलेगा कि केवल थोड़े सुख की आदतों के ही बन्धन हैं। लम्बा इन में दुःख है। आवश्यकता (जरूरत) इन की नहीं। केवल चिन्तन में ही यह बसे परेशान करते हैं। केवल इन की एक शक्ति सी सुखी होने की आदत पड़ जाने के कारण अपना बल बने बैठी है जो कि अपने थोड़े सुख का लोभ (लालच) दिखाकर उसी पुरानी दिशा में ही धकेलती है जहाँ कि जीव को थोड़ा-सा सुख हुआ है। परन्तु इस सुख में जो छिपा हुआ बड़ा दुःख है वह दृष्टि (नज़र) या विवेक में नहीं आया। इसीलिये मनुष्य भी पुनः-पुनः वैसे ही उस दुःखी करने वाली तृष्णा का दास बना रहकर मर जाता है। बस ! मनुष्य को आसन पर स्थिर रहकर इस विवेक या सत्य-ज्ञान को ही उपजाना है और उसे उपजा कर अपने को सत्य की राह पर चलने के लिये प्रेरित और उत्साहित करना है। और उसी के लिये यत्न रखना है, थोड़े से सुख का भी लोभ छोड़ देना है और थोड़े त्यागने के दुःख को भी सहन कर लेना है। इससे मनुष्य को एकान्त में समय व्यतीत करने का अभ्यास होगा। मन पहचानने में आयेगा; दुःख देने वाले भावों को देखते-देखते

टालने का अभ्यास हो जायेगा तथा दुःख टलने पर एकान्त में ही आसन पर सुखी होगा। आसन पर अकेले जन को सुख होगा। इस प्रकार सुख बुद्धि उपज कर संसार के बहुत प्रकार के सत्य प्रकट करेगी। दूसरे जन किन-किन बाध्यताओं (लाचारियों) के वशीभूत होकर किस-किस प्रकार से अपना बुरा, अज्ञान या नासमझी से थोड़े सुख के कारण करते हैं, यह सब समझ में आयेगा। और भी ऐसे बहुत से छिपे सत्य एकान्त में आसन पर सुख पाने से जानने में आयेंगे। इस प्रकार समष्टि अर्थात् चारों ओर फैल रहा यह जो जीवन का सागर रूप परमात्मा है, इसका पूर्ण ज्ञान होगा। इस व्यापक जीवन के नियम या अधिनियम (कायदे, कानून) जो कि संसार में कार्य कर रहे हैं; इन सब की खबर प्राप्त होगी। अन्त में ब्रह्म में ही स्थिति या टिकाव भी प्राप्त होगा और नित्य ब्रह्म की ही प्राप्ति भी : और सब दुःखों से सदा के लिये मुक्ति भी प्राप्त होगी।

दुःख में धैर्य को थाम ले, सुख आत्मा में पाय।
कुछ जानन, करन का न रहे, पाने को कछु न रहाय।।
। २८२ ।

गत पद्य में दर्शाये गये के अनुसार केवल लम्बा आसन ही नहीं,उस आसन पर दुःख होने पर मनुष्य को धैर्य रखना भी आवश्यक होगा। तभी आध्यात्मिक उद्देश्य (लक्ष्य) की पूर्ति होगी। इसी वार्ता को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- यदि आसन पर दुःख हो तो धैर्य बनाये रखे। धैर्य की शिक्षा तो कई एक पद्यों में चर्चित हुई है,

परन्तु यहाँ इस पद्य में विशेष कर के इसलिये इसकी (धैर्य की) चर्चा की गई है कि जब तृष्णा के बन्धन अपना बल करेंगे तो दुःख और भी अधिक प्रतीत हो सकता है। बुद्धि को भी वह दुःख चलायमान कर के मन को भी विचलित कर सकता है। ऐसी अवस्था में जो मानस दुःखी भी हो तो भी उस में धैर्य को न खोये। हो सकता है कि कोई मिथ्या दृष्टि-बन्धन उत्पन्न हो कर संशय उत्पन्न कर दे कि कहीं हमारा ऐसे समय टालने पर बुरा या अनिष्ट तो नहीं हो जायेगा। तब यह मन को दुःखी करने वाला संशय या भय है। इस से चलायमान न होकर विचार जगा कर विवेक उत्पन्न करे और मन को संशय के बन्धन से बचाये।

इसी प्रकार इच्छा के भोग त्यागने पर उन भोगों को चिन्तन में बसाये रखना, उन के सुखों की मिथ्या दृष्टि बना कर मन को यूँ दुःखी करना कि सुख की वस्तु त्यागने पर सुख का ही त्याग किया। सुख त्यागने पर दुःखी होना कौन सी बुद्धिमत्ता है ? इस प्रकार बहु प्रकार से सुखों का बन्धन मन को अधिक दुःखी कर के भी उसके आसन को विचलित कर के मनुष्य को निद्रा आदि के चक्र में डाल सकता है और ध्यान को विचलित भी कर सकता है। इस सब को धैर्य बिना जीतना कठिन है। धैर्य से ही मनुष्य बुद्धि द्वारा इन से अपनी रक्षा कर पायेगा। इसी प्रकार द्वेष और क्रोध की धारा दुःख की अवस्था में मन, बुद्धि को चलायमान करके अधिक दुःखी करती है। मिथ्या मान ('मैं' पने का भाव) या अपना मन संसार में भी मनुष्य को तनावों में डालता है। अपने आप में सुखपूर्वक आसन पर बैठने

नहीं देता। पुनः इच्छा के भोग त्यागने से शोक और उसी शोक वाले मन से उसी संसार के ही उद्देश्यों के चिन्तन रूप मोह का भी दुःख है। इस सब दुःख में धैर्य रखे, तो ही ये सब त्यागे जायेंगे तथा आत्मा में सुख मिलेगा। तब बाहर संसार में कुछ करने का और पाने का कहीं भी नहीं रहेगा। बुद्धि की पूर्णता प्राप्त होगी। यही सब मनुष्य का अपने अन्दर का उद्योग है कि स्वयं वह आसन पर स्थिर होकर बुद्धि जगाये कि इस मन को अपने आप में रोकने या इसके सब संसार के झुकाव को रोकने पर क्या-क्या सामने आता है ? और अन्त में सब संसार से छुटकारा पाकर अपने आप में आनन्द भी कैसे प्राप्त होता है ? अपने आप में टिकाऊ या स्थायी आनन्द पाने पर पुनः कुछ जानने या करने कराने का भी बचा नहीं रहेगा। सब दुःख अपने में ही टल जायेगा। जब दुःख टालने को तथा सुख स्थायी रूप से पाने के लिये ही सब जानना या करना है तो जब यह सब सुख आत्मा में ही सदा के लिये प्राप्त हो गया तो अब सब जानना करना भी समाप्त हुआ।

सब से बड़ी माया माना सब से बड़ा सुख,
उसी में निहित जन का सब से बड़ा दुःख।
बिना सम्यक् ध्यान के सत्य को सुझाय ?
उद्योग बिना इस के वैसे पार कैसे जाय?
। २८३ ।

गत पद्य तक के कतिपय (कुछेक) पद्यों में (२७२-२८२) संसार सागर के अपार दुःख को पार कर के आत्मा में ही सुखी होने का साधन संक्षेप में कहा गया जो कि सब इस

卐卐

ग्रन्थ में यथा स्थान पर कहा गया है : यहाँ वही साधन संक्षेप से स्मरण करा दिया गया है, जिस साधन द्वारा अन्तिम फल या उद्देश्य (लक्ष्य) की पूर्ति होने पर न तो संसार में जानने का ही कुछ रह जाता है और न कुछ करने का ही। जानना, करना तब तक ही है जब तक कि कोई सुख पाने का है और दुःख टालने का है; नहीं तो जानने करने का भी दुःख या खेद करना व पाना इस जीव को अच्छा नहीं लगेगा। ऐसा स्थान केवल एक आत्मा या अपना आपा ही है जहाँ कि पहुँचने या पाने से शेष कुछ भी जानने या करने के लिए नहीं रह जाता।

अब इस पद्य में यह बतलाना या दर्शाना है कि आत्मा में सुखी होने का तात्पर्य यह है कि मायामय या सांसारिक माया के सब दुःखों से पार जाना है। यहाँ कुछ सांसारिक मार्ग द्वारा संसार का सुख पाने या इसी के दुःख से बचने के लिए जानना, करना नहीं है; परन्तु संसार में सुख दिखला कर अन्त में दुःख में रुलाने वाली माया के दुःख से पार जाकर उस दुःख से बचने पर आत्मा या अपने आप में सुखी होना है। पुनः जब संसार वाला मन पुनः संसार के मायामय सुखों की ओर झाँके तो उसे वहाँ ध्यान द्वारा दुःख का प्रत्यक्ष दर्शन करवा कर संभाल लेना है और परे के सत्य रूप आत्मा या परमात्मा में स्थिरता (टिकाव) का सुख प्रकट अनुभव करना है। इसके लिए जितना भी उद्योग (मेहनत) करना पड़े उससे संकोच नहीं करना।

पद्यार्थ :-संसार का सब से बड़ा जो सुख है राज्य,

अधिकार, ऐश्वर्य, धन, संपत्ति, बलवान्, संतान और दूसरों में आदर, गौरव आदि का; यही सब से बड़ा माया का जाल है जो कि बाह्य के इन सब ऊपर कहे गये विषयों का सुख दिखला कर अन्त में चिन्ता, शोक, खेद और दुःख द्वारा मन को इतना बाहर खींच लेता है कि सुख का श्वास या निद्रा भी आराम या चैन से नहीं मिलती। मन के बाहर घूमने पर श्वास या प्राण-शक्ति भी वैसे ही भटकने पर मनुष्य और भी अधिक रोगी और दुःखी होता है। इसलिये बड़े-बड़े सुखों में ही मनुष्य का बड़े से बड़ा दुःख टिका हुआ है।

अब इन सब बड़े-बड़े दुःखों से बचने के लिए केवल सही ध्यान ही प्रथम मार्ग है जिसके द्वारा यह छिपा हुआ सत्य प्रकट होगा कि इन बड़े सुखों में ही बड़े-बड़े दुःख टिक रहे हैं। जब ये बड़े-बड़े सुख ही दुःख रूप से दीखने लगेंगे तो वैराग्य की उत्पत्ति होगी और इन सब बड़े-बड़े सुखों से मन मुख मोड़ लेगा। ये सब सुख टिके भी नहीं रहते अर्थात् सदा बने भी नहीं रहते; अवस्था बदलने के अनुसार उल्टे भी पड़ जाते हैं। ये सब सत्य सही ध्यान (सम्यक् ध्यान) ही बतला सकेगा। सही ध्यान के उल्टे, मिथ्या ध्यान भी हैं जो कि संसार के ही सुख और संसार के ही उद्देश्य या मतलब साधने के लिये साधारण जनमात्र भी करता है। परन्तु सही ध्यान वह है जो संसार से पार करके आत्मा में सुखपूर्वक टिकाव को देने वाला हो। इसी सही ध्यान से सत्य मन के सामने आयेगा; तब मनुष्य सही मार्ग पर चलने की सीखेगा, परन्तु सही मार्ग पर चलने के लिये

उद्योग रखना पड़ेगा। यदि मनुष्य पीछे पद्यों में कहे गये उद्योग के रास्ते पर टिका रहेगा तो अन्त में सब बड़े या छोटे दुःखों से पार पहुँचेगा, बिना उद्योग के नहीं। उद्योगी के लिये ही गुरु कृपा और भगवान् की कृपा होगी। उद्योग शब्द का तात्पर्य ही यही है कि गुरु लोगों के वचनों पर और भगवान् के मार्ग पर चलने का उद्योग बनाये रखना।

अविद्या छाती है जो सोचने का कुछ नहीं, सोचा सोचाती है,
विद्या आती है, कुछ दुःख दिखाकर, उसी की जड़ बताती है।
पुनः वीर्य बुलाती है, उद्योग पूरण कर, बन्धन सभी छुड़वाती है;
तृष्णा सकल सुजाती है, जिस को पार करा परमात्मपद दर्शाती है।।

। २८४ ।

गत पद्य में बतलाया गया कि सांसारिक सुख के रूप में ही दुःख छुपा-छुपा जीव के सिर पर लदा रहता है। यही माया का अर्थ है कि दिखाई पड़ता है सुख, परन्तु वह वैसा नहीं मिलता जैसा कि दीखता है। जो मिलता है, है वह दुःख, परन्तु यह पहले दिखाई नहीं पड़ता। जब संसार की वस्तुएँ सुख दिखला कर जीव के मन को चुराती हैं तो इस सुख रूप में छिपे दुःख रूप शत्रु को पहचानने और त्यागने के लिये और सत्य का ज्ञान पाने के लिये ध्यान आवश्यक है। और वैसे ही उस सब दुःख को त्यागने के हेतु उद्योग आवश्यक है।

अस्तु ! आपने ध्यान द्वारा समझ कर और सत्य पहचान कर त्यागने का उद्योग भी किया, तब भी इस उद्योग को पूर्णता तक पहुँचाने में एक अन्त की महान् अड़चन को पहचानना अवश्य शेष रह जाता है। उस का

नाम है अविद्या। इसके कई एक रूप स्थान-स्थान पर पद्यों में व्याख्यान में आ चुके हैं। यहाँ केवल कारण रूप में यही अविद्या छिपी-छिपी आत्मा के सुख स्वरूप को जैसे ढाँके रहती है उसे यह पद्य चर्चा में लाकर उस अविद्या के निवारण रूप में विद्या और उसके साथ होने वाले बल वीर्य की चर्चा करता है तथा जिसके द्वारा यह अविद्या मूल (जड़) से समाप्त या नष्ट होने पर जीव आत्मा का सुख स्वरूप साक्षात्कार अपने में पाता है।

पद्यार्थ:-जब सांसारिक सुखों के साथ प्राप्त हुई केवल माता, पिता आदि के एक छोटे परिवार में ही बच्चे को बालपन से मिली उसकी 'मैं' बढ़ते-बढ़ते संसार में अधिक मिठास खोजते-खोजते बड़े-बड़े सुखों के पीछे लग जाती है, तो किसी सीमा तक यह अपने आप को भले सुखी देखे और समझे, परन्तु इस 'मैं' का सुख देश, काल और किन्हीं व्यक्तियों के साथ ही बना बैठा है। यह किसी एक ही स्थान (देश) पर मिल सकता है; वैसे काल से वह भी बन्धा है अर्थात् किसी अपने समय पर ही मिल सकता है और वह भी जब तक विशेष मनुष्य की चलती है अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि में शक्ति है। परन्तु इस मीठी 'मैं' को हर एक काल में कोई नहीं बनाये रख सकता। समय विपरीत होने पर वे सुख नहीं, तो इनके सहारे के सुखों वाली 'मैं' भी नहीं। इसी प्रकार जिन व्यक्तियों अर्थात् स्त्री, पुत्र या अन्य मित्र आदि के सहारे यह मीठी 'मैं' मिलती है वे व्यक्ति भी समय पाकर बदल जाते हैं। उनकी अपनी 'मैं' उन्हें अपने लिये न जाने किधर-किधर घुमाती

है। अन्त में समय पाकर परिवर्तन का नियम किसी को भी एक रूप में नहीं रहने देता। एक जैसा जो सदा रहे, उसे ही अन्तिम सत्य कहते हैं। यह 'मैं' सदा एक रस नहीं मिलती क्योंकि स्थान, समय और कई एक बदलते स्वभाव वाले व्यक्तियों से यह बन्धी रहती है।

अब यहाँ यह सत्य समझने का है कि जब यह 'मैं' नहीं मिलती तो क्या यह समाप्त हो गई या अत्यन्त नष्ट हो गई ? या कि अपनी किसी बारीकी में छिपी बैठी है ? यह जो संसार में प्राणी अपनी 'मैं' या अपने आपे को दूसरों के संग से या सम्बन्ध से पाता है वह उसकी झूठी आत्मा (अपना आपा) रूप 'मैं' अविद्या नाम वाले तत्त्व में छिपी बैठी रहती है। जैसे कोई व्यक्ति निद्रा में पड़ा हुआ अपनी 'मैं' को कहीं भी निद्रा काल में अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार जब अपनी शक्ति का समय निकल गया तो वह पहले वाली 'मैं' या अपना आपा केवल स्मृतियों (यादों) में ही रह जाता है। यही सब यादें मन में बसी हुई अविद्या में छुपी रहती हैं और समय-समय पर उसी से उठकर जो कुछ भी पहला सब सोचा हुआ है उन्हीं के रास्ते पर खींच करती हैं। जो प्राणी अभी संसार में कुछ करने कराने की शक्ति रखता है वह तो उसी की सोचों में लगा रहता है; परन्तु जिसका करने कराने का समय निकल गया उसके अन्दर यही अविद्या नाम का तत्त्व छाया रहता है और ज्ञान को ढांक कर ज्ञान-शून्य सी अवस्था में संस्कारों को जगा-जगा कर उसी पुरानी दिशा के सुखों और कर्मों को स्मरण करवा कर उन्हीं के ही बन्धन में बान्धे रखती है। इन्हीं संस्कारों और उनके अनुसार इच्छाओं

वाला प्राणी उन्हीं सुखों के स्वप्न देखता हुआ पुनः कहीं अपने कर्मों के अनुसार संसार में ही जन्मता है, पुनः वैसे ही मर जाता है। परन्तु यह सब दुःख शान्त नहीं होता।

यदि विद्या जन्मे, थोड़ा अपने मन के अन्दर के काम-क्रोध आदि विकार पहचानने में आयें : तथा इनकी जड़ सांसारिक सुख की तृष्णा तथा इस सुख का राग तथा दुःख का द्वेष भी मन में बहते दीखें, और इसी सुख का परिणाम (नतीज़ा) रूप जो दुःख है उसमें आँख खुले : और इस सकल दुःख की जड़ यही मिथ्या संसार की तृष्णा दीखे, तो इससे छूटने का यत्न करने को मन भी प्रेरित होगा। यही सब अन्दर की विद्या है जो सब अन्दर के सत्यों को प्रकट करेगी कि जो हमें अच्छा करके दीखता है; सुख रूप से समझ में पड़ता है; वह सब अन्त में दुःखों में ही रुलाता है। तब मनुष्य स्वयं हिम्मत (वीर्य) करके इनकी तृष्णा से मुख मोड़ लेगा। तृष्णा के सब बन्धन व राग, द्वेष, मोह, मान और अविद्या आदि तक सब छुड़वा देगा। सकल तृष्णा प्रत्यक्ष दुःख की जड़ या कारण रूप से सूझने लगेगी। इसी को छोड़ने का पूरा उद्योग मनुष्य स्वयं करेगा। तृष्णा छूटते ही आत्मा तथा परमात्मा का पद प्राप्त होगा।

जब निज में ज्ञान देखे सभी बन्धनों का जाल,
विश्व ज्ञान में भी दीखे वैसी उन की चाल।
आत्मा, परमात्मा का अर्थ भी सुझाय;
टूटें बन्धन, शुद्ध सत्त्व दो में भेद न पाय।।
। २८५ ।

गत पद्य की दूसरी पंक्ति में कहा गया था कि जब विद्या की प्रथम किरण फूटती है अर्थात् मनुष्य के मन में जब विद्या अपना प्रथम चरण रखती है, तो वह दुःख को दिखाना आरम्भ करती है अर्थात् दुःख में दृष्टि (नज़र) खोलती है और मनुष्य अपने दुःख का अध्ययन (पढ़ाई) करना सीखता है। जैसे कि संसारी मन तो अपनी पहले वाली 'मैं' या मीठा लगने वाला अपना आपा खोजता हुआ उसी की तृष्णा पूरी करने के मार्ग को खोजता है। जब वह तृष्णा उसे पूरी होने की नहीं दीखती तो उसे दुःख होता है। यह तृष्णा पूरी न होने या अधूरी छूटने के दुःख में स्थिर न रह कर मनुष्य इस से झटपट पीछा छुड़ाने के लिये नशे भी पीता है या पुनः इस दुःख से मुख फेरता हुआ निद्रा, आलस्य आदि तमोगुण की अवस्था को भी निमन्त्रण देता है। उस तमोगुण की अन्धकारमयी स्थिति में अपनी संसार की तृष्णा को लेकर लीन (गरक) हो जाता है। यही दो तृष्णायें पीछे के पद्य के व्याख्यान में कही गई। यही तृष्णा उसे पुनः संसार में ही जन्माती है।

अब साधक पुरुष उद्योग और श्रद्धा का बल रखता हुआ इस तृष्णा के अधूरे बसने के दुःख से भागता नहीं; इसी दुःख में स्थिर (टिका) रह कर इसी दुःख पर अपनी दृष्टि जमाकर इस का अध्ययन करता है अर्थात् अपनी दृष्टि में रखता हुआ इसके बारे में पूरी खबर या ज्ञान पाने के लिये इसे बार-बार विचार में लाता है जिससे कि इसकी असलीयत या इसकी जड़ कारण सहित समझ में पड़े। दुःख को दृष्टि के सम्मुख रखकर जागना तपस्या का ही

एक रूप है; तभी यह दुःख अनन्त प्रकार की विद्याओं को प्रकट करेगा। यदि यह दुःख सहन करने में आ गया तभी फल वाला सिद्ध होगा। यदि उगला गया अर्थात् इस में मन दुःखी होता हुआ किन्हीं दूसरे सांसारिक उपायों द्वारा ही इसे हटाने की दलीलें करता रहा तो अन्त में निद्रा में इस प्राणी को ले जायेगा या पुनः इसे भूलने के लिये किसी प्रकार के दूसरे संग में ले जाकर पटक देगा। साधारणतया संसार में यही होता है। परन्तु उद्योगी पुरुष ध्यान द्वारा इस दुःख का अन्त पाकर अपनी अन्दर की दृष्टि रूप तृतीय नेत्र पाता है। इसी रहस्य को भाव में रखकर यह पद्य प्रवृत्त होता है।

पद्यार्थ :- जब दुःख का दर्शन या दुःख का अध्ययन (खोज सहित पढ़ाई) नये-नये छिपे रहस्यों को प्रकट करने लगे तो मनुष्य अपने आप में ही सब जीवों के बन्धनों के स्वरूप का ज्ञान पाता है। एक दूसरे के साथ कैसे जुड़ कर बन्धन जीव को बाँधते हैं। इन बन्धनों के जाल की भी सूचना (खबर) प्राप्त होती है। जैसे किसी में कुछ सुख की दृष्टि बनी कि 'अमुक (फलां) व्यक्ति सुखी है', झट सुख की दृष्टि ने उस सुख का राग इस व्यक्ति में भी जगा दिया। यही दृष्टि के साथ जुड़ा हुआ राग जाल बुनने लगा। इससे व्यक्ति इसे पूरा करने के लिये सोचों विचारों में पड़ा-पड़ा कितना समय व्यतीत कर गया; पुनः इन्हीं कर्तव्य के विचारों को उत्पन्न करता हुआ व निरन्तर बहाता हुआ न समाप्त होने वाली विचारधारा का बन्धन उसी जाल का भाग बना। अब इसके पूरा होने में अड़चन

डालने वाला यदि कोई व्यक्ति हुआ, तो द्वेष भी इसी जाल का भाग बना; पूरा सुख हुआ तो मान मिला : 'मैं' पायी गई : न पूरा हुआ तो अपमान या 'मैं' के खोये रहने का दुःख इत्यादि पुनः इसी के साथ हैं। इसी प्रकार संशयों का बन्धन भी जुड़ा रहेगा। यही सब एक दूसरे से जुड़े बन्धन, जाल या जंजीर जैसे जीव मात्र को बांधे रखते हैं। इन बन्धनों के जाल में उलझे सब प्राणी न चाहते हुए भी मिथ्या कर्म करते हैं।

यही सब ज्ञान साधक पुरुष दुःख को अपने में स्वीकार करके, उस से न भागता, न डरता हुआ, अपने में और विश्व ज्ञान अर्थात् समूचे संसार के प्राणियों में, इन बन्धनों के जाल के बारे में ज्ञान पाता है और इन्हीं बन्धनों की चालें पहचानता है कि किन-किन चालों या चालाकियों को ये बन्धन जाल मनुष्य से भविष्य का विचार किये बिना भी करवाते हैं और अन्त में रुलाते हैं।

इन्हीं बन्धनों के जाल में बन्धे प्राणी को न तो अपनी खबर होती है और न ही विश्व जीवन रूप व्यापक परमात्मा का ही ज्ञान होता है। उस बन्धनों में जकड़े जन को तो केवल अपनी 'मैं' ही पूरी करने की पड़ी है। परिणाम की चिन्ता या खबर नहीं कि इसका अन्त क्या होगा ? मेरे लिये ही भला या कि बुरा। परमात्मा (विश्व जीवन) जो कि सब जीवों का एक समुदाय रूप जुड़ा-जुड़ाया, गुथा-गुथाया हुआ एक रूप है उस का क्या विधान है ? क्या करने से क्या बनेगा ? यह सब न तो पता ही है और न स्वार्थ या तृष्णा के बन्धन इस बारे में जानने

के लिये इच्छा ही करने देते हैं। यही सब माया का जाल है। यह माया विश्व जीवन रूप परमात्मा के साथ ही इसकी शक्ति रूप से रहती है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का अर्थ बन्धन वाले व्यक्ति को नहीं सूझता।

जब मनुष्य दुःख के अध्ययन से आरम्भ कर के उस दुःख की सही जड़ इस संसार के सुखों और सुखों वाली आत्मा या 'मैं' की तृष्णा को पहचान लेगा तो वह शुद्ध ज्ञान वाला होकर अपनी बाहर शुद्ध (सत्त्व) हस्ती को स्वीकार करेगा, पाप वाली हस्ती को नहीं अपनायेगा। ऐसे प्राणी के सब बन्धन टूट जायेंगे। तब उसे हर समय सुख वाला या दुःख वाला ज्ञानरूप आत्मा ही सब में परमात्मा रूप से दीखेगा और आत्मा परमात्मा का भेद भी दिखाई नहीं देगा।

इस सारे पद्य का निचोड़ यह है कि जब मनुष्य इन सारे संसार के दुःखों की जड़ या कारण इन्हीं संसार की तृष्णा के सुखों को देखेगा तथा इन्हीं की तृष्णा के राग-द्वेष आदि बन्धनों को पहचानेगा, तो यह सब पहचान या ज्ञान पहले तो अपने आप में होगा, पुनः बुद्धि शुद्ध होने तथा बन्धन क्रम से टलने पर सारे विश्व में भी वह अपनी आत्मा के समान ही सब बन्धनों की दुःखमयी लीला को पहचानेगा। तभी उसे यह ज्ञान होगा कि जैसा 'मैं' एक रूप अपने में अनुभव करता हूँ, यही लीला सारे संसार भर में भी है। तब उसे अपने से न्यारा यह व्यापक ईश्वर की लीला रूप संसार नहीं दीखेगा। सब भेदभाव से रहित जब

अपनी आत्मा को बन्धनों से रहित देखेगा तो उसे सब संसार की भी आत्मा तो शुद्ध ज्ञान रूप में ही दीखेगी। यह बात न्यारी है कि यह अपने आप को तो ज्ञान के उद्योग से मुक्ति के स्वरूप में अनुभव करेगा। जहाँ अभी यह उद्योग नहीं, वहाँ बन्धनों के जाल का दुःख भी पहचानेगा। परन्तु आत्मा का ज्ञान स्वरूप तो उसे सब में एक समान या ब्रह्मरूप ही दीखेगा। इस प्रकार आत्मा परमात्मा में कहीं भेद दिखाई नहीं देगा। इसीलिये कहीं भी दूसरे के सुखों के विचार से उसका मन कभी दूसरे के बारे में कुछ भी जानने की भी इच्छा नहीं रखेगा।

ॐ इति बन्धन विमुक्ति पूर्वक परमात्म प्राप्ति योग निरूपण वर्ग ॐ

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 अथ योगांग निरूपण वर्ग 卐

जगत् के बन्धन तोड़ने हेतु, (यह) छोड़े पहले पाप,
हिंसा, चोरी, जारी, झूठ और नशे का अभिशाप।
बढ़ती चलती सुख की तृष्णा सारे पाप कराय;
सुख इसका भी नहीं टिकाऊ, दुःख भारी भी बुलाय।।
। २८६ ।

गत पद्य में आत्मा (सत्, चित् और आनन्द) और उसी के व्यापक स्वरूप परमात्मा में स्थिरता और टिकाव की सुख शान्ति के निमित्त अपने में और दूसरों में संसार में ही बाँधने वाले बन्धनों को ध्यान द्वारा जान कर त्यागने का उद्योग करने की वार्ता कही गई। जैसे मनुष्य के अपने मन में होने वाले बन्धन प्राणी को संसार में ही खींच कर ले जाते हैं वैसे ही दूसरों में भी यह होते हुए अपने सुख या सांसारिक लाभ के लिये मनुष्य को ऐसी चालों में डाल देते हैं जिससे कि वह तथा अन्य दूसरे भी भड़कावे में आकर न चाहते हुए भी मिथ्या कर्म, मिथ्या वचन और मन के मिथ्या भाव और संकल्पों में पड़ कर अपनाया हुआ कल्याण का मार्ग भी खो बैठते हैं और पुनः ऐसी अश्रद्धा धारण करते हैं कि यह मुक्ति का मार्ग अपने वश का ही नहीं। हमें तो केवल गुरु या भगवान् ही पार करेगा। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को अपनी बाहर की चर्या (रहन-सहन आदि) इतनी पवित्र रखनी चाहिए कि उससे भड़कावे में आकर कुछ विपरीत कर्म, पाप के रूप में न बन पाये। पाप कर्म केवल यही नहीं कि साधन बिगाड़ता है, परन्तु साधन और मुक्ति का मार्ग

तो दूर ही रहा, अधिक दुःखों की सृष्टि भी दिखाता है। इसलिये अब अगले कई एक पद्यों का समुदाय इसी बाहर की चर्या (रहन सहन) को ही धर्म के भाग के रूप में अपनाने को कहता है। जिसे प्रथम यत्न से रखने पर बाहर की बहुत सी उलझन टलने पर, मन अन्तर्मुख होकर, अन्दर सब बन्धनों को पहचानेगा और त्यागने का बल प्राप्त करेगा।

पद्यार्थ :-यदि आत्मा और परमात्मा की एकरूपता के साक्षात्कार की शान्ति पानी है तो मनुष्य को सब से पहले बाहर के सुखों की बढ़ी हुई इच्छाओं द्वारा करवाये गये ये पाँच पाप त्यागने होंगे। ये सब पाप मनुष्य को बुरी तरह से बाहर शंका, भय तथा अपनी सुरक्षा आदि के लिये ही लपेटे-लपटे बाहर संसार के ही मिथ्या बन्धनों में डाले रखते हैं। अपनी भलाई का सही ध्यान ही नहीं बनने देते। हिंसा अर्थात् किसी का भी प्राण नष्ट करना। बिना अनुमति के किसी की कोई वस्तु उठाना या लेना यही चोरी का स्वरूप है। जैसा कुछ वृत्तान्त या वार्ता है उसको न कहना या न प्रकट करना ही झूठ का लक्षण है; अन्यथा दूसरे प्रकार से बोलना। इसी प्रकार अपनी बुद्धि के निश्चय या निर्णय करने की शक्ति को क्षीण करने वाले तथा मन की चिन्तन शक्ति को सुलाने वाले मादक (नशा करने वाले) पदार्थों का सेवन करना ही नशे का अभिशाप है। यह मनुष्य को उत्तम ध्यान द्वारा सही या मिथ्या वस्तु का निर्णय करने से रोकने वाला होने के कारण मनुष्य का जो अपना भला बुरा बुद्धि द्वारा पहचान सकने की योग्यता का सहज अधिकार

है, उसको नष्ट भ्रष्ट करने वाला होने से एक प्रकार का अपने ऊपर लादा हुआ शाप ही है। इसी प्रकार दुराचार से भी बचना, खोटे या मिथ्या आचरण से दूर रहना। इसी पांचवें पाप के स्थान पर त्यागमय जीवन व्यतीत करने वाले के लिये अपनी समय की आवश्यकता से अधिक भोग सामग्री किसी से स्वीकार करना और एकत्रित (इकट्ठा) करना या रखना यह भी पाप ही माना जाता है। क्योंकि यही एकत्रित की हुई भोग सामग्री अपनी सम्भाल रखने की चिन्ता करवायेगी। अपहरण करने वाले का भय भी इसी के साथ है; और उसी सामग्री के बिगड़ने की शंका भी मनुष्य को सही या उत्तम ध्यानों में उन्नति नहीं करने देगी। इसलिये ऐसा त्यागी साधक कहीं भी बसे घर में या बाहर इस सामग्री की सुरक्षा किसी दूसरे के ऊपर ही सौंप दे, तो ही उससे कल्याण का मार्ग उत्तम रीति से चला जायेगा। गृहस्थ के भी पुत्रादि उसका भार प्रसन्नता से सम्भाल लेते हैं। 'जारी' शब्द से यहाँ दुराचार को ग्रहण किया है। जहाँ तक बन पाये मनुष्य को अन्त में ब्रह्मचर्य धर्म में प्रतिष्ठा पानी है जिससे कि उसका जीवन बाहर किसी एक व्यक्ति से न बन्धा रह कर केवल आत्मा की ही खोज में या साधना में लग सके। प्रथम तो मनुष्य को अपनी इन्द्रियों का संयम परिमित या सीमित क्षेत्र में करना होगा। पुनः सर्वत्र ही इस संयम को बढ़ाना होगा। प्रथम नियम में रहे, पुनः संसार के मार्ग से शनैः-शनैः अत्यन्त विरक्त हो जाये। ये सब ऊपर कहे गये हिंसादि पाँच पाप साधारण नियमों में रहने वाला व्यक्ति तो शीघ्रता से नहीं

कर पाता, परन्तु जो बिना नियम के बढ़ी चढ़ी तृष्णा के चक्कर में पड़ गया हो उससे ही बलात् (बल से भी) ये पाप प्रायः करके होते हैं। यद्यपि इन पापों के मार्ग से जो सुख मिलता है वह स्थिर तो रहने वाला है ही नहीं। इसके अतिरिक्त भारी दुःख को ही ये पाप उपजाते हैं। जो नियम से संसार में रहने का सुख है, उसे भी अन्त में छीन लेते हैं। इसलिये ऐसी बुद्धि द्वारा निश्चय करके मोक्ष मार्गगामी पुरुष को प्रथम इन पापों का बोझा हल्का करना चाहिये।

छोड़ कर यदि पाप फिर भी उसी दिशा धाय,
हो अशुचि जन वह, शुचि यत्न से रह पाय।
देह रक्षा से अधिक तो है, सुख का ही लोभ;
धैर्य से रख सन्तोष, तप कर, सह ले मन का क्षोभ।।

। २८७ ।

गत पद्य में बाहर के पापों से बच कर चलने से बाहर दूसरों से शंका, भय आदि न रहने से ध्यान और विचार उत्तम रीति से बनेगा, ऐसा सूचित किया गया और पापों के फल दुःख से भी बचाव हो गया; परन्तु इतने से ही मोक्ष मार्ग की शुद्धि नहीं हो जायेगी। जब तक मनुष्य बाहर के पापों को मन में लिये बैठा है और उन पापों के सुख वाला मन अन्दर घेरे रहता है तब तक ध्यान, विचार और ज्ञान आदि सफलता की सीमा तक नहीं पहुँचते। वैसे ही बाहर के पाप टालने पर भी थोड़ा अपने में होने वाली अनियमितता (नियम का विरोध या बिना नियम रखे आदत के मार्ग पर की चलाई) भी रोकनी पड़नी है। अपने आप को भी बिना नियम के मन की इच्छा के अनुसार सब कुछ

करने की छूट देना भी मोक्ष मार्ग के विपरीत है। इसलिये अपने आप को भी नियमों में बांधना ही मोक्ष धर्म के अनुकूल है। खाने, पीने, सोने, जागने और बातचीत या दूसरों के संग में नियम बरतने या रखने भी मुक्ति मार्ग के अनुकूल होते हैं। इसलिये पहले तो बाहर से अपने को बचाकर चलने के लिये हिंसादि पापों का त्याग करने के लिये कहा था। इसे योग-शास्त्र में 'यम' के नाम से कहा जाता है। 'यम' शब्द का अर्थ है जिन से उपरत होना या टलना है। अब इस पद्य में अपने को अपने आप में भी सम्भालने के नियम बताये गये हैं, इन्हें शास्त्र में 'नियम' की संज्ञा दी गई है। यह पद्य उन्हीं नियमों को दर्शाना आरम्भ करता है।

पद्यार्थ :- यद्यपि आपने बाहर हिंसा आदि पापों को त्याग भी दिया, तब भी वे पाप किसी सुख के लोभ या दुःख के भय से ही होते थे। वही सुख का लोभी मन पुनः उन्हीं पापों को न भी करे तब भी यदि उन को करने का विचार भी कर गया तो अशुद्धि या मैल उसमें बसी है। इसी का नाम अशुचि है। इस मैल को वैसे ही धोने का यत्न रखना जैसे कि मिट्टी और पानी से देह का शौच (शुद्धि) करते हैं। विचार के जल से मन को सफा करते रहना यह 'शौच' (शुद्धि) नाम का नियम है। इसे यत्न से ही प्रतिदिन करना पड़ेगा। इन्द्रियों को भी अपवित्र वस्तुओं का संग न करने देना इसी में सम्मिलित है।

इसी प्रकार अपने खाने पीने आदि में अधिक सुख का लोभ रहता है। इसे त्याग कर सन्तोष को धारण करना

'सन्तोष' नाम का दूसरा नियम है। जहाँ तक बन पाये जितना देह की रक्षा के लिये आवश्यक है उसको छोड़ कर जितना केवल सुख की तृष्णा या लोभ से बाहर पदार्थों का सेवन करना है उसे त्याग कर मन को युक्ति-युक्त मात्रा से ही सन्तुष्ट करना सन्तोष नाम का दूसरा नियम है। यही संतोष का धन लोभ रूप तृष्णा के विकार को छुड़ाने वाला है।

अब यदि आदत की वस्तु जो आवश्यकता से अधिक सेवन में आती थी उस का त्याग किया जाये तो मन खिन्न होगा। कहीं-कहीं उसमें क्षोभ भी भायेगा। इसे धैर्य रखकर सहन कर ले और सन्तोष को बनाये रखे, यही 'तप' नाम वाला तृतीय नियम है। 'तप' नाम तपने का है या खेद का है। आदत को टाल कर नियम से चलने पर जो कुछ दुःख को बढ़ाने वाली तृष्णा की पूर्ति का सुख है, उसे टालना पड़ेगा। परन्तु टालने पर मन तपेगा, खेद वाला होगा; तब ऐसी अवस्था में ज्ञान और धैर्य से खेद या त्यागने की तपन को सहन कर लेना ही तप है। इस तप के नियम बिना मोक्ष मार्ग पर चलने की शक्ति या बल प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान तथा बुद्धि द्वारा इस सत्य को समझ कर रोगी मनुष्य के समान स्वास्थ्य के निमित्त विरोधी, रुचिकर भोजन भी जैसे त्यागा जाता है और उसके त्यागने के खेद को सहा जाता है; उसी प्रकार मिथ्या सुखों को त्याग दे या उनमें नियम रखे। त्यागने के दुःख तथा खेद को शान्त मन से सहन करता जाये, यही तप है।

सुख की वस्तु न मिलने पै, होवे मन में ताप,
अन्य दुःख भी आ पड़ने पर, उसका भी संताप।
इन दोनों को धीर हो सहले, सुध बिगड़न न पाय;
बहिः बर्ताव भी समुचित राखे, तप भलो यही कहलाय।।
। २८८ ।

गत पद्य में ही चर्चित तप रूप नियम की अधिक उपयुक्त (उपयोग वाली) अवस्था को यह पद्य दर्शा रहा है कि :-

पद्यार्थ :- यदि सुख की वस्तु जो कि अभ्यास या आदत से सेवन में आती थी, न मिले तो मन में ताप अवश्य होता है अर्थात् मन तपता है, गर्म होता है, अपने में खिन्न दुःखी प्रतीत पड़ता है; और जैसे इष्ट (इच्छा की) वस्तु त्यागने का दुःख और ताप, वैसे ही कोई और भी दुःख आ पड़े तो मन में खूब ताप होता है। मन तपता है कि 'मैं दुःखी हो गया'। दुःख को सहन करने का बालपन से कोई अभ्यास ही नहीं किया गया और न ही किसी ने सहन करने की शिक्षा ही दी। सुख के पीछे भागने की शिक्षा तो प्रकट संसार में सब स्थानों पर सब व्यक्तियों से मिलती है। अब इन दोनों ही दुःखों को मन में धैर्य रख कर धीर पुरुष सह ले और अपनी मति से कुछ भी विपरीत करने के लिये निश्चय न करे। यही सुध (सुधी) का न बिगड़ना है। सुध या सुधी नाम इसी का है कि अपनी, कहीं भी अपने आप को सही मार्ग पर रखने और उल्टे मार्ग से बचाने की होश तथा सुन्दर ज्ञान वाली बुद्धि। यदि विपरीत या त्यागे हुए पदार्थ को सेवन करने के मार्ग पर ही मन

चलने को प्रस्तुत (तैयार) हो जाये या चल ही पड़े तो तप खण्डित हो जायेगा। परन्तु यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि तप खण्डित करना तो दूर रहा, बुद्धि या मति वैसा सोचे तक भी नहीं; और स्मृति और सुधी (सुन्दर मति) रखकर तप छोड़ने के दुष्परिणाम पर विचार करके अपने को सम्भाले रखे और बाहर उस तप की गर्मी में अनुचित व्यवहार भी दूसरों से न करके युक्ति-युक्त (जैसा उचित है) या उत्तम बर्ताव ही करे तो यह तप के नाम से कहा जायेगा।

ध्यान की पीठ पै आरोहण को, निज की करे पढ़ाई,
टाल बुरा, सब रखने को अच्छा या विधि होवे भलाई।
यह स्वाध्याय तो सब समय राखे करता सारे काम;
विपरीत शक्ति भी निज में परखे पथ प्रेरे जो वाम।।

। २८६ ।

गत चर्या या चरित्र सम्बन्धी तीन पद्यों में बाहर से व्यर्थ की उलझन से मुक्ति (छुट्टी) पाने के लिये हिंसादि पापों से उपरत (टले) रहना; इसी प्रकार तत्पश्चात् अपने अन्दर की बढ़ी हुई तृष्णा को युक्ति-युक्त (समुचित बुद्धिमत्ता के) ढंग से नियम में रखना। अपनी इन्द्रियों और देह का उचित मात्रा में संयम होने पर दूसरों से, और अपने अन्दर के बहुत कुछ व्यर्थ और दुःखदायी संसार की दासता से मुक्ति मिल जायेगी। तत्पश्चात् पूर्ण संसार और उसके बन्धन और दुःखों से अत्यन्त (बिल्कुल) मुक्ति पाने के लिये इस संसार में मन, बुद्धि और सब वैरादि भावों और इसी के सुख दुःखों से भी मुक्ति पाने के लिये अपने

卐卐

मन को बाहर संसार के बारे में जानने के लिये प्रवाहित करने के स्थान पर अन्दर अपने आप को (आत्मा को) जानने के लिये झुकाने और तैयार करने के लिये अब यह पद्य शास्त्रों में सूचित अपने आप की या अन्दर की पढ़ाई रूप 'स्वाध्याय' को अपनाने के लिये प्रेरित करता है। स्वाध्याय शब्द का अर्थ है अपने आप का अध्ययन (पढ़ाई)। यहाँ स्वाध्याय शब्द का विशेष अर्थ यह है कि अपने को जानने समझने के लिये मन को जोड़ना, अपनी भली प्रकार से जाँच करना, यही अपने आप की पढ़ाई है।

पद्यार्थ :-यदि ध्यान की पीठ पर आरोहण (चढ़ना) करना है तो मनुष्य को प्रथम अपने आप की ही पढ़ाई (स्वाध्याय) करनी होगी। दूसरों को जानने समझने के लिये बाह्य स्वार्थ के कारण (हेतु) तो सब स्वभाव से ही बड़े दक्ष (चतुर) हैं और बुद्धिमान् भी; परन्तु जब अपने को समझना हो तो मन नहीं लगता। अपना जीवन दोषों और दुर्बलताओं (कमजोरियों) से भरा होने के कारण मन अपने ऊपर दृष्टि भी नहीं करना चाहता। जान बूझ कर अपने ऊपर अविद्या लादता है। अपनी कमी या कमजोरी दीखने पर अपना आपा हीन या तुच्छ-सा दीखता है। इसलिये जीव को अपने दोष छुपाने की प्रवृत्ति है या आदत-सी बनी बैठी है। जान बूझ कर अपने आपको अज्ञानी बनाना ही यहाँ अविद्या लादना कहा गया है। यहाँ यही जानने का है कि अपने ऊपर पर्दा नहीं डालना; अपनी कमी या कमजोरी को नहीं छुपाना। यह ठीक है कि दूसरों को इनके बखान करने की तो आवश्यकता नहीं, परन्तु अपनी

दृष्टि में इन को अवश्य रखना है जिससे कि अपना हित ध्यान द्वारा समझ कर इन्हें त्यागने का बल अपने को प्राप्त हो सके । यदि मैं स्वयं ही दुःख देने वाली अपनी किसी खोटी आदत को थोड़े से सुख को ही दृष्टि में रखता हुआ बनाये रखना चाहूँ और उस आदत को दुःख देने वाली समझने में अपनी दृष्टि बन्द रखूँ और सत्य पर पर्दा डाले रखूँ तो मैं ही एक दिन इतना दुःखी हो जाऊँगा कि मुझे दुःख और शोक कभी छोड़ेंगे ही नहीं। तब जीवन के लोभ से दूसरों के बतलाये जाने पर तो पुनः आदत का सुख भी छोड़ना ही पड़ेगा। यही है अज्ञान के बन्धन को अपने ऊपर लादने का भयंकर परिणाम (नतीज़ा)।

इसीलिये 'स्वाध्याय' को रखना जिससे कि अपनी भी बुराई या दुर्बलता दूसरों की दुर्बलता के समान आपको अपने अन्दर सूझे। इस से मन भी अपने आप को पढ़ने लगेगा। ज्ञान अन्तर्मुख होगा; अन्दर की आगे से आगे समझ पड़ने का मार्ग खुल जायेगा। सब बन्धन इसी मार्ग से एक दिन पहचानने में आयेंगे; तब त्यागे भी जा सकेंगे। जब अपने अन्दर बुराइयां भी दृष्टि में पड़ने लगेंगी तो उन्हें छोड़ने, टालने का अवसर भी प्राप्त होगा और उन (बुराइयों) के स्थान पर यत्न से अच्छाई को रखने का ध्यान भी आयेगा, जिससे कि अपनी भलाई (कल्याण) सिद्ध हो। ऐसा यह 'स्वाध्याय' (अपने आप की पढ़ाई) हर समय रखने का है। सब काम करते हुए भी स्मृति और मन की उपस्थिति रखकर अपने आप में छोटी-छोटी बातों में भी जो चिढ़, क्रोध, लोभ या ईर्षा आदि विकार आते रहते

हैं; साधारण मनुष्य उन पर ध्यान नहीं देता। परन्तु आप साधक रूप से यदि उनको भी दृष्टि में रखकर समझ से टालते रहने का अभ्यास या आदत डालेंगे तो आप का जीवन चाहे किसी भी क्षेत्र में हो सफल होगा और अपनी आत्मा में शान्ति, सुख की वृद्धि होगी। क्योंकि काम, क्रोध, चिढ़ और मन में गुप्त रीति से बहने वाले दुर्भाव जिससे कि दूसरा बुरा लगता है इत्यादि मनुष्य का सही बर्ताव भी बाहर नहीं होने देते। जब आप का बर्ताव सही नहीं तो दूसरों का भी आप से प्रेम और प्रीति का बर्ताव कैसे हो पायेगा ? इसी अपनी दुर्बलता के फलस्वरूप मनुष्य अपने में भी एक अप्रिय और घृणा का पात्र हो जाता है। मिथ्या काम, क्रोध, अहंकार और अधिक स्वार्थ-परायणता के दोष हमारे लिये यह सब दुःखदायी खेल बाहर से दिखाने को लाते हैं। ऐसे ही सारे बन्धन हमें संसार के अल्प सुख के बहाने अज्ञानता से महान् दुःख में फंसा कर रुलाते हैं। यह सब अपना जीवन स्वाध्याय द्वारा रखने से ही ज्ञात होगा (समझ में पड़ेगा)। यदि यह स्वाध्याय न हो सका तो धर्म ग्रन्थों का नित्य पाठ का नियम भी पुराने आचार्य स्वाध्याय रूप से बताते हैं। उनसे भी इन्हीं ऊपर कहे गये अपने अन्दर के सत्यों का ज्ञान होगा। इसी स्वाध्याय के साथ-साथ जो शक्ति हमें विपरीत मार्ग में प्रेरित करती है उससे भी अपनी आँख बन्द न रखे। इसे भी (इस शक्ति को भी) अपने आपको समझने के लिये दृष्टि (स्वाध्याय) रखता हुआ जन अपने अन्दर पहचाने। यही तृष्णा की शक्ति है व व्यापक रूप से माया

की शक्ति है जो कि थोड़ा सुख का लोभ दिखाकर मनुष्य को बड़े दुःख के साथ संसार में बांधे रखती है। यह सब अपनी पढ़ाई से ही पता चलेगा।

सामर्थ्य बड़ा है इस शक्ति का, सारे बन्ध रचाय,
जहाँ-जहाँ ज्ञान, टिकी है वहीं-वहीं, ईश की माया कहलाय।
जान कर इसकी भूल-भुलैया को चेत सके तो चेत;
काल की रात में चेतन जागे, सोई मुक्ति को देत।।

। २६० ।

गत पद्य में दर्शाया गया कि ध्यान के लिये स्थिर आसन पर बैठ कर यदि अन्तिम सत्य को पाना है तो पहले संसार की अधिक पढ़ाई जो बालपन से बालक ने की है उससे तो वह संसार में ही रमण करने लगा। परन्तु आप उस संसार के स्वार्थ या काम (इच्छा) को कम करके मन से अपनी अन्दर की पढ़ाई द्वारा अपने अन्दर के सत्यों को पहचानने की योग्यता प्राप्त करें जिससे कि आप को एक दिन आत्मा में स्थिरता प्राप्त हो। अन्दर के सत्य सब के समान ही हैं। अपने आत्मा के ज्ञान से सब में समान रूप से विराजमान परमात्मा का भी ज्ञान होगा। उसी के साथ-साथ उस में रहने वाली, आपके कल्याण के विपरीत शक्ति 'माया' का भी ज्ञान होगा जो कि ईश्वर (सर्वव्यापक रूप चेतन) के साथ शक्ति रूप से बस रही है या टिकी हुई है। जिस प्रकार जीव के साथ जीव की तृष्णा शक्ति है, यही अपने काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों द्वारा जीव को संसार में ही भ्रमाये रखती है तथा अन्त में इससे थके हारे व्यक्ति को निद्रा आदि के स्वरूप में अचेत कर देती

है। यही अविद्या, अज्ञान या नासमझी की दशा में जीव में छिपी बैठी रहती है; और समय पाकर पुनः जीव को संसार में प्रकट कर देती है। जैसे कि निद्रा से जग कर प्राणी अपने कर्मों में लग जाता है उसी प्रकार मर कर पुनः जन्म जाता है और संसार के चक्रों में भटकता रहता है। यह सब तृष्णा की शक्ति ही जीव को संसार अच्छा लगा कर या अच्छा दिखा कर छलती है, उसी में बांधे रखती है। इसी तृष्णा का व्यापक स्वरूप माया है। तृष्णा जीव के साथ एक रूप में है; सारे विश्व की एक दूसरे से जुड़ी हुई यही तृष्णा व्यापक चेतन की शक्ति रूप माया है। जैसे एक पत्ते में भी एक शक्ति बहती हुई इस वृक्ष के एक पत्ते को पालती है तथा धारण भी करती है, वैसे ही वृक्ष के सारे पत्तों को भी तो वृक्ष में होती हुई वही शक्ति धारण करती हुई पालती है तथा थामे हुए है। यही एक रूप में तृष्णा और अविद्या, सारे व्यापक रूप में ईश्वर की माया कहलाती है। इसे पहचाने। इसे पहचानने से भी मुक्ति मिलती है।

गत पद्य की अन्तिम पंक्ति में इसे ही विपरीत शक्ति रूप से कहा गया था जो कि वामपथ (उल्टे मार्ग) में सब को प्रेरित करती है। उल्टा मार्ग यहाँ इसे ही कहा है कि संसार में ही स्वार्थ रखकर कल्याण के विपरीत देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को चलाना। अब उसी शक्ति को पहचान, समझ कर उसकी भूल-भुलैया (भुलाने के मार्ग) से बचने के लिये अपने को चेतन करे। गत पद्य में 'वाम' शब्द का 'पथ' शब्द के साथ प्रयोग किया गया था, उसका तात्पर्य भी यही है कि उसका मार्ग देखने में प्रथम बालक

की समझ में सुन्दर प्रतीत होता है, परन्तु है उसका उल्टा ही। वाम शब्द के दोनों ही अर्थ हैं, सुन्दर भी और उल्टा भी। इसी गत पद्य की अन्तिम पंक्ति के भाव का स्पष्टीकरण (खुलासा) यह पद्य करता है।

पद्यार्थ :- हर एक व्यक्ति के मन में या जीव मात्र में काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मत्सर, अहंकारादि विकार और दृष्टि बन्धन से लेकर अविद्या तक सब बन्धन हैं ही। यही हमें बान्धने वाले हैं। परन्तु जहाँ-जहाँ ज्ञान का प्रकाश है अर्थात् समझने की शक्ति बसी है, पशु, पक्षी से लेकर मनुष्य मात्र के जगत् में भी इन्हीं ऊपर कही दोनों शक्तियों का जाल बिछा हुआ है। एक रूप में अपने ही बन्धनों का परिवार भुलाने वाला है। सब का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रखता हुआ और भी अधिक सर्वरूप में माया जाल उलझाने वाला है। यही सब मिला मिलाया, जुड़ा जुड़ाया जो जगत् है उसको चलाने वाली माया शक्ति है। अकेला तो कोई जीता नहीं, सब में ही सब उलझे एक दूसरे के भावों में ही जीवन धारण करते हैं। सब में उलझे सभी एक दूसरे के भावों और व्यवहारों से कई एक प्रकार के विकारों और जोशों में पड़ कर ऐसे-ऐसे कर्म करते हैं जो कि उनके अपने भले के लिये भी नहीं होते। परन्तु जब इस माया की प्रेरणा होती है तो इसके मार्ग पर (उल्टे मार्ग पर) चलना ही जीव को भाता है। कलह, लड़ाई, धोखेबाज़ी, झूठ, जीव हिंसा आदि अनगिनत पाप यही (माया) करवाती है जो कि एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रूप में ही टिकी बैठी है। चेतन तो ज्ञान रूप से शुद्ध है परन्तु

इसके साथ बसी माया का मार्ग सब उल्टा ही है। ज्ञान रूप से तो ईश्वर सब का प्रिय (प्यारा) है ही परन्तु इसके भुलाने के भाव और जोशों में जो अपने को जगा सका, बोध रूप ज्ञान द्वारा अपना सच्चा हित समझ कर चेत सका अर्थात् अचानक अपने को सम्भालने में प्रस्तुत (तैयार) हो गया तो वह इस माया से मुक्ति पा लेगा; नहीं तो जैसा कुछ बालपन, यौवन और वृद्धावस्था आदि के समय (काल) का है, उसके अनुसार जीव में न जाने क्या-क्या भाव, इच्छायें, संकल्प और उत्तेजनायें (जोश) इसको रात्रि के अन्धकार के समान अज्ञान में डालकर किधर-किधर की ठोकरें खिलाते हैं। इस काल की रात्रि में केवल चेतन रहने वाला पुरुष ही जग सकेगा। अर्थात् जो बोध को जगाकर सत्य को पहचानेगा वही इससे मुक्ति पायेगा। यह चेतन या ज्ञानमात्र माया की भूल-भुलैया में कभी भी नहीं बुझता।

इसी ज्ञानमात्र में सदा स्थित माया से परे चेतन हुआ कोई भी, कभी ईश्वर स्वरूप में जगत् में प्रकट हुआ जिसने वास्तव (असल) धर्म को मनुष्य के लिये दर्शाया। उस भगवान् का हमें साक्षात्कार न भी हो, उसे हम अपनी आँखों से न भी देख पायें तो भी वह अपने आप में चेतन (सदा अपने चित् या ज्ञान स्वरूप में बसा), सब कालों में जागने वाला, काल की रात्रि से भी परे है। हमें उसी का ध्यान करना है; माया के सब दोषों से विपरीत उसके गुणों को समझ-समझ कर अपने अन्दर धारण करना है; ऐसी

उसकी भक्ति करने से कोई भी पुरुष इस भगवान् के मार्ग से माया से मुक्ति पा सकेगा।

माया के संग चेतन यह सब थाँ अपना खेल रचाय,
भला बुरा कोई किस को देखे सब को यही चलाय।
जाने औ जन्मे नित-नित, क्षण-क्षण कुछ-का-कुछ दिखलाय;
इसको जान बस ! मुक्ति के हेतु, सब गुण मन में बसाय।।

। २६१ ।

गत पद्य की अन्तिम पंक्ति में कहा गया कि समय यद्यपि बलवान् है, सब को समय ही अपने अनुसार प्रेरित करके भटकाता है। परन्तु इस काल के चक्र से भी बाहर निकला हुआ, सदा अपने में जागरूक (चेतन) ऐसा जो कोई पुरुष रूप में धर्म के मार्ग को बतला गया है, वही चेतन पुरुष हमें भी मुक्ति दे सकेगा। अब उसी पुरुष या भगवान् के नाम जो कभी प्रसिद्ध हुए, उन नामों के द्वारा उनके अर्थ चिन्तन करते हुए हमें अपना मन टिका कर उसी भगवान् के संसार से पार ले जाने वाले सब गुणों को ध्यान में लाकर अपने में धारण करना है। इसी भाव को यह पद्य हमारे सम्मुख रखता है। भगवान् के सब नाम उनके किसी न किसी गुण के अनुसार ही रखे गये हैं। जैसे कि सब में जो रम रहा है अर्थात् क्रीड़ा कर रहा है; या जिसमें योगी लोग ध्यान द्वारा रमण करते हैं, क्षण-क्षण प्रकट वही भगवान् राम का नाम है। आठों वसुओं में जो व्यक्त होता है, वही वासुदेव नाम वाला भगवान् है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और आठवां आत्मा; यही आठ वसु जो सर्वत्र संसार को ढांक रहे हैं या संसार में छा रहे

हैं तथा वेदों में कहे गये हैं, सब शरीरों में बस रहे हैं, इन सब में जो क्षण-क्षण व्यक्त या प्रकट होकर ज्ञान विज्ञान रूप से लीला कर रहा है, वही वासुदेव भगवान् है। इसी के ही सब गुण संसार भर में प्रसिद्ध हैं। उसी के इस नाम से भी सब में इसी का चिन्तन, स्मरण करने से सब बन्धन राग, द्वेष, मान, मोह, अविद्या आदि टल सकते हैं। यही सब भगवान् का स्मरण, जप द्वारा ग्रन्थों में कहा गया है। जब एक ही सर्वत्र खेल रहा है तो राग-द्वेषादि किससे करना ? इसी प्रकार वेदों में ऊँ अक्षर का भी अर्थ भावना के लिये उपनिषदों में प्रकट है। हरि, हर, शिव आदि नाम भी अपने-अपने अर्थ रखते हैं। संस्कृत के ये शब्द अपने-अपने अर्थ के अनुसार ही भगवान् के नाम हैं तथा उन्हीं के गुण का बखान करते हैं।

पद्यार्थ :- जो भी जीव दृष्टि में आता है, कीट, पतंग, पशु, पक्षी से लेकर मनुष्य पर्यन्त, उन सब में समझने का ज्ञान या चेतन तत्त्व (समझ स्वरूप) हमें समान रूप से दीखता है; तभी जीव जानता है, तभी कुछ करता है। समझने की अवस्था या दशा में वह शुद्ध चेतन रूप ही है। यह सब स्थानों पर सब जीवों में बसा है। समझे बिना कुछ भी करने को नहीं आता। इसलिये प्रथम समझ रूप से चेतन ही सब स्थानों पर बसा बैठा है। उस के साथ उसी की एक माया नाम वाली शक्ति उसके पीछे-पीछे खेल करती घूमती है। वह क्षण-क्षण इसी ज्ञान को नया-नया प्रकट करती हुई, जैसा ज्ञान वैसा ही उसके पीछे कर्म चक्र रचा देती है। यह सत्य ऋषियों ने ध्यान में प्रकट

देखा। आप भी ध्यान में ही इसे पाओगे। यदि इस सत्य को आप पा गये तो अपना या पराया फिर आप किस को देखोगे ? केवल इसी चेतन और उसके साथ बसी माया को ही सब को चलाते, घुमाते, खेल रचाते पहचानोगे। तब सब राग, द्वेष आदि बन्धन स्वयं किसी के लिये भी नहीं रहेंगे। परन्तु जब तक सत्य, ध्यान में अभी प्रकट नहीं दीखता तब तक ऐसी श्रद्धा मन में अवश्य रखनी कि यही माया प्रथम मित्र, वैरी, शुभ, अशुभ आदि की कैसी भी ज्ञान रूप दृष्टि बनाती है और पुनः कई एक प्रकार के काम, क्रोध आदि विकारों के रूप में जीव के मन को जन्माती है। इन्हीं विकारों के साथ ही कई एक प्रकार के कर्मों में प्रेरित करती है और तब कुछ-का-कुछ खेल रच कर दिखलाती है, जिस में सब प्रकार के कर्म तथा लड़ाई झगड़ा आदि सब संसार है। उस चेतन की शक्ति को जानकर अब साधक पुरुष का यही कर्तव्य होता है कि वह इसी चेतन पुरुष भगवान् के गुण जो कि माया के दोषों के विपरीत हैं उन्हें अपने में धारण करके स्वयं भी चेतन रूप से स्थित होकर इस माया के जाल से मुक्त होने का यत्न करे। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर भगवान् के गुण और मैत्री आदि बलों का निरूपण कर दिया गया है। काम के विपरीत वैराग्य, क्रोध के विपरीत क्षमा, लोभ के विपरीत सन्तोष ऐसे ही अनन्त दुर्गुण माया के और अनन्त गुण भगवान् के हैं। समय के अनुसार अपने आप का अध्ययन करने से स्वयं उनका ज्ञान होगा। कैसे भड़के मन को शान्त करना है ? भड़काना दोष माया का है तथा शमन

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

(शान्त) करना चेतने वाले पुरुष रूप में भगवान् का है।

इस प्रकार भगवान् के गुणों का ध्यान करके अपने में इन्हीं को बसाकर मनुष्य को मुक्ति पानी है। भगवान् का भजन उसी प्रकार से होगा जैसा वह था, वैसे को आप भजेंगे। सर्व गुण वाला वह था; उसके सब गुणों का ध्यान आप करेंगे। उसके गुणों के ध्यान से उसके गुण आप में भी किसी मात्रा में बसेंगे। उसके सब गुण बुद्धि द्वारा भलाई पहचान कर ही अपनाये जाते हैं। ये सब गुण संसार से छुड़ाने वाले हैं। उनसे उल्टे माया के दोष हैं। वे संसार में बांधने वाले हैं। राग, द्वेष, मान, मोह, संशय, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मत्सर आदि जैसे अनन्त माया के अवगुण या दोष हैं। वैसे ही बुद्धि द्वारा अपनी सदा की भलाई देखते हुए मनुष्य को अपने को जगा-जगा कर इन माया के दोषों के विपरीत इन्हीं दोषों को जीतने के लिये वैराग्य, क्षमा, नम्रता, विवेक, सत्य का निश्चय, त्याग, सहनशक्ति, तितिक्षा, तप, संतोष, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि बुद्धि तथा ज्ञान से भरपूर भगवान् के गुणों को अपने में धारण करने का यत्न करना है। इन सब गुणों के साथ यदि जीव संसार में भी हो तब भी सुखी और शान्त रहेगा। यदि संसार से परे हो तब भी सदा आनन्द में ही रहेगा।

दूजे के संग कहीं टक्कर मत हो, शमन करन को सीख,
मैत्री आदि संग मेल जो राखो, इक ईश पड़ेगा दीख।
स्वपर में, बस, वह इक राजे विघ्न रहन न पाय;
आत्मा औ परमात्मा सब में, सुख समाधि संग भाय।।

। २६२ ।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

गत कुछ एक निकट के पद्यों में यही सत्य दर्शाया गया कि पापों से बचना; पुनः अपने सुख की इच्छाओं को सीमित करने के नियमों में रहना, उन्हीं नियमों में स्वाध्याय अर्थात् अपने आप को समझने के लिए अपने में मन जोड़कर अपने सब रहन सहन आदि कर्मों में दृष्टि खोलना और अपने में होने वाला भला बुरा पहचानना; पुनः इसी से अपनी शुद्धि का मार्ग खुलेगा। जब अपने मन के उद्वेग (जोश) दूसरों के बर्ताव या व्यवहार के कारण से समझ में पड़ें तो बाहर संसार रूप में विस्तृत इसी चेतन और उसकी माया शक्ति को पहचानने में भी मन को जोड़ना, इसी योग द्वारा सब नाच नचाने, खेल खिलाने वाला एक ही तत्त्व ईश्वर रूप से पहचान कर दूसरों की वैरी आदि के भाव से उत्पन्न होने वाली दृष्टि से बनने वाले या उत्पन्न होने वाले सब मिथ्या मन के भाव तथा बुद्धि के निर्णय और काम, क्रोध आदि उद्वेग शान्त करना, दूसरे जो कुछ भी करते हैं, उन सब में उत्तरदायी महाशक्ति रूप से माया ही है; इसमें पुरुष या कोई भी जीव तो निमित्त मात्र ही है। ऐसा ज्ञान उपजा कर उनके साथ जो भी टक्कर या वैर विद्रोह का भाव बने उसे अपने में ही शान्त करना, दूसरे से उलझने के लिए नहीं बढ़ना। इसी सब भाव को अपने में रखता हुआ यह पद्य बताता है कि :-

पद्यार्थ :- जहाँ कहीं संसार में दूसरों में रहते तथा व्यवहार करते हुए दूसरा कोई हमारे दुःख को उपजाने से अपराधी जैसा प्रतीत होता है, वहाँ अपने भड़कने वाले मन

को दूसरे के लिये उल्टा सीधा बहुत कुछ सोचने के लिये ढीला नहीं छोड़ना चाहिये; प्रत्युत् (बल्कि) उसे अपने में शान्त करने के पक्ष में ही अपनी उत्तम दृष्टि और उत्तम संकल्प और मन के उत्तम भावों को बनाना या बनाने का यत्न करते हुए वैसा अभ्यास करना चाहिए। यही भगवान् का बल है जिससे कि कोई भी जन वैरी नहीं होता। प्रत्युत् (बल्कि) सब के सुख में सुखी होकर, उन का भी भला चाहने और करने में सभी उनके मित्र जैसे ही हैं; ऐसे हमें भी अपना मन उन्हीं के दृष्टान्त से साधना है। जब उन दूसरे अपराधी समझे जाने वालों के भी सुख में आप सुखी होंगे तब उनमें भी आपको अपना मन जोड़ने और उनके सत्य को समझने में सहायता मिलेगी। वे क्यों वैरी जैसे बनते हैं, इसका भी आपको ज्ञान हो जायेगा। बिना इस मैत्री बल के अपराधी व्यक्ति दृष्टि में नहीं बसाया जा सकता। बिना दृष्टि में बसाये उसमें सत्य समझने के लिये मन भी नहीं जोड़ा जा सकता। मन जोड़ा जायेगा तो वह वास्तव (असलीयत) में 'वैसा वैरी जैसा क्यों है', इसका उत्तर स्पष्ट मिल जायेगा। जैसे कोई किसी एक सुख की या मान की तृष्णा से इतना जकड़ा हुआ है कि अन्धे व्यक्ति के समान अपनी भविष्य की भलाई भी सोचे बिना उस तृष्णा की पूर्ति में लगा रहता है। जब वह नशेबाज या उन्मत्त पुरुष के समान ही है तो उसमें समझ द्वारा कर्म करने की शक्ति ही नहीं, तो ऐसा पुरुष अपने ही रास्ते चलने के लिये बाध्य (लाचार) है। उससे आप कुछ भी अच्छे की क्या आशा कर सकते हो। उससे कुछ अच्छा

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

बन ही नहीं सकता। परन्तु यदि उसने आपको भी बुरे मार्ग पर धकेल दिया तो यह बहुत ही बुरा होगा। आप बचो, उसके लिये उसकी कमजोरी की छूट रहने दो। अपना बचाव आप जरूर करो। यही सब ज्ञान द्वारा मुक्ति का मार्ग मिलना है। अपराधी समझे जाते व्यक्ति में तो घृणा या द्वेष, क्रोध आदि विकार होने से मन उसके अपराधों के बिना दूसरा कुछ भी मन के सम्मुख नहीं लाता। इससे तो क्रोध आदि ही अपने में भी भड़कते हैं। इससे तो अपना भी बुरा ही होगा। इन भड़कावों के साथ तो साधारण खाये पीये का भी सुख दब जाता है। मन अशान्त, चिड़चिड़ा होकर अपनों में भी शान्तिपूर्वक नहीं रह सकेगा। यदि थोड़ी भगवान् की स्मृति (याद) और तब पुनः उसके मैत्री, क्षमा, करुणा, उपेक्षा आदि बलों का ध्यान किया जाये और तब अपने में इन को भी धारण करने का अभ्यास करना आरम्भ किया जाये तो मन बिना कहीं भी उलझे सदा अपने में शान्ति, स्थिरता को पायेगा। तब सब व्यक्तियों के अपराधों में भी उन व्यक्तियों की बाध्यता (मजबूरी, लाचारी) का ज्ञान आपको होगा और उन पर दया भी आयेगी। तब उनके अपराध बालक के अपराधों के समान क्षमा करने का भाव भी बनने लगेगा और उनके दोषों और पापों की उपेक्षा (ध्यान में न बसाना) भी स्वयं होने लगेगी।

जब किसी के भी दोष, अपराध आदि पर दृष्टि (नज़र) नहीं गई तो पुनः सब में, अपने पराये में एक ही या समान ही वर्तमान, दीप्त, प्रकट होता हुआ चेतन या शुद्ध ज्ञान-ही-ज्ञान दीख पड़ेगा। तब आप मोक्ष मार्ग में

कोई भी विघ्न नहीं पायेंगे। जो आप का आत्मा (अपना आपा) है, वही सर्वव्यापक सब में समान रूप से झलकने लगेगा। जहाँ तक समझ का संसार है, वहाँ तक केवल एक ही ज्ञान या चेतन तत्त्व ही दृष्टि (नज़र) में आयेगा। भेदभाव करने वाला भड़कावों का जीवन और मन भी वहाँ नहीं रहेगा। केवल भड़के मन को शान्त करने के लिये भगवान् के गुण और बल सम्मुख रखने आवश्यक होंगे।

ऐसा सब साधन बनने पर ऐसे ज्ञानवान् उद्योगी पुरुष की सुख समाधि सदैव बनी रहेगी, उसे प्रकट प्रतीत होगी।

समाधि का अर्थ है मन का समाधान, इससे मन कहीं भी संशय आदि बन्धनों में नहीं पड़ेगा। अपने में स्थिर रहेगा। सदा एक रूप में ही टिकाव (स्थिरता) तथा एक रूप परमात्मा का ही सुख अनुभव करेगा।

इस पद्य का भाव समझने के लिए एक उदाहरण को ध्यान में लाने के लिये यहाँ लिखा जाता है। यह एक घटना के रूप में है। कोई एक व्यक्ति कोयलों की धधकती अंगीठी पर दूध या चाय जैसी किसी वस्तु को उबाल रहा था और आप स्वयं इधर-उधर के कार्य में लगा था। अंगीठी बाहर हवा में धरी थी। अचानक उसके ऊपर रखी चाय या दूध में उबाल आ गया और वह थोड़ा आग में गिरा कि उसकी आवाज से उस महाशय ने जान लिया कि उबाल आ गया है। उसने उस वस्तु को आग में गिरने से बचाने के लिए झटपट बिना सोचे समझे किसी प्रकार से नीचे उतार कर तो रख दिया परन्तु जल्दबाज़ी में उसकी

उंगली का जोड़, अंगीठी जो तप रही थी, उसके साथ छू गया। उसकी बड़ी तीव्र वेदना से विक्षिप्त तथा क्षुब्ध उस व्यक्ति ने बिना कुछ विचारे उस अंगीठी को दुःख से, द्वेष और क्रोध में खड़ाऊँ पहने पाँव से ठोकर मार कर दूर पटक दिया और साथ ही क्रोध में यह शब्द बोला 'साली! मेरी उंगली फूंक दी'। इस सब को कोई दूसरा भी देख रहा था। देखने वाले व्यक्ति की यह दृश्य देखकर हँसी फूट पड़ी और उसने उसका नाम लेकर कहा 'कहो जी ! इस अंगीठी बेचारी ने क्या अपराध कर दिया' ? तब वह महाशय बोले, 'साली ने मेरी उंगली फूंक दी', ऐसे कहते-कहते आप स्वयं भी हँसने लगे। तब दूसरे ने कहा 'आप ने भी इसे खूब दण्ड दिया'। यह है दृष्टान्त : इस उदाहरण से हमने अपने आपको निश्चय में लाना है कि हम भी अपने में कैसे हैं ?

जब किसी पत्थर से रास्ता चलता हुआ कोई प्राणी चोट खाता है तो उसे उस दुःख में द्वेष और क्रोध तो आते ही हैं, उससे बुद्धि भी भड़क जाती है; मन भी मिथ्या विकार युक्त होता है। ऐसी अवस्था में पत्थर को तो क्या दण्ड देंगे, बड़ा भारी है; हटाया भी नहीं जा सकता। परन्तु आगे के लिये बचकर निकल जाने के लिए अवश्य सीख सकते हैं। ऐसे ही कहीं अपने लोभ या सुख की कल्पना में खोये-खोये काम करने की आदत न बने रहने देने के लिये भी यत्न कर सकते हैं। परन्तु दूसरा यदि कुछ नहीं कर सकता तो उससे कुछ आशा न रखना।

यम, नियमों से बाहिर से काफी फुरसत पावे मन,
जो सुस्ती में समय न बीते, बैठे स्थिर कर तन।
बहिः बहु दृष्टि, संशय, इच्छा, क्रोध से मन को बचाय;
तृष्णा का जो कछु दुःख सहले, स्थिर सुख आसन पाय।।
। २६३ ।

गत पद्यों के अर्थ को साथ लेकर यह पद्य साधन की सम्पूर्णता के लिये प्रथम ध्यान द्वारा अन्तिम सत्य पाने और अन्तिम फल पाने के लिए दृढ़ आसन करने की वार्ता को बतलाता है।

पद्यार्थ :- हिंसा आदि पापों की टाल तथा उनका त्याग करता हुआ अपने आपको तथा अपने मन को संसार में ही भटकाने वाली अशुद्धि या अपवित्रता से सुरक्षित रखने के लिए पवित्रता के नियमों में रहने वाला मनुष्य पर्याप्त (काफी) मात्रा में संसार की उलझन से छुट्टी (मुक्ति) पा जायेगा। यही दो प्रकार का यम-नियमों का आश्रयण (आश्रय लेना) है।

अब यदि मनुष्य संसार की उलझन से बचने पर बहुत कुछ अवकाश को प्राप्त हो गया (फुरसत पा गया) तो अब उसे केवल खाली बैठे-बैठे या लेटे-लेटे या केवल दूसरों की व्यर्थ संगतादि में ही समय न बिता कर एकान्त में बैठने की सूझे; और वहाँ भी ढीला या इधर उधर हिलता-जुलता या चेष्टायें करता हुआ न बैठकर शरीर सीधा स्थिर करके बैठने के ही यत्न में लग जाये तो वही मनुष्य आगे ध्यान में स्थिर हो सकेगा तथा ध्यान में स्थिरता प्राप्त करने की योग्यता पायेगा। तन (शरीर) को स्थिर करके बैठने का

अभ्यास करना चाहिये। जब मनुष्य तन स्थिर करके कुछ समय व्यतीत करने लग जाएगा तो मन पर दृष्टि पड़ेगी। तब मन बाहर की कई एक प्रकार की दृष्टियाँ (नज़रें) बनाता दीखेगा। कहीं अपने सुख की, कहीं अपने दुःख की, कहीं दूसरों के बारे में कई एक प्रकार की संस्कारों के वशीभूत हुआ-हुआ व्यर्थ की ही दृष्टियाँ बनाता हुआ दीखेगा। खाली तो मन की बैठने की आदत नहीं। खाली मन में अविद्या का अन्धकार छा जाता है। इससे बचने के लिए मन संस्कार जगा-जगा कर कुछ का कुछ दृष्टि (नज़र) में लाकर, ज्ञान को बनाये रख कर जीवन का भार ढोता रहता है। आप इन दृष्टियों के मिथ्या जाल को त्यागते हुए उत्तम दृष्टियाँ बनायें। अपनी कल्याण की दृष्टियों को याद करते हुए मन के दुःख से तथा मिथ्या दृष्टियों से बचते जायें, या केवल मन की दृष्टियों को व्यर्थ समझ कर टालते जायें। और भगवान् के कुछ गुणों और बलों के नाम का स्मरण करते हुए उन्हीं के अर्थ (बलों और गुणों के नामों के अर्थ) का मन में ध्यान करते हुए, अपने में उनका होना या न होना; पुनः मन के न चाहने पर भी उनको उपजाने का जैसा भी उद्योग बन पाये, करते-करते तन को स्थिर रख कर कुछ समय व्यतीत कर ही दें।

जैसा मिथ्या दृष्टियों को शान्त करने के लिए ऊपर कहा, उसी प्रकार कई एक प्रकार के संशयों (शक-शुभा) को भी वैसे ही शान्त करने का अभ्यास करें। यदि दृष्टि और संशय पुनः-पुनः फिर भी बनते ही जाएं तो उनका कारण समझने का यत्न करके जो कोई संसार का बन्धन

उन्हें जन्मा रहा है, उसको भी जानकर, विवेक चिन्तन करके, उन के सत्य को पहचान कर, इन सब दृष्टि, संशय आदि के मिथ्या फल रूप प्रलोभन को मन से हटाने का यत्न करते हुए इन्हें (दृष्टि, संशयादि सब को) टालते जायें। इसी प्रकार यदि कोई पुराने सांसारिक सुखों की इच्छा (काम) आदि भी मन में चक्र लगाये और मन को घेरे तथा पूरा करने के लिए उकसाये तो उसे भी वैसे ही उन्हीं के समान समझ कर टालता जाये। वैसे ही क्रोध को भी टाले और पुनः यदि आसन पर निद्रा आदि की तृष्णा आये तो उसको टालने के दुःख को भी सह ले। निद्रा छा जाती है; अपना मीठा रूप दिखलाती है। उसका सुख स्वरूप समझने में आता है। जीव उस सुख की तृष्णा से अपने को उस निद्रा की मिठास के सम्मुख शिथिल (ढीला) कर देता है। इसके परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने ध्यान को खोकर निद्रा में समा जाता है। जब उठता है तो संसार में जिस तिस की तृष्णा उसे फिर घेर लेती है। यदि उसका सामना करे तो मन को थोड़ा जो कष्ट होता है उस सब कष्ट या दुःख को यदि शान्त मन द्वारा सहन कर ले तो पहले दुःख वाला आसन भी एक दिन स्थिर (टिकाऊ) हो जायेगा और उस आसन पर बैठे मनुष्य को सुख भी होगा।

निद्रा के बारे में जो कुछ कहा गया यहाँ विशेष यह जानने का है कि निद्रा को अपना अत्यन्त वैरी भी नहीं समझना; परन्तु यह भी नहीं कि जब-जब यह सिर पर सवार हो तभी-तभी इसके सामने ढीले पड़ जाना। क्रम से

卐卐

इस निद्रा का सामना करने का समय बढ़ाते जाना। यह सही है कि निद्रा के साथ लड़ने से मन पुनः बहुत से संशय और भ्रम भी उत्पन्न कर सकता है। परन्तु ज्ञान द्वारा तथा विचार उत्पन्न करके उन सब को दूर करने का यत्न भी रखे। यदि कभी मन ऐसा ही संशय या भ्रम रचे कि निद्रा से लड़ने से 'कहीं निद्रा फिर बिल्कुल समाप्त ही न हो जाये' ? या 'कहीं पुनः रात भर जागना ही न पड़े'? पुनः 'मस्तक ही न बिगड़ जाये'? 'निद्रा के पूरा न होने पर कहीं स्वास्थ्य (तन्दुरुस्ती) ही न बिगड़ जाये' ? इत्यादि-इत्यादि बहुत प्रकार से मन निद्रा के अपने समय का सुख टलने पर संशय या भ्रम के जाल को खड़ा करके चिड़चिड़ापन भी उत्पन्न कर देता है और मनुष्य को कभी भी इस निद्रा में स्वतन्त्रता से कार्य नहीं करने देता। ऐसी सब अवस्थाओं में उन दूसरों को भी देखना या ध्यान में लाना चाहिये जो कि निद्रा को टाल कर या रात भर जागते रह कर भी काम करते हैं। वैसे ही कभी जन्माष्टमी को आधी रात तक या शिवरात्रि को सारी रात भर भी निद्रा टाल कर देख लेना कि मन की पीछे की चर्चा में लायी गई शंकाओं तथा भय, भ्रम आदि में कितना सत्य है? ऋषियों ने भोजन को त्याग कर तथा निद्रा तक को भी टाल कर जागरण करके देख रखा है कि साधन के मार्ग पर चलने के लिये उचित मात्रा में तथा उचित प्रकार से मन को शान्त रखते-रखते इस निद्रा को भी थोड़ा जीतने का अभ्यास करना है। धीरे-धीरे निद्रा को टालने का समय

बढ़ाते हुए एक दिन इस से स्वतन्त्रता भी पानी है। इसकी दासता से मुक्ति भी पानी है।

इस पै ध्यान जो दुःख का ही साजे, देखे दुःख का मूल,
मिटे जो भव औ विभव की तृष्णा, सकल मिटा ले शूल।
क्षण-क्षण दुःख का टालना सीखे, प्रतिदिन करे अभ्यास
मन, बुद्धि, जीवन शुद्ध राखे, नित्य सुख में करे निवास।।

। २६४ ।

गत पद्य में कहा गया है कि उद्योगी पुरुष दृष्टि, संशय, इच्छा या काम और क्रोध आदि ध्यान के विघ्नों को हटा कर अपना आसन स्थिर और सुख वाला साधे। अब यह पद्य उस आसन के स्थिर होने पर अपने अन्तिम भले के ध्यान को साधने का अभ्यास करने की वार्ता को बतलाता है। यह ध्यान दुःख और उसके कारण आदि का ही है।

पद्यार्थ :- जब मनुष्य बाहर के प्रतिदिन के स्वार्थ के, मन को बांधने वाले दृष्टि, संशय, काम (इच्छा) या क्रोध और बिना समय की निद्रा आदि के विकार से छुट्टी (छुटकारा) पा ले तो अब प्रथम दुःख का ही ध्यान करे। क्योंकि दुःख ही मनुष्य को अपना अनुभव करवा कर सांसारिक सुखों की स्मृति द्वारा इस उस कर्म या सांसारिक प्राणी और पदार्थों से बाँधता है। बिना आदत के यदि आप आसन पर बैठेंगे और जागते रहने का प्रयास (यत्न) करेंगे तो आप का आदत वाला मन अवश्य दुःखी होगा। प्रायः जीव की दुःख से झटपट, बिना अधिक सोचे विचारे भागने की आदत है। जीव झट सुख की याद करके

जहाँ सुख है, उसी की सोचता है और उधर ही भाग लेता है। जिस सुख का सहारा दुःख से बचने के लिये यह प्राणी शीघ्रता से लेता है वह चाहे परिणाम (नतीज़ा) में अधिक दुःख देने वाला भी क्यों न हो; वह शीघ्र दुःख टालने की ही सोचता है। जो दुःख सिर पर चढ़ा बैठा है उसे सहन करके, उसके सत्य को पहचान कर जैसे कि इससे अन्तिम भलाई के लिये छुटकारा मिले, ऐसा सब विचार दुःख में अधीर जन को नहीं उपज पाता।

अब यहाँ इस पद्य में उसी दुःख को ही दृष्टि के सम्मुख रखकर थोड़ा समझने, पहचानने का यत्न करने की वार्ता कही गई है और दुःख का कारण (जड़) समझने या पहचानने के लिये उसी में मन के जोड़ने की चर्चा की गई है। इस प्रकार दुःख में मन जोड़ने पर यही सत्य जानने में आयेगा कि या तो संसार में ही होने की तृष्णा इस दुःख की जड़ है या पुनः संसार से टल कर निद्रा आदि (आदि पद से नशा या मादक द्रव्यों का सेवन भी समझना) के सुख की तृष्णा ही दुःख दिखा कर इन्हीं दो के आदत वाले स्थानों की खींच करती है। इन्हीं दोनों को मिटाने के लिये मनुष्य शरीर के धारण से अधिक शेष सब संसार की मिथ्या तृष्णा को आसन पर स्मृति, या होश ठिकाने रखकर सब में रहते हुए भी धैर्य से टालते रहने का अभ्यास करता रहे। इन दोनों प्रकार की तृष्णा को जीतने पर मनुष्य का सब शूल मिट जाएगा। शूल शब्द का यही तात्पर्य है कि प्राणी अपने समय के दुःख को बिना सोचे विचारे अपने पुराने अभ्यास (आदतों) के अनुसार मिटाने के लिये दौड़ता है। परन्तु वैसे तो उस दुःख को

मिटाने का समय रहा नहीं होता, उससे तृष्णा और भी बढ़ और भड़क कर मनुष्य का शूल बनी रहती है। जिससे मिटती दीखती है उसी से ही और भी अधिक दुःखी करने वाली बनती जाती है। अब इस तृष्णा को यदि बिना आदत के अनुसार पूरा करने के, आसन पर या अपने प्रत्येक कर्म में लगे-लगे स्मृति या होश के साथ और मन की जागृति या उपस्थिति रख कर टालते रहने का यत्न बनाये रखा जाए तो इस तृष्णा के दुःख का शूल सदा के लिये मिट जायेगा। मन को जागृत करने के लिये विचार जगाता जाये। विचार द्वारा तृष्णा को अनुचित रूप से पूरा करते रहने के दुष्परिणाम को दृष्टि (निगाह) में लाये तथा रखे। उससे दुःख को अधिक बढ़ता हुआ पहचाने। तब धैर्य भी बनेगा। अन्त में इसका दुःख आसन पर सहन करने से ही टलेगा। मनुष्य की यदि दो प्रकार की तृष्णा न रही तो उसे अपनी आत्मा में ही स्थायी (सदा बने रहने वाला) टिकाव प्राप्त होगा। उस मुक्त आत्मा का सुख सब दुःखों की समाप्ति करने वाला होगा।

इन्हीं दो प्रकार की तृष्णा को मन में भड़कती देखते हुए यदि क्षण-क्षण टालने का अभ्यास होने में आ गया, जो कि अभ्यास करने से बनेगा ही, तभी अपने में यह समझ पड़ेगी कि कैसे खुजली हो रही है और बिना खुरच कर मिटाने से केवल सहन द्वारा भी इसे मिटाया जा सकता है। इससे (ना खुरकने से) रोग भी नहीं बढ़ेगा। इसी प्रकार तृष्णा भी बिना उसकी दासता के केवल सहन करने से ही मिटती है। इसके लिये अपने मन, बुद्धि और बाहर के कर्म शुद्ध रखने की आवश्यकता है। मन में मिथ्या सुख

को आदत के रास्ते से पूरा करने का संकल्प न करना तथा वैसे ही बुद्धि द्वारा उसी तृष्णा के सुख को लेने या बनाये रखने की आवश्यकता भी न समझना अर्थात् बुद्धि ऐसा निश्चय या निर्णय न करे कि इस तृष्णा के सुख के बिना जीवन ही कठिन है या कि दुःख मिट ही नहीं सकता। यही सब मन और बुद्धि को शुद्ध रखना है।

इसी प्रकार जीवन भी शुद्ध रखे अर्थात् बिना विचारे कहीं इसी तृष्णा का सुख लेने में ही जीवन व्यतीत न करे। थोड़ा संयम और नियम का भी अभ्यास जीवन में रखे। बुराइयों को त्यागता हुआ धर्म के मार्ग का जीवन अपनाये। यही जीवन शुद्धि है। विषय सुखों की दासता और धर्म के विपरीत कर्मों वाला जीवन अशुद्ध है। जो व्यक्ति मन, बुद्धि और जीवन को सब धर्म से विपरीत कर्मों से बचाता हुआ चलेगा उसे अपने मन के सब विकार, भाव तथा बन्धन भी दीखने लगेंगे। जो इन सब को त्यागने के लिये यत्न भी करता रहा, उसे अपना क्षण-क्षण बदलता हुआ मन भी दीखने लगेगा। जब वह क्षण-क्षण इन्हीं विकारों और तृष्णा के सुख के भावों को देखता हुआ क्षण-क्षण टालने का भाव रख कर साक्षी रूप से इन सबको त्यागने में समर्थ होगा तो उसे अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा का नित्य या स्थायी सुख भी प्राप्त होगा। तब वह सदा संतुष्ट रहेगा। बस ! बुद्धिमान् जन को इसी नित्य सुख में निवास करना है। अनित्य संसार के तृष्णा के दुःखदायी सुखों से मुक्ति पानी है।

ॐ इति योगाङ्ग निरूपण वर्ग ॐ

卐 अथ संस्कार (वासना) क्षय वर्ग 卐

प्रत्यभिज्ञायें ही भव को रचायें,
जिन को निखिल जनावे संस्कार।
यही दृष्टि को बनाके 'यही वह' ;
जने काम, बने भाव और विकार।। ।२६५।

गत पद्य में यह दर्शाया गया कि जब एकान्त में अपने स्थिर आसन पर या अन्य समय भी सांसारिक, बाह्य सुख के सहारे प्राणी और पदार्थों में ही समय व्यतीत करने की आदत उन्हीं की ही तृष्णा रूप से अपना तनाव आप पर डाले तो आप को उस तृष्णा के तनाव का दबाव दुःख रूप से अनुभव में आयेगा। इसमें साधारण जन या तो उन्हीं सांसारिक प्राणी या पदार्थों की शरण लेकर उस तृष्णा के दबाव के दुःख को टाल कर क्षण भर के लिये सुखी होना चाहेगा या पुनः इस दुःख का सामना करने में दुर्बल मन हिचकिचाहट के साथ इस दुःख से भागने वाला, जब निद्रा या आलस्य सुस्ती फैलाना आरम्भ करेगा तो इसी तमोगुण के सुख की शरण लेकर तृष्णा के तनाव के दुःख को टालना चाहेगा। इन दोनों पक्षों में दुःख सहन करने में अधीरता ही हेतु है। गत पद्य में इस दुःख में धीरता रख कर इस तृष्णा के दुष्परिणामों को बोध द्वारा प्रत्यक्ष ध्यान में समझ कर अपने मन की सम्भाल करना और क्षण-क्षण दुःख को टालते-टालते समय व्यतीत करना, ऐसा सुझाव दिया गया था।

इतना ही नहीं, अब यह पद्य यह भी दर्शा रहा है कि

सत्य ज्ञान को उपजा कर यह प्रकट प्रत्यक्ष ज्ञान होगा कि जिन प्राणी और पदार्थों को बाह्य स्वार्थ वाला जन सत्य (सच्चे) समझ कर, टिके बने रहने वाले जानकर उनमें लिप्त रहता है, वे सब प्राणी और पदार्थ भी किसी एक दृष्टि या नज़र में ही आये हुए, मन में बसाये रखे हुए अपने को भ्रान्ति में लिये बैठे हैं। इस पद्य में दर्शायी विवेक की दिशा से चलकर उद्योगी, तपस्वी साधक को यह भी प्रकट प्रत्यक्ष ज्ञान होगा कि जो हमें लुभाने वाले हैं, वे कहीं भी नहीं हैं; वे केवल मन में रचे हुए स्वप्न के पदार्थों के समान ही मिथ्या हैं। ऐसा समझने पर मन उन सब बान्धने वाले प्राणी और पदार्थों के संस्कार भी त्याग देगा। इसी सत्य को यह पद्य प्रकट करता है।

पद्यार्थ :- प्रत्यभिज्ञा नाम वाला सत्य ही सब को रचने वाला है। 'भव' शब्द का यही अर्थ है कि संसार में कुछ भी होना। यही सब मित्र, वैरी या जो कुछ भी जीव होता है, उसी का नाम भव (होना) है। अकेले में तो मन संतुष्ट होता नहीं; एक दूसरे के सामने कुछ भी होने में मन को लगाये रखने का खेल-सा बना रहता है। जैसा कोई होता है उसी के ढंग की उस की अपनी संतुष्टि है। कहीं पिता, कहीं पुत्र इत्यादि बहुत प्रकार के वैसे ही इनके संग के भाव भी होते हैं। इसी में जीव को अपने बने या बसे रहने का विश्वास बना रहता है। यही सब 'होना' अकेले में अनुभव में नहीं आता। पुनः जीव इस संसार में ही भागता है और कुछ भी होता है। यही सब 'भव' है और इसी की तृष्णा संसार में भटकाती है। उन प्रत्यभिज्ञाओं को तो

केवल हमारे संस्कार ही रचाते हैं। यही हमारे ज्ञान में बैठे हुए संस्कार जो कि हमारे ज्ञान में बसे रहने के कारण 'वासना' शब्द द्वारा कहे जाते हैं; कभी-की देखी सुनी वस्तु को 'यह वही है', ऐसी 'प्रत्यभिज्ञा' रूप दृष्टि (नज़र) बनाकर या जनाकर हमें पहले के समान ही बान्धते हैं अर्थात् उन्हीं पुरानी वस्तुओं के सहारे बालपन आदि में जो उपयोग की बुद्धि के कारण काम या इच्छा होती थी उसे ही जनाते हैं। पुनः उसी में इच्छा पूर्ति करने के भाव को रच देते हैं। इच्छा पूरी हो या अधूरी, जैसी कुछ भी हो, उससे मन में अति हर्ष या क्रोध आदि विकारों को उत्पन्न करके संस्कार जीव को इसी संसार में ही बान्धे रखते हैं। 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अर्थ है कि पहले कभी भी अनुभव किये पदार्थ की ही स्मृति (याद) किन्हीं सामने पड़ने वाली वस्तुओं में करना कि 'यह वही है', अर्थात् जिसे हमने पहले कभी अनुभव किया था। यह जो हमारे सामने है, यह वही है। यह शास्त्र के अनुसार 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अर्थ है।

अब जिन प्राणी और पदार्थों में हमें कभी उस समय के अनुसार सुख देने वाले होने के स्वरूप में दृष्टि बनी थी या अपने प्रिय की या चाहने की वस्तु की दृष्टि का अनुभव हुआ था, उन्हीं की पुनः-पुनः सामने पड़ने वालों में, परन्तु समय के अनुसार बदले हुओं में भी पुनः वही दृष्टि (नज़र) करना या बनाना कि 'ये वही सुख देने वाले या प्रिय (प्यारे) हैं', ये प्रत्यभिज्ञायें ही पुराने संस्कारों के अनुसार जन्म-जन्म कर मनुष्य को किन्हीं प्राणियों के देहों में और वैसे ही भोग पदार्थों में या वैसे ही कभी दुःख देने वालों में

卐卐

भी दृष्टियां बना-बना कर जीव को संसार में ही कई एक कर्मों के चक्र में डाले-डाले भटकाती रहती हैं। जीव इन्हीं में बहता-बहता संसार में ही बने रहना चाहता है क्योंकि इनके बिना उसे अपने आप का नाश दीखता है। यद्यपि कभी समय के अनुसार अपने देह और मन की अवस्था में, किसी देह (प्राणी) में या पदार्थों में, जो कुछ भी कहीं अनुभव में आते हैं, बड़ी शीघ्रता से बदलने वाले संसार में देह और उसकी अवस्थायें एक समान रूप से किसी को भी अनुभव में नहीं आ सकती। परन्तु वही पुराने संस्कार तथा तृष्णा के वश से अपना सुख का काम (इच्छा) उन्हीं पुराने संस्कारों के अनुसार अनुभव किये हुओं को अपने मन में तृष्णा के कारण से ही बसे बैठे देखकर बाहर दृष्टि बना कर, कुछ एक देहों में और पदार्थों में 'यह वही है', 'ये वही हैं', जिन्होंने हमें सुख या दुःख दिया था, ऐसा समझ कर काम, क्रोध, राग, द्वेष और सारे संसार के बन्धनों में विविध कर्मों द्वारा बन्धे हैं और पुनः उन्हीं कर्मों का फल, केवल इसी संसार में बने रहने के भाव के कारण उल्टा सीधा दुःख रूप सब देखते हैं। बोध ने मनुष्य का यही सब चक्षु (आँख) खोल कर उसे सत्य द्वारा यह संसार दुःख रूप दिखलाकर उससे पार जाने की प्रेरणा करनी है और अन्त में नाश या उच्छेद रहित (अटूट) ज्ञान में प्रतिष्ठित करना है जहाँ कि सब दुःखों की समाप्ति सदा के लिए हो जाती है और सब शंका-भय आदि निवृत्त हो जाते हैं।

मनुष्य संसार का त्याग होने पर या उससे छुटकारा प्राप्त होने पर इस शंका या भय से भी दुःखी होता है कि

संसार न रहने पर तो हम भी पुनः न रहेंगे। हमारा भी जैसे विनाश हो जायेगा। इन सब शंकाओं और भय आदि का समाधान, बोध चक्षु खुलने पर तथा व्यापक जीवन रूप परमात्मा के साथ-साथ सब बन्धनों से परे शुद्ध आत्मा का अनुभव होने पर और उसमें सब दुःख टलने पर, पूर्णतया ही हो जायेगा। कहीं लेशमात्र (थोड़ी) भी शंका या वैसा विनाश का भय नहीं होगा। यह सब तब तक ही है जब तक कि उद्योग से आत्मा के मुक्त स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ।

कभी हुये को ही देखे 'ये ही वह',
मुक्ति, सहज समाधि हो न पाय।
यद्यपि कभी का रहे न कभी कोये;
तो भी रंगे, मोही मन को 'वह' जनाय।।
। २६६ ।

गत पद्य के भाव को ही स्पष्ट करता हुआ यह पद्य इन मिथ्या वस्तुओं के मोह को या राग को आत्मा में सहज स्थिरता (टिकाव) रूप समाधि (एकाग्रता की पूर्ण अवस्था) का विघ्न बताता हुआ इस वस्तु की नित्यता के मोह से छुटकारा (मुक्ति) पाने की प्रेरणा करता है।

पद्यार्थ :- इस पद्य का भाव वैसे तो प्रसंगवश गत पद्य के व्याख्यान में ही स्पष्ट हो चुका है परन्तु संक्षेप से यहाँ वस्तु की अनित्यता या मिथ्यापन (झूठा भाव) की युक्ति या तर्क यही बतलाया गया है कि जो कभी क्षण भर के लिये हुआ या समझ में पड़ा, पुनः-पुनः 'यह वही है', ऐसा यदि

कोई देखता रहे तो उसका ज्ञान इन वस्तुओं के मोह से मुक्त न होने के कारण शुद्ध रूप में तो कभी प्रकट अनुभव में आयेगा नहीं। क्योंकि जिन वस्तुओं के संस्कार ज्ञान के साथ मन में पड़े हैं उन्हीं से ही रंगा आत्मा का ज्ञान सदा बने रहने से आत्मा का शुद्ध रूप अपने आप में होने वाला मुक्त ज्ञान तो प्रत्यक्ष भासेगा नहीं, और जो वस्तुएँ, मनुष्य 'हैं' या 'बनी हुई हैं' या 'नित्य हैं' करके समझ रहा है यह सब उसके ज्ञान में ही बाह्य कभी के देखे, उन्हीं वस्तुओं के सुख या दुःख के कारण से ही अपना सत्त्व या अस्तित्व (हस्ती) बनाये बैठी हैं ? उनसे वह सुख पाने के लिये उन्हीं से रंगा मन उन्हीं के मोह के कारण 'वही है', 'वही है' की रट या माला मन में जपता रहता है। बालपन की मधुरता; यौवन का सुख या पूर्ण शक्तिशाली शरीर की अवस्था में जो कुछ उन वस्तुओं से मिला,वह समान रूप से कैसे बना रहेगा? मनुष्य यौवन के अतीत होने पर, वृद्ध होने पर भी 'मैं वही हूँ' तो नहीं छोड़ता और उन्हीं पदार्थों में सुख लेने की बालपन की भ्रान्ति से मुक्त भी नहीं हो पाता, इसलिये पहले के समान ही उनकी तृष्णा या राग भी नहीं छूटता। किसी समय का सुख मन को बान्धे-बान्धे उधर उन्हीं वस्तुओं में 'वही-वही' करवाता हुआ राग वाले और मोह वाले मन को जन्माता रहता है। जिसका उसे परिचय है 'वही वह' मेरी सुख वाली, सुख पाने पर मिलने वाली 'मैं' जिसको कि मैंने औरों को 'मैं सुखी हूँ' करके दिखाया है, 'मैं वह हूँ', इत्यादि करके जनाता है। यह सारी 'मैं' झूठी ही है।

सुख राग, दुःख द्वेष भरा (मन) स्राव,
बाल तिनके संग पावे 'मैं' का भाव।
अविद्या छा के इसे जैसे ही छिपाय;
बना रहने का मोह वही, वह को धाय।।
। २६७ ।

गत दो पद्यों में तो संसार के परिवर्तनशील (सदा एक जैसे न रहने वाले) सब प्राणी और पदार्थों में अपने सुख या दुःख के कारण 'यह वही है', ऐसी प्रत्यभिज्ञा रूप दृष्टि बनाकर अपने स्वार्थवश प्राणी संसार में ही बना रहना चाहता है, ऐसा कहा गया था। सुख को पाने के लिये और दुःख से बचने के लिये प्राणी संसार का ही मार्ग अपना कर स्वयं कुछ-न-कुछ उसी में ही होता रहता है, अपने आपमें नहीं रह पाता। अब इस पद्य में यह दर्शाया जा रहा है कि उसी सुख की मिठास से उसी के राग द्वारा और दुःख के कड़वेपन से उसके द्वेष वाली जो अपनी 'मैं' या 'मैं भाव' की धारा है, वह उसमें अपने आप बहती रहती है। यह 'मैं' या 'मैं भाव' कहीं भी एक रूप नहीं। केवल ज्ञान स्वरूप से ही अपनी 'मैं' भी भले एक रस समझी जाये परन्तु संसार में प्राणी और पदार्थों के संग वाली 'मैं' तो सदा समय के अनुसार ही होती है। यह अहंकार रूप मिथ्या आत्मा या अपना आपा वैसा ही है जैसे कि नदी की बहती धारा में कहीं कोई और दूसरे समय में कोई अन्य तरंग हो। बालक के जन्म से लेकर मरते समय तक कोई भी देह की स्थिति एक जैसी नहीं रहती, उसका मन भी एक जैसा जीवन भर नहीं रहता, ज्ञान या अनुभव भी तथा

भिन्न-भिन्न भाव भी बदलते रहते हैं, वैसे ही व्यवहार आदि भी समय के अनुसार बदलते रहते हैं। अतः इन्हीं सब के साथ वाली तथा सब इनके सहारे की 'मैं' भी एक जैसी कैसे रहेगी ? जो एक 'वही मैं' प्रतीत होती है कि 'मैं वही हूँ' वह या तो केवल ज्ञान स्वरूप आत्मा की है जो कि अपने ज्ञान स्वरूप से सदा रहता है या पुनः वही मिथ्या सांसारिक कामात्मा वाली; केवल काम को लेकर वही काम या इच्छा पूरी करने वाली पहले जैसी 'मैं' मनुष्य टिकी हुई प्रतीत करता है। परन्तु जब यह 'मैं', काम या इच्छा पूरी नहीं होती तो उसका सुख भी नहीं मिलता; सुख न मिलने पर वह 'मैं' भी दृष्टि में नहीं आती। तभी यह 'मैं' न मिलने पर जीव समझता है कि मेरा कहीं विनाश ही होने जा रहा है। 'मैं' को बनाये रखना सब चाहता है; बनाये रखने के लिये वही पुराने संस्कार जगाकर सुख पाने के लिये जीवन काल में भी और मरने के पश्चात् भी संसार के संग में ही आता है। आत्मा के ज्ञान स्वरूप का तो उसे अनुभव है नहीं; यही पुनः उस सुख के संग वाली 'मैं' सुख पाने पर पुरानी सुखवाली वही 'मैं' का अनुभव करके 'मैं बना हुआ हूँ', ऐसा जीव अनुभव करता है। परे का ज्ञान या चेतन रूप अपने आपे पर दृष्टि न होने या न पड़ने के कारण ही अपनी सांसारिक 'मैं' की दिशा में जीव लपकता है। यही संसार की 'मैं' पर्दे में पड़ जाने से इसी जीव को परेशानी भी प्रतीत होती है। यही अविद्या का पर्दा है कि 'मैं' की खबर न पड़नी क्योंकि 'मैं' के संग वाला सुख पर्दे में पड़ा है। अभी मिल नहीं रहा।

卐卐

समय ने छीन लिया। उसे पाने के लिये फिर से संसार में जाना पड़ता है। एकान्त में बैठे जन को भी जब वह सुख वाली 'मैं' न मिले तो पुनः उसी सुख की सामग्री का संग करने पर ही वह आदत वाली 'मैं' या 'अपना आपा' मिलता है; नहीं तो मन परेशान हो जाता है। यह संसार की 'मैं' का ही मोह है, इसीलिये सारे संसार का भी मोह है क्योंकि यह 'मैं' संसार में ही मिलेगी। इसी भाव को यह पद्य यूँ दर्शाता है कि:-

पद्यार्थ :- यह सारा जीवन का प्रवाह सुख के राग (प्रीति) और दुःख के द्वेष से भरा है। बालक ज्ञान को या बोध रूप सत्य ज्ञान को पाये बिना इन्हीं संसार के सुखों के साथ अपनी 'मैं' को गाँठे बैठा है। जब समय के अनुसार सुख नहीं मिलते तो उन सुखों के बिना इन्हीं से बन्धी 'मैं' भी छिप जाती है। यही अविद्या का पर्दा है कि अपना आपा (आत्मा) ढक जाता है। अपने आप का सदा बने रहने का मोह बड़ा बलवान् है। कोई भी कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होना चाहता। जब अपनी संसार वाली 'मैं' नहीं मिलती तो जीव तो इससे परेशानी मानता है, क्योंकि ज्ञानरूप वाली 'मैं' जानता नहीं। इसलिये संसार वाली 'मैं' के लिये ही दौड़ता है जिसको वह पहले से ही समझता है तथा बचपन से पाता भी आया है।

जैसे नशा पीने वाला व्यक्ति जब नशे की आदत में पड़ ही गया तो यदि उसे कभी नशे के बिना रहना पड़े या पड़ जाये तो उसकी नशे पीने की तृप्ति वाली 'मैं' या 'अपना आपा' खोया-खोया सा ही दीखता है। सब कुछ संसार में होते

हुए भी उसे नशे की दासता के कारण उस नशे की आदत वाले के लिये तृप्ति देने वाला कुछ भी नहीं होता। उसका सही या सब कुछ समझने, बूझने, पहचानने वाला ज्ञानरूप आत्मा भी इसके लिये न होने के समान ही है। इस नशे की आदत वाले का तो जो अपना आपा (मैं या आत्मा) समझ में बैठा हुआ है वह तो नशा पीने पर ही मिलेगा। नहीं तो न जाने वह कहाँ खोया हुआ-सा ही दीखता है ? नशे के सेवन बिना तथा नशे के अभाव (न होने) में इसी आत्मा के न दीखने की अवस्था में इसी के नाश की शंका सिर पर सवार होकर जीव को पुनः नशे के संस्कार जगाकर उसी की पूर्ति करने के साधन जुटाने की दिशा में ले जायेगी। परन्तु इसी नशे को यदि त्यागने का कष्ट तप रूप से कोई सहन करे वा कर ले तो एक दिन इस नशे के बिना वाला ज्ञान रूप आत्मा भी तो मिल ही जायेगा। ऐसे ही संसार के सब सुखों वाली 'मैं' की दासता भी इसी प्रकार छूट सकती है। शास्त्र के अनुसार इन सब सुखों को नशे के सुख के समान ही तुच्छ समझने का उद्योग रखना है। विचार द्वारा विवेक या सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा जन्मा कर अपने आपको सही मार्ग पर रखते-रखते एक अपनी सही या असली 'मैं' या ज्ञान रूप आत्मा सदा बने रहने वाली भी पहचाननी है जिससे कि उस नशे के समान ही हमें पुनः संसार के सुखों के संस्कार जगाकर उसी के मार्ग को खोजने के लिये संसार में ही जन्मना तथा मरना न पड़े। बस ! इसी झूठी 'मैं' से छुट्टी (मुक्ति) हुई कि सच्ची 'मैं' प्रकट भासेगी। जब तक झूठी तथा अतृप्त रूप में हमारी 'मैं' टिकी या बसी बैठी है तभी तक अविद्या का पर्दा है, यही अविद्या रूप में है।

जो नित-नित नव-नव देखे विज्ञान,
आगा पाछा क्यों देखे ? औ क्यों पड़े 'वह' की धार।
उसे चाहिए जो न 'वह' क्यों फिर वह देखे,'वह';
खो के 'मैं' का मोह वह जावे भव पार।। ।२६८।

गत पद्य में सब बन्धनों का हेतु इसी प्रत्यभिज्ञा को बतलाया कि जिन शरीरों (प्राणियों) को हमने अपना या पराया बना रखा है यद्यपि वह भी एक जैसे सदा नहीं रहते तथापि जिन पदार्थों को या भोगों की सामग्री को हमने अपना सुख देने वाला समझ रखा है उनमें हमारी जड़ बुद्धि वही किसी समय की सुख बुद्धि करके उन प्राणी और पदार्थों के सम्मुख पड़ने पर 'यह वही हैं' की प्रत्यभिज्ञा करके उन्हीं के वही या उसी सुख आदि की कामना करता हुआ उन्हीं में बन्धा-बन्धा उन्हीं की संसार वाली 'मैं' लिये-लिये मर जाता है और उन्हीं के लिये पुनः जन्मता है। इसी प्रकार जीवन काल में भी हर समय उन्ही प्राणी और पदार्थों में वही-वही बातें याद करता हुआ प्राणी अपने ध्यान विचार में भी सफल नहीं हो पाता क्योंकि मन तो एक समय एक ही ओर रहेगा। जब इन्हीं पुराने संस्कारों वाली संसार की ही यादें (स्मृतियां) बनाता रहा या करता रहा तो पुनः ध्यान में विचार द्वारा सत्य का ज्ञान या बोध पाकर इन बन्धनों के जाल के दुःखों से छूट कर केवल नित्य ज्ञान स्वरूप अपने आप (आत्मा) में कैसे सुख पायेगा ? जो कोई उद्योगी विचारशील थोड़ा ध्यान को उन्नत करके सत्य को पहचान कर इन शरीरों में या पदार्थों में 'वही है यह', ऐसा न समझता हुआ इनके या

अपने समय को पहचान कर विज्ञान या सत्त्व गुण स्वरूप भगवान् विष्णु (सर्वव्यापी) की ही नयी-नयी क्षण-क्षण होने वाली लीला को अपने में और सब में देखने में रमा रहा तो वही होने हवाने के संसार (भव) से पार उतर कर नित्य सुख शान्ति को पायेगा। हम सब प्रत्यक्ष या प्रकट यही दिन रात देखते हैं कि जन्म से लेकर मरने के समय तक कभी भी देह की एक जैसी स्थिति या अवस्था नहीं रही, नित-नित बदलती जाती है; बदलते-बदलते क्या-की-क्या हो जाती है। काले बाल पक कर सफेद हो जाते हैं; दान्त झड़ जाते हैं। शरीर में बल नहीं रहता। यदि यही जीवन का सत्य है तो इसमें क्षण-क्षण जो इसको बदल रहा है वह भी तो कोई सत्य है। इसी विज्ञान रूप क्षण-क्षण नई-नई अपनी झाँकी को दिखलाने वाले को यदि इस ध्यान में परख लें तो हमें कभी भी संसार की कोई भी वस्तु सत्य या टिकी रहने वाली नहीं दीखेगी। एक यही क्षण-क्षण नयी-नयी झाँकियों वाला विज्ञान देव भगवान् विष्णु ही सब में लीला करता हुआ दृष्टिगोचर होगा। बस ! तभी सब आसक्ति या माया भी नहीं रहेगी, सब से मुक्ति प्राप्त होगी। सब दुःख टलेगा, आत्मा में स्थिति होगी, परन्तु दृष्टि हमें ही खोलनी पड़ेगी। इस सब भाव को यह पद्य दर्शाता है; जो नित-नित नव-नव इत्यादि। जो अपने और पराये सब देहों में नित्य (प्रतिदिन) नया-नया ही विज्ञान (बुद्धि या सत्त्व) देखता है, वह न तो सामने पड़ने वाली वस्तु को कोई अपना या पराया करके ही मन में लाता है और न उसमें पीछे के किसी संस्कार को जगाकर कोई भी

सुख या दुःख देने वाला ही समझता है। इसलिये उसको पुनः काम (इच्छा) और पुनः कर्म, और पुनः कर्म द्वारा उसी सुख आदि के अनुभव को रचकर इसी धारा में बहते-बहते मर कर पुनः वही संसार पाने की क्या आवश्यकता है ? संसार में तो जैसे उस समय की प्रेरणा और उद्वेगों ने अपने सुख के लिये हम से कर्म करवाये हैं वे सभी सुख से ही भुगतने में नहीं आयेंगे। वही पुराना (किसी समय को देखता हुआ) आगे का सुख मन में रख कर मनुष्य पीछे के संस्कार जगाकर पुनः वैसे कर्मों में लग कर आशा से सुख के पीछे भागता तो है परन्तु समय के परिवर्तन और बुद्धि के परिपक्व होने के साथ-साथ वह सुख तो कहाँ ? उसके स्थान पर केवल दुःख ही उनमें पाने को रखा है। ऐसा ही बोध मन में जगा कर उनके लिये अन्धी शक्ति रूप तृष्णा के वेगों को मनोमन दुःख पाकर भी आसन, ध्यान और विचार द्वारा सहन करके इसी तृष्णा की शक्ति को क्षीण करता हुआ, शुद्ध हुआ जन सदा बसा रहने वाला, एक रस, हर समय नया-नया चेतते रहने वाला विज्ञान रूप से चेतन ही सब में समान रूप से लीला करता हुआ देखता है। उस पुरुष को पुनः वह पीछे व्यतीत हुई-हुई वह 'मैं' भी नहीं चाहिये जो कि उन्हीं सांसारिक सुखों के अभिमान वाली थी या पुनः समय ने जो 'मैं' दी थी। समय भी अपनी 'मैं' प्राणियों पर लादता है। बच्चा अपने समय के व्यवहारों और बर्तावों में सब को मधुर प्रतीत होता है। जब दूसरों को वह प्रिय लगता है तो दूसरे उसे प्रिय समझ कर उसके साथ उसी के ढंग का बर्ताव करते हैं। बच्चा जब

卐卐

ऐसे मान या अभिमान वाला हो जाता है कि 'मैं' वैसा ही हूँ जैसा कि दूसरे समझ रहे हैं, वैसा समझ कर वह उसी प्रियपन के ढंग से अपना हठ भी रखता है, और उसके प्रियपन की चापलूसी देखता हुआ बच्चा अपने को श्रेष्ठ भी मानने लगता है। परन्तु यह सब सदा रहने वाला उस देहधारी बालक में नहीं। ऐसे ही कभी के सुख वाली 'मैं' भी हमारे में एक समान टिकी रहने वाली नहीं। परन्तु यह तो सांसारिक 'मैं' के बारे में है। यदि आप ज्ञान चक्षु खोलेंगे तो आप को ध्यान में सूझेगा कि यह तो जैसी मेरी 'मैं' एक क्षण के समय में दृष्टिगोचर हुई (दिखाई दी) वैसी दूसरी बार या दूसरे क्षण के समय में भी नहीं रही। भले वह वैसी ही प्रतीति में या झलक में पड़े, पहली 'मैं' के समान भी भले ही हो परन्तु अत्यन्त (बिल्कुल) वही नहीं है। ऐसा सब बोध प्रकट करके उद्योगी, विवेक शक्ति वाला जन अपनी 'मैं' (अस्मिता या अस्मिमान) का भी मोह नहीं करता क्योंकि यह समय के अनुसार संसार में दूसरों के बन्धन से ही प्राप्त होने वाली होती है। इसलिये केवल मानने के लिये या बाह्य संसार में जीवन धारण के निमित्त व्यवहार करने के लिये ही है। सदा बने रहने का इसमें कुछ भी नहीं। ऐसा सब ज्ञान या बोध अपने में धारण करने वाला जन इस भव सागर से पार उतर जायेगा।

इस पद्य का अक्षरार्थ यह है कि जो बदलते हुए अपने और पराये देहों में तथा मन, बुद्धि आदि में नित-नित अर्थात् दिनों-दिन या क्षण-क्षण नया-नया ही विज्ञान देखे

या परखे तो वह आगे आने वाले और पीछे वालों को क्यों देखे अर्थात् उनमें क्यों मिथ्या ही भटके। और पीछे के सुख और पीछे जैसे दीखे प्राणियों के स्नेह आदि की कल्पना करके क्यों उनमें 'वही हैं ये वे जो मुझे सुख देने वाले थे', इत्यादि समझता हुआ उसी संसार में ही होने की धारा में बहे। आत्मा में तो भले टिका रहा; संसार में क्यों कुछ होने जाये जबकि पहले वाला तो वहाँ कुछ मिलने का नहीं, मिथ्या आशा से उस संसार की धारा में फिर क्यों बहता रहे।

जबकि विवेकी पुरुष 'जो कुछ कभी भी दीखा था वह तो उसी समय का था, दूसरे समय में रहता नहीं'; इस सत्य को जानता है तो उसे फिर वह पुराना या कभी का व्यतीत हुआ कुछ भी चाहिये ही नहीं। जब चाहिये ही नहीं तो वह फिर उसी 'वही है वह सुख देने वाला', 'वह हैं वे सुख देने वाली वस्तुएँ', ऐसी मिथ्या प्रत्यभिज्ञाओं की धारा में भी नहीं बहता। यह सब पुरानी वस्तुओं की याद केवल पुरानी 'मैं' को पाने के लिये ही है। जिसको पुरानी 'मैं' का मोह नहीं वह इस संसार में पुनर्जन्म और उसी में कुछ-न-कुछ होने के दुःख से पार हो जाता है।

इन पीछे के प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी पद्यों का निचोड़ यह है कि मनुष्य को अपने मन को ध्यान के योग्य बनाकर एकान्त में (ध्यान में) अपने आप को ही ध्यान में परखना आरम्भ करना है और ध्यान में देखना है कि कैसे-कैसे देह बदलता हुआ तथा मन, बुद्धि भी समय-समय पर क्या दृश्यों को 'है-है' करके बताते हैं। 'है-है' का केवल एक

विशेष ज्ञान रूप विज्ञान ही है। यही भगवान् विष्णु रूप से अपनी नई-नई झांकियाँ दिखला रहा है। यही सर्वव्यापक सब में खेल रहा है, अन्य कुछ भी नहीं। यही जो कुछ विशेष करके बुद्धि ने समझ लिया उसे ही विज्ञान कहा गया है। बुद्धि ने ही जो कुछ समझा उसे एक सत्ता (हस्ती) दे दी और हस्ती देकर किसी-न-किसी चक्कर में डाल दिया। सब जीवों में यही लीला है।

यदि बुद्धि ने कभी रस्सी में साँप देख लिया तो यही यह साँप का विज्ञान हुआ : यही उस साँप को सत् बतलायेगा: 'है' रूप से कहेगा; पुनः यही विज्ञान भयभीत भी करेगा। इसी प्रकार ध्यान में अल्प इच्छा वाले प्राणी को सारे जगत् में इसी विज्ञान रूप भगवान् विष्णु की लीला देखनी है।

चक्षुरादि कुछ बाहर की बतायें,
जगे संस्कार उनमें हिल मिल जायें।
आगे पीछे झूला झूले विज्ञान;
रचो धार, बहे मन्द, चेते सो सुजान।।

। २६६ ।

गत पद्य की प्रथम पंक्ति में जो कहा गया 'जो नित-नित नव-नव देखे विज्ञान', इसी के भाव को यह पद्य स्पष्ट करके दर्शाता है।

पद्यार्थ :- चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ कुछ भी बाहर अर्थात् संसार की वस्तु को सामने (मन के सामने) उपस्थित करती हैं। अब मन में वस्तुओं (प्राणी या पदार्थों) का परिचय बालपन से ही जीव ने दूसरों के संग से प्राप्त

कर रखा है। उन सब का उपयोग (अपने मतलब का बर्तना) इसी प्राणी या जीव को भी खूब ज्ञात (जाना हुआ) है। जब चक्षु आदि इन्द्रियाँ किसी वस्तु को हमारे मन के सम्मुख उपस्थित करती हैं तो इसी वस्तु के उपयोग के संस्कार झट मन में उदय (जगे) होकर जीव की इच्छा (काम) को मन में खड़ा कर देते हैं। इच्छा होते ही जीव के मन से वह पदार्थ उतरता ही नहीं, जब तक कि उसकी हुई-हुई इच्छा पूर्ण न कर ली जाये। इच्छा संसार में ही पूर्ण होनी है। यही संसार में इच्छा पूर्ण करने के लिये 'होना' भव नाम से कहा जाता है। न यह तृष्णा या इच्छाओं का जाल कभी समाप्त हो और न ही पुनः संसार में ही होना, न जन्मना और मरना आदि से ही जीव की मुक्ति हो। क्योंकि जहाँ कहीं भी मन की एक इच्छा पूरी हुई तो मन में उस उत्पन्न इच्छा को पूरा करने का राग तो थोड़ी देर के लिये टल गया; परन्तु अब उस इच्छा का रंग थोड़े समय के लिये टलने पर जहाँ थोड़े समय के लिये मन की खाली अवस्था हुई कि अविद्या द्वारा इसी में ज्ञान शून्य-सा हुआ-हुआ मन पुनः झट कोई दूसरे संस्कार जगाकर और किसी की याद करेगा। ऐसे यह जाल कभी भी समाप्त होने का ही नहीं। सामने संसार की उपस्थिति और उसे समझ-समझ कर संस्कार इच्छायें प्रकट करके संसार वाला मन जीव को इसी में उलझाये रखेगा। यही मनुष्य की बुद्धि या समझ शक्ति रूप विज्ञान सामने या आगे की वस्तुओं की दृष्टि इन्द्रियों द्वारा करके पीछे के संस्कारों को जगाने के लिये अन्दर झुकता है। कभी समझ

शक्ति रूप बुद्धि सामने उपस्थित वस्तुओं का चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा ज्ञान उत्पन्न करती है और पुनः अपने संस्कारों में डुबकी लगाकर उसी सामने वाली वस्तु में उपयोग समझती है। इस प्रकार आगे और पीछे झूलती रहती है। इसी को पद्य में दर्शाया गया कि 'आगे पीछे झूला झूले विज्ञान', यहाँ तक तो विज्ञान देव या बुद्धि की लीला है। इसी को मनोमन पहचानना तो निर्दोष है परन्तु इस झूला झूलने वाले विज्ञान देव की माया में नहीं फँसना चाहिये। माया इस विज्ञान देव की वहाँ से आरम्भ होती है जबकि यह पिछली बातों को याद करवा कर उनके संस्कार जगाकर उन्हीं वस्तुओं की इच्छायें जनाये और उन्हीं इच्छाओं को पूरा करने के लिये संकल्प या इरादे खड़े करे। जो जन इन सब माया के संकल्प, इरादे और काम, क्रोध और कर्म चक्र से बचा रहे उसे ही सुन्दर ज्ञानवान् समझा जायेगा। जो इस माया जाल में फँसे रहे वे मति से मन्द ही समझे जायेंगे क्योंकि वे अपनी भलाई नहीं साध सकेंगे और मिथ्या संसार में इन्हीं सब मिथ्या संकल्पों द्वारा जिन सुखों को पायेंगे वे सुख सदा रहने के नहीं। उन्हीं के स्थान पर सदा बने रहने वाले दुःख उन्हें मिलेंगे। अब यहाँ यह समझ या ज्ञान उत्पन्न करना है कि जहाँ तक तो बुद्धि या समझने की शक्ति का अपने आप में ही लगे-लगे कुछ समझते रहना है वहाँ तक तो विज्ञान देव की लीला है और अपने में ही है। परन्तु जहाँ यह बुद्धि (समझ शक्ति) दूसरों में उलझाने के लिये इच्छा आदि उत्पन्न कर दूसरों में उलझाती है वहाँ 'भव' या संसार में

जीव जा पड़ा। यही वहाँ सदा बना न रह कर इसे उससे टलना या मरना भी पड़ेगा। इतना ही नहीं, वहाँ से आगे पुनः न जाने किस-किस रूप में उलझन के संस्कार भी अपने में इकट्ठे करके उन्हीं में एकान्त में भी उलझा रहेगा और शान्ति नहीं पायेगा। कई एक दूसरों की दृष्टियाँ (नज़रें) भी मित्र-वैरी आदि की, आपस में उलझन की, इसी में बसकर अन्दर अपने में इसी समझ शक्ति रूप बुद्धि को शान्त या आनन्द में नहीं रहने देंगी; बाहर संसार में ही कुछ-न-कुछ करने में, चिन्तन में सदा अपनी प्राण शक्ति के साथ मन को दुःखी करके जीवन काल में ही नरक के दुःखों को प्रकट कर देंगी।

अब हम ने साधक या धर्म परायण होने के नाते अपने में ऐसा जीवन साधना है कि यह बुद्धि अन्दर तो जैसा चाहे समझती रहे, परन्तु इसका चक्कर बाहर संसार में बान्धने योग्य ढंग से नहीं चल सके। तब पुनः मनुष्य को इसी बुद्धि रूप विज्ञान को बाहर, अन्दर, आगे, पीछे झुक कर कई एक प्रकार की लीला करते ही देखना है। कभी बाहर चक्षु आदि द्वारा वस्तुओं को समझना यही आगे को बढ़ना या झुकना हुआ; पुनः अन्दर के संस्कार जगाकर उस वस्तु के संसार वाले रूप को समझना, यही अन्दर या पीछे को झुकना हुआ; इस प्रकार अन्दर बाहर या आगे पीछे यही बुद्धि विज्ञान (बुद्धि सत्त्व) झूला झूलता हुआ अपनी लीला करता हुआ समझना है। यही आगे पीछे झूला झूलना है। परन्तु इसके आगे संसार की धारा में नहीं जाना। यदि संसार या भव की धारा से आप बचे रहे तभी

कहा जायेगा कि आप मति या बुद्धि को सत्य का ज्ञान करवा कर अपने को चेता गये या जगा गये। इसलिये सुजान हुए; भव सागर से बच गये। यदि मति न जगी, मन्द रही तो आप सांसारिक इच्छा आदि की धार में बह गये तो मति से मन्द या दुर्बल मति वाले हुए। क्योंकि अन्त में अपने ही दुःखों का कारण आप स्वयं अपने अज्ञान से बनोगे। यदि आप आगे होने वाले दुःखों को पहले से ही भाँप गये और अपने आप को संसार की धारा में बहने से बचाने का कष्ट सहन कर गये तो सुन्दर ज्ञान वाले (सुजान) हुए क्योंकि आप ने सुख के रूप में छिपे इन्हीं सांसारिक दुःखों को अपनी बुद्धि या मति को जगा कर पहचान लिया। इसीलिये आप ही मतिमान् हुए यदि कि सुन्दर रूप में चेत गये या जग गये: जैसे कोई सोया या नींद से ऊँघता हुआ जन किसी सहसा भय देने वाले शब्द को सुन कर चौंक जाता है और चेत जाता है, अपनी निद्रा या आलस्य (सुस्ती) को भगा कर उस भय से बचने के लिये तैयार हो जाता है, यही चेतने का तात्पर्य है। ऐसे ही जो अपने भविष्य के दुःख को मन में रखकर चेतता रहे वही सुजान है।

क्षण-क्षण चेते सही विज्ञान,
अविद्या नहीं रहे, संस्कार हान।
आगा पीछा न मिले, न बने धार;
मति स्मृति वाला, जावे भव पार।। ।३०० ।

गत पद्य में अन्त की पंक्ति में कहा गया कि 'चेते सो सुजान', अब यह पद्य उसी के भाव को स्पष्ट करता है।

पद्यार्थ :- क्षण-क्षण विज्ञान चेतते रहना चाहिये। ऐसा होने पर अविद्या नहीं रहेगी; अविद्या को ज्ञान शून्य अवस्था में ही संस्कार प्रकट करने का अवकाश होता है। ज्ञान चेतते रहने पर वह नहीं प्राप्त होगा। और भी, विज्ञान सही रूप में चेतते या जागते या प्रकट होते रहने पर उद्योगी पुरुष धैर्य से अपने को ज्ञान की दृष्टि द्वारा सम्भाले रखेगा और जो संस्कार जाग कर संसार में जीव को खींच कर ले जाने की प्रेरणा करते हैं उन संस्कारों की हानि को भी बदलते मन में देखता रहेगा। अर्थात् उन संस्कारों की धारा में न बहता हुआ, और उनके अनुसार संसार में मिथ्या कर्मचक्र में न पड़ कर उनके दु:ख को समझता हुआ धैर्य से अपने मन को थाम कर मन की बदलती हुई अवस्थाओं में साक्षी रूप से उनको देखता हुआ अपने को संसार में पड़ने से बचाये रखेगा। अन्त में संसार में धकेलने वाले, धैर्य वाले जन के संस्कार स्वयं विदा हो ही जायेंगे। तब मन शान्त होगा। यह भी विज्ञान की ही लीला है कि एक ओर से संस्कारों की तरंगें बढ़ती रहेंगी और दूसरी ओर बदलने के स्वभाव वाले मन में क्षण-क्षण वही तरंगें अपने आप ही मिटती रहेंगी। केवल सत्य का ज्ञान या बोध का बल चाहिए कि कहीं मतिहीन, मन्द बुद्धिवाला जन उन्हीं तरंगों की प्रेरणा से संसार की धारा में न पहुँच जाये और वहीं न बहता रहे। तब समय पाकर इन्हीं सब संस्कारों की हानि होने पर अपने आप में या आत्मा में ही टिक कर मन अन्दर की शान्ति पायेगा। जब संस्कार की हानि होती रहेगी और क्षण-क्षण सही रूप

से विज्ञान (बुद्धि की समझ) चेतता रहेगा तब प्रत्येक क्षण विज्ञान का ही दीखेगा। 'क्षण-क्षण' कहने का यही तात्पर्य है कि केवल यही प्रत्येक क्षण साधक पुरुष ने अपने को होश में रखना है। यही साधक ने दर्शन करना है तथा अपने अन्दर् समझ कर मति या बुद्धि को जगाना है कि प्रत्येक क्षण बुद्धि या विज्ञान का है और वह अपने आप में न्यारा ही है और पहले भी यह प्रत्येक क्षण का विज्ञान अपने आप में न्यारा ही था। दूसरा क्षण भी वैसा ही न्यारा था। केवल विज्ञान-ही-विज्ञान था : आगा और पीछा कुछ मिलाना ही नहीं; जो आगे चक्षु आदि इन्द्रियों ने पहचाना वह अपने क्षण का एक विज्ञान था; जो पुनः संस्कार जागे और उसमें स्मृति (याद) द्वारा काम आदि को जगाकर मिलना चाहता था; वह विज्ञान भी न्यारा ही है। आगा पीछा मिलने ही न देना। आगे वाला विज्ञान न्यारा; पीछे संस्कार वाला भी न्यारा। जब ये दोनों मिले ही नहीं तो धारा ही नहीं बनती। धार तब बने जब एक के साथ दूसरा जुड़ा-जुड़ा बहता रहे। जब विज्ञानों को अपने आप में ही देखना या सही मति रखनी है और अपने को सम्भालने की स्मृति भी रखनी है तभी जन भव के पार पहुँचेगा।

इस पद्य का यह तात्पर्य है कि मनुष्य को इसी देह आदि में अपना ध्यान जमा कर सत्य को पहचानने का यत्न रखना है। संसार की आवश्यकताओं को एक सीमा में बाँध कर, अपने उत्तरदायित्व (जिम्मेवारी) को भी उचित व्यक्तियों को सौंप कर पुनः अपने आप को सम्भाल कर रखते हुए, खाने, पीने, सोने, जागने और बाहर दूसरों के

साथ बर्तावों में ढीला न रहते हुए ध्यान के योग्य अपना वातावरण बनाना है। तब एकान्त में चिन्ताहीन (बेफिकर) मन द्वारा ध्यान में मन को जगाये रखकर इसी देह में बैठे देव को पहचानना है। क्या-क्या लीला इसी देह में तथा विश्वभर के प्राणियों के देहों में हो रही है ? यह सब अपने देह में ध्यान जोड़ने तथा खोजने से ही सत्य को समझने का यत्न करना है। अन्त में ऐसे उद्योग में लगे पुरुष को इसी पद्य में कहे गये भाव वाला सत्य प्रकट रूप से समझ में आयेगा कि जन्म से देह उत्पन्न होकर क्षण-क्षण बदलता हुआ दिनोंदिन बढ़ता जाता है, पुनः बिगड़ने भी लगता है। एक साथ ही न तो बढ़ता है और एक दम ही कहीं बिगड़ता भी नहीं; वृद्धता भी धीरे-धीरे ही आती है। यह एक धारा-सी ही किसी एक तत्त्व की चल रही है कि जो क्षण-क्षण, नया-नया अपने आपको प्रकट करके वैसे-वैसे ही देह को भी सर्वत्र दिखाता है। तो अब स्वयं अपने आप ही समझ में पड़ेगा कि जब वह एक रूप में झलका, तो उस झलकने के समय का रूप उसने न्यारा ही प्रकट किया; जब पुनः दूसरी झलक देकर बदल गया तो पहले से बदला हुआ कुछ दूसरा ही दीखने में आया। इसी प्रकार समय पाकर बच्चा अपने ही ढंग से बुड्ढा भी हो गया। परन्तु वह बुड्ढा भी क्षण-क्षण बदलते समाप्त हो गया। यही सब लीला है। इसे अपने आप में देखना है। इसी प्रत्येक बदलते क्षण को अपने आप में प्रत्यक्ष देखना है। ध्यान द्वारा इसी सत्य तथा विज्ञान देव की यही क्षण-क्षण न्यारी-न्यारी झाँकी वाली लीला प्रकट दीखने में आयेगी। जब वह विज्ञान देव ही लीला कर रहा है और आप भी

उसके स्वरूप से न्यारे नहीं; आप भी तो पूर्ण समझ स्वरूप से अपने को पहचानते हैं; तो वह है आप का ही स्वरूप जो क्षण-क्षण असंग रूप से प्रकट होता हुआ, छुपता हुआ इसी संसार को, तथा देह आदि को, तथा अन्य सब जीव जन्तुओं और वन की औषधियों को भी अपने-अपने समय पर उत्पन्न तथा स्थित करके अन्त में समाप्त कर देता है। इसी की न्यारी-न्यारी झाँकी में व्यक्त और अव्यक्त की लीला है। एक समय एक क्षण भर कुछ झलका, यही व्यक्त रूप उस देव का था; पुनः इसी को यदि आप अपनी बुद्धि में बैठाए रखो तो अब वह तो अगले क्षण के स्वरूप में अव्यक्त हो गया, पहले वाला तो छुप गया; इस अवस्था में छुपने का स्वरूप अव्यक्त शब्द से कहा गया है। अब आप का अन्तिम कर्तव्य यही है कि आप अपने ध्यान को द्वैतभाव की तेरी, मेरी की उलझन से इतना दूर हटाने का यत्न रखें कि इस संसार वाली उलझन के संस्कार भी जब कभी स्फुरित हों तो वे भी क्षण-क्षण बदलते हुए ही दीखें। जैसे भगवान् चेतनदेव अपने विज्ञान में कहीं सदा एक जैसा नहीं दीखा तो आप पुनः किसको एक जैसा अपने मन में बैठा कर रखोगे ? आप भी इसका प्रत्येक क्षण न्यारा-न्यारा ही अनुभव करो ! है यह सब उसका ज्ञान, विज्ञान स्वरूप ही। परन्तु इसमें वस्तुपने का तो सब भ्रम ही है। पुनः उस वस्तु का एक रूप में टिके रहना तो केवल बुद्धि का अपने सुख-दुःख के राग, द्वेष और मोह के कारण से तो मिथ्या विश्वास रूप में ही है। इसी सब मोह जाल को प्रकट इस विज्ञान देव के सही स्वरूप का साक्षात्कार करके समाप्त करना है। तब आप को इस पद्य में कहे गये

भाव का सत्य पूर्ण रीति से अनुभव में आयेगा; कि बात तो सही है कि बदलते हुए देह में जो क्षण कभी दीखा वह टिका कहाँ है ? टिका हो तो बदलती हुई दशा (तबदीली) कैसे ? यदि बदलती दशायें ही नहीं तो बच्चा एक दिन बुड्ढा कैसे होता ? इसलिये जैसे इस पद्य में दर्शाया कि; विज्ञान क्षण-क्षण चेतता रहता है, कभी टिका नहीं है। इसलिये बसी हुई वस्तु के रूप में 'तूं' या 'मैं' सब मिथ्या ही हैं। ऐसा जानने पर अविद्या नहीं रहेगी; यही चेतता हुआ विज्ञान सदा जागता रहेगा। जो पीछे था वह तभी का ही था; आगे के समय में वह कैसे होगा ? पीछे वाला ही आगे के विज्ञान के क्षणों में देखेंगे, तो ही संसार की धारा बनेगी। 'वही मेरा प्रेमी', 'वही मेरा वैरी', यही संसार की धारा है। इसे प्रत्येक क्षण न्यारा-न्यारा देखते हुए समाप्त करना है। जब आप को अपने अन्दर विज्ञान का प्रत्येक क्षण दीखने लगेगा तो क्षण का साक्षात्कार होगा। प्रत्येक क्षण ज्ञान का होगा। अज्ञान या ज्ञान से विरोधी अविद्या का नाम तक भी नहीं रहेगा; अपना स्वरूप छिपेगा नहीं। पुनः अपना आपा पाने के लिये संसार में जन्मना भी नहीं पड़ेगा। परन्तु इसके लिये मनुष्य को सही विज्ञान या मति वाला तथा स्मृति वाला बनना पड़ेगा, तभी वह संसार से पार जायेगा।

क्षण-क्षण क्षीण होवें संस्कार,
जगे चित्त की बहे जो सही धार ।
मति शुद्ध स्मृति संग टिके बोध;
न हो प्रीति औ प्रमोद का अवरोध।।
। ३०१ ।

卐卐

गत पद्य में यह कहा गया था कि यदि क्षण-क्षण सही वस्तु का प्रकट ज्ञान रूप विज्ञान जागता रहे तो इसी विज्ञान रूप विद्या की कृपा से अविद्या (ज्ञान रूप आत्मा पर पर्दा डालकर मनुष्य को 'अपने न रहने की' या 'अपने विनाश की शंका' उत्पन्न करने वाली शक्ति या अन्धकार) क्षण-क्षण नष्ट होती रहेगी। जब अविद्या नष्ट होती रहे तो पुनः पुराने संस्कारों की खींच भी नहीं रहती। क्योंकि अविद्या जब-जब मनुष्य के 'न रहने' की शंका उत्पन्न करती है तो सदा बने रहने की इच्छा और भाव रखने वाला जीव अपने आप को ज्ञान रूप से बना या बसा बैठा अनुभव करने के लिये ही पुनः-पुनः पुराने संस्कार जगा-जगा कर उन्हीं की पुरानी यादों में ही टिका हुआ अपने को अनुभव करता है। संस्कारों से यादें आने लगती हैं। यादों या स्मृतियों का ही ज्ञान रूप आत्मा या अपना आपा उसे अपने आप में बना हुआ समझ में आने लगता है। परन्तु यह सब खेल तो उस अविद्या का है जो अविद्या अपना पर्दा डालकर करती है। यदि अविद्या का पर्दा सही विज्ञान रूप विद्या के जागते रहने से टलता रहे तो संस्कार अपने आप क्षण-क्षण प्रकट हो-हो कर स्वयं ही नष्ट होते जायेंगे। संस्कार या वासनायें यदि नष्ट होती रहीं तो पुनः वह जन्म को भी नहीं दे सकेंगी। परन्तु यह सब तभी होगा यदि मनुष्य में सही ज्ञान अर्थात् जगत् की किसी भी वस्तु का सदा न बने रहने का विज्ञान टिका रहे। और यह ज्ञान और विज्ञान तभी रहेगा यदि स्मृति या होश भी कहीं न खो गई तो। होश या स्मृति ही मनुष्य को

सम्भल-सम्भल कर चलने में जगाती रहती है। ऐसी ही मति (सही ज्ञान) और स्मृति (होश) वाला जन भव सागर से पार हो जाता है। भव सागर से पार होने का भी यही तात्पर्य है कि जैसे मनुष्य संसार में बाल बच्चों तथा अपने परिवार में अपने ज्ञान को क्षण-क्षण आनन्द वाला तथा प्रीति या प्रेम वाला समझता हुआ प्रसन्न-प्रसन्न संसार में आगे-से-आगे बढ़ता जाता है और अपने आप को बना बसा बैठा हुआ अनुभव करता है; यह प्रीति या प्रसन्नता जब नहीं रहती, समय पाकर वृद्धावस्था में समाप्त हो जाती है तो उसी की तृष्णा वाला मन अपने आप में उसी पुरानी प्रीति और प्रसन्नता को याद करता-करता शोक के गीत गाता-गाता अपनी आत्मा में निद्रा अवस्था में भी बना रहता है और उसी पुरानी तृष्णा की मिठास से पुनः इसी संसार में जन्मता है। यही भव सागर है क्योंकि पुनः-पुनः वैसी प्रीति और प्रसन्नता उसे भूलती ही नहीं, वही इसे पुनः-पुनः संसार में खींचती है। यदि यही प्रीति और प्रसन्नता बिना संसार में आये भी, बिना संसार के पदार्थों या बाल बच्चों के संग के भी मिल जाये तो ऐसा प्राणी संसार सागर (भव सागर) से पार हो जाये।

अब यह पद्य (३०१) यही दर्शाता है कि जो संसार में पुनः पटकने का कारण है वह मनुष्य की प्रीति और प्रसन्नता वाला अपना आपा रूप आत्मा है। जिसे यह बिना संसार के पदार्थों या प्राणियों के मिल जाये, वही भव सागर से पार जायेगा। पुनः उसे संसार याद में भी नहीं आयेगा। परन्तु मति (सही ज्ञान रूप विद्या) और स्मृति

卐卐

(होश) ठिकाने रहनी चाहिये।

पद्य का अक्षरार्थ :- यदि किसी मनुष्य ने अपने मन को या चित्त को शास्त्र या महापुरुषों में श्रद्धा रखकर सही मार्ग से जगा लिया और जागते चित्त की धारा, ज्ञान या स्मृति में सदा बनी रही तो संसार की ओर खींच करने वाले संसार की मिठास वाले संस्कार क्षण-क्षण स्वयं ही टलते जायेंगे। परन्तु उन्हीं विषयों के सुख को अनित्य और अन्त में अनन्त दुःखों में पटकने वाला समझने वाली मति (बुद्धि) और उसी की स्मृति भी टिकी रहनी चाहिये। यही ऊपर कही गई मति या बुद्धि शुद्ध है। दूसरी संसार वाली, संसार में सुख खोजने वाली मति तो अशुद्ध ही है। यदि यही शुद्ध बुद्धि और स्मृति का संग रहा तो सत्य का बोध (ज्ञान) टिका रहेगा। ऐसे बोध के होते हुए मनुष्य का मन संसार की खींच से हट जायेगा। और उधर से हटने पर उसकी आत्मा में ही प्रीति और प्रसन्नता भी प्रकट रहेगी। ऐसा होने पर इसी प्रीति और प्रसन्नता वाले आत्मा के लिये संसार या भव में नहीं जाना पड़ेगा।

मन में प्रीति व प्रसाद सदा छाय,
जीवन निर्निमित्त भी तो भी सुहाय।
बिछुड़ सबसे निज में मिल गया जो सुख;
फिर तो मौत भी करे क्या उसका दुःख।।

। ३०२ ।

गत पद्य में कहे गये भाव को ही यह (३०२) पद्य पूर्णता के रूप में दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- गत पद्य में दर्शायी गयी अपनी आत्मा में

बनी रहने वाली प्रीति और प्रसन्नता यदि सदा बनी रहे तो अपना आत्मा हर हालत में आनन्द रूप से प्रकट ही रहेगा। कभी भी अपने 'न रहने की' या 'विनाश' की शंका ही न होगी। इसलिये पुनः संसार में ले जाने वाले संस्कार जगाने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। संसार के निमित्तों को अर्थात् बाल बच्चों के परिवार रूप प्राणियों को, तथा वैसे ही भोग पदार्थों को भी पाकर पुनः प्रीति तथा प्रसन्नता वाला अपना आपा पाने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इन सब निमित्तों के बिना भी जीवन सुहावना लगेगा। जीवन काल में ही अपनी मुक्ति का ज्ञान भासने लगेगा।

अब इसी प्रकार यदि बाहर के किसी भी निमित्त के बिना ही यदि अपने आप में अर्थात् आत्मा में प्रीति तथा प्रसन्नता के साथ वाला आनन्द मिल गया; या यूँ कहा जाये कि सब संसार के प्राणियों से तथा भोग पदार्थों से बिछुड़कर यदि अपने आप में अर्थात् अपनी आत्मा में सुख मिल गया तो फिर मृत्यु का भी भय समाप्त हो गया। क्योंकि मृत्यु केवल इसीलिये भय दिखाती है कि वह सब कुछ छीन कर इस प्राणी के सब के संग से होने वाले सुख को बिगाड़ देगी।

अब यदि किसी को अपनी आत्मा में ही, ध्यान में, सब से न्यारा होकर, सारे संसार को भूल कर, बिना किसी बाहर के निमित्त या कारण वाला सुख मिल गया तो उसे तो संसार की आवश्यकता ही नहीं रही। तब ऐसी अवस्था में वह तो जीवन काल में ही ऐसी मृत्यु देख चुका है जो कि केवल संसार से बिछोड़े के रूप में है। ऐसे संसार के

वियोग या बिछोड़े से तो शुद्ध मति और स्मृति वाले पुरुष को परमानन्द प्राप्त हुआ है। तब ऐसी अवस्था में उसे मृत्यु का कोई भय ही नहीं रहता। मृत्यु उसे निद्रा से अधिक कोई और भय की वस्तु नहीं दीखती। इसीलिये मृत्यु का उसे कोई दुःख भी नहीं।

इन्हीं ऊपर के दो पद्यों (३०१, ३०२) का भाव यह है कि संसार में खींच करने वाली तृष्णा वही है जो दूसरों के संग से ही आत्मा की तृप्ति करती है, दूसरों के संग से ही प्रीति और प्रसन्नता को उपजा कर संसार में ही मनुष्य को होते रहने का भाव बनाये रखती है तथा दूसरों के संग के साथ बाँधे रखती है। केवल अपनी आत्मा में तृप्ति, प्रीति, प्रसन्नता आदि को नहीं बनने देती।

अब धर्म मार्ग वाले को बजाय इसके कि वह इसी संसार के संग वाली तृष्णा की खींच में खोया रहे और निद्रा में भी इसी के गीत सुनता-सुनता खोया रहे उसे श्रद्धा रखकर विचार द्वारा विवेक उपजाना है; सत्य ज्ञान रूप बोध को अपने में टिकाना है कि सदा कुछ भी तो संसार का एक जैसा कभी बना रहता नहीं, तो मैं किसको सदा बनाये रखना चाहता हूँ ? इसी बोध को उपजाने के हेतु मिथ्या तृष्णा की वस्तुओं में खोये-खोये न रहकर खोज करना, खोज के लिये ध्यान जमाना है। एकाग्र चित्त में विचार को जगाकर सही वस्तु को जानने का यत्न करना ही यहाँ ध्यान शब्द का तात्पर्य है। पुनः अपनी स्मृति में रहकर जो कुछ सही जचे उसी के अनुसार मन को स्थिर रखकर मिथ्या काम, क्रोध आदि को भगाना है। ऐसे करते

रहने से संसार की आदतों से दृढ़ हुई-हुई खींच या तृष्णा भी एक दिन ढीली पड़ जायेगी। जब यह तृष्णा नहीं रहेगी तो संसार की खींच से ही उत्पन्न होने वाले दुःख शोक भी नहीं रहेंगे। अपनी केवल आत्मा में भी प्रीति और प्रसन्नता सदा बने रहेंगे। यही आत्मा का आनन्द प्रकट रहने से बाहर की वस्तुओं तथा प्राणियों के बिना भी मनुष्य को अपना आपा आनन्द रूप में अनुभव में आयेगा। अब यदि केवल अपने आप में ही सुख मिल गया तो सब कुछ संसार की वस्तु छीन कर दुःखी करने वाली मृत्यु से भी मनुष्य को दुःख नहीं होगा।

ॐ इति संस्कार (वासना) क्षय वर्ग ॐ

卐 अथ सत्त्व विमुक्ति अभियान वर्ग 卐

यही सत्त्व, यही जीव, 'मैं-मैं' करता धाय,
ऐसा लागे जैसे शाश्वत्, क्षण भर पर दिखलाय।
सर्व को रच कर, निज को रचता, करता सारे खेल;
ज्ञान स्वरूप में नहीं जो सम्भला, बढ़े तृष्णा की बेल।।
। ३०३ ।

गत सारे संदर्भ (ग्रन्थ) के पद्यों का भाव यही था कि केवल एक ही चेतन सर्वत्र पहचानना है; उसी में मन को स्थिर करना है; शेष सब प्राणी और भोग पदार्थ जो बुद्धि (विज्ञान) में निश्चय करने में आते हैं, उनकी अवहेलना या उपेक्षा करते रहने से मनुष्य संसार या भव सागर के पार उतर जायेगा।

अब आगे के कई एक पद्यों का समुदाय (संदर्भ या ग्रन्थ), जो एक ही चेतन रूप पुरुष को सर्वत्र पहचानने में अड़चन (विघ्न) रूप से उपस्थित होते हैं, उनको दर्शाता हुआ उनसे अपने को सम्भाले रखने की युक्ति तथा प्रेरणा देता है जिससे कि मनुष्य बिना किसी विघ्न के उस परमानन्द तथा ज्ञान स्वरूप मात्र चेतन में सब दुःखों की समाप्ति (खात्मा) देखता हुआ स्वयं सदा के लिये उस परमात्मा के आनन्द स्वरूप में स्थिरता प्राप्त कर ले।

पद्यार्थ :- यही मनुष्य की बाहर जगत् में दूसरों के मध्य में, दूसरों को ही देखते हुए जो अपनी हस्ती (सत्त्व) है; मनुष्य ने जन्म से अपना रखी है, यही जीव या प्राणधारी है। संसार में 'मैं'-'मैं' करता हुआ इसी 'मैं' को

बनाये रखने के लिये इसके साधनों धन, जन, परिवार, मित्र, प्रिय आदि के पीछे तो भागा-भागा फिरता है। यही बाहर जगत् वाली, सुख के भोग पदार्थों और प्रिय व्यक्तियों के संग वाली 'मैं' (अहंकार) मनुष्य को मीठी लगती है। जीव यह समझ कर कि यह सदा ऐसे ही मीठी 'मैं' मिलती रहेगी, इससे सदा चिपका रहता है। शाश्वत् (सदा बने रहने वाली) जैसी प्रतीत पड़ती हुई भी केवल यह एक क्षण भर के लिये ही दिखलाई पड़ती है। जन्म से ही नित्य-नित्य यह देह, मन, बुद्धि के परिवर्तन के साथ-साथ बदलती ही रहती है। जैसे कोई घास-फूस नित्य-नित्य धरती में उपजकर दिनों दिन बदलता रहता है। जो आज था, अब दीखा, सूक्ष्म दृष्टि से बुद्धि द्वारा यही निश्चय होगा कि क्षण भर से अधिक वह अवस्था उस की नहीं रहती। इसी प्रकार बालक को जो 'मैं' का प्रवाह दिनों दिन मिलता है, वह बदलता हुआ न सूझने से एक जैसा ही दीखता रहता है। जब अकस्मात् (अचानक) वृद्धावस्था या रोगावस्था में वह 'मैं' न मिलेगी तो वह कुछ सीखना आरम्भ करेगा। परन्तु जब तक संसार में मिठास मिल रही है, तब तक मिठास वाली 'मैं' ही एक रूप में अज्ञानी जीव या बालक उसे ही सुख मात्र के लिये अपनाये बैठा है या अपनाये रखता है। इसी सुख वाली 'मैं' को ही बाहर के सुख के कारण से एक से रूप में देखता है। इसी के लिये ही सब को कुछ-का-कुछ प्रिय आदि के रूप में रचकर अपने आप को भी किसी रूप में रचता जाता है और सारे ही जगत् के मन को भाने वाले

और प्रसन्न करने वाले खेल खेलता है। और उन्हीं सब खेल रूप कर्मों में तथा खेल के साधक, खेल में सम्मिलित होने वाले प्राणियों को भी रचता है। रचने का तात्पर्य यहाँ यही है कि हैं तो सब देहधारी समान रूप से पुरुष ही, देहों में समझ या ज्ञान सब में समान रूप में है परन्तु कोई एक प्राणी अपने सांसारिक सुख के लिये किसी देह में माता का भाव बैठायेगा। ये सब भाव सब देहों में बैठाये जा सकते हैं परन्तु कोई एक अपने ही स्वार्थ, सुख के कारण किन्हीं एक देहों में ही बैठायेगा। वैसा अपने को भी रंचेगा जिससे उस दूसरे में भी प्रीति आदि उत्पन्न हो और इसे वे (इस प्राणी को) उस प्रीति से ही अपनायें जिससे उसे सुख हो। यही सब रचना का अर्थ है। यही सब एक दूसरे के सम्बन्ध वाला राग-द्वेष पूर्ण संसार है। जब कोई प्रिय हुए और उनका पक्षपात हुआ तो दूसरे अप्रिय, वैरी, विरोधी, विपरीत कर्म करने वाले भी तो अपने-अपने स्वार्थवश रचे जायेंगे। जैसे वे रचे गये हैं वैसे ही वें इस रचने वाले प्राणी को अपना आपा उसके सम्मुख उपस्थित करेंगे। यही स्वार्थ सब में समान रूप से बैठा है। वैरी या विरोधी, प्रेमी या बन्धु रूप से रचे हुए के समान तो बर्ताव कर नहीं सकते; एक से यदि सुख है तो दूसरे से दुःख भी अवश्य होगा। सुख और दुःख दोनों ही अपने ढंग से मनुष्य को चलायेंगे। वैसे ही भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के प्रति करवायेंगे। इन्हीं की लम्बी, जीवन भर की 'मैं' को यही उलझा मनुष्य लिये बैठा रहेगा। परन्तु सब देहों में समझ या ज्ञान रूप जो 'मैं' क्षण-क्षण समान

रूप से चेत रहा है या बसा बैठा है उसे एक रूप से, सब में समान यह संसारी प्राणी या जीव तो देख नहीं पायेगा। जब इस ज्ञान रूप से समान सब में बसे हुए चेतन पर दृष्टि नहीं पड़ी या नहीं खुल सकी तो 'मैं' के बिना भी तो नहीं रहा जायेगा, तब यही संसार की 'मैं' ही सम्भाले रखनी पड़ेगी। इसके लिये सब संसार के साधन, प्राणी और भोग पदार्थ भी, तथा उन्हीं के निमित्त कई एक प्रकार के कर्म रूप खेल भी खेलने पड़ेंगे, पुनः आगे-से-आगे इसी संसार की तृष्णा की ही बेल (बल्ली) बढ़ती ही जायेगी। क्योंकि ज्ञान देव की 'मैं' या 'आत्मा' यदि न मिले तो पहली कैसे छूटेगी ?

बाहर देखे जन क्या भी वस्तुओं का सत्त्व,
बुद्धि सत्त्व धोखा देवे उनमें न कोई तत्त्व।
तामें भी है झलके कोरा पुरुष का विज्ञान;
जो विविधता में सम देखे, पावे पद निर्वाण।।

। ३०४ ।

गत पद्य में यह दर्शाया गया कि संसार वाली एक देह में पृथक् या भिन्न रूप से समझ में पड़ने वाली 'मैं' या 'अहंकार', व्यापक चेतन, सब में समान रूप से विराजमान, ब्रह्म को पहचानने नहीं देती। छोटी आत्मा थोड़े से व्यक्तियों में पायी हुई 'मैं' रूप में तो अपना आपा दर्शाती है परन्तु व्यापक ज्ञान के स्वरूप को छुपाये रखती है। केवल व्यक्ति के स्वार्थ के कारण जो कि बाह्य साधन वाला सुख या दुःख रूप में चिपका है, उसी के कारण राग, द्वेष, संशय आदि बन्धनों के जाल में पड़ा प्राणी

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

व्यापक ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को सब में समान रूप से नहीं पहचान पाता।

जैसे व्यक्तिगत अहंकार ("मैं") अपनी पृथक् सत्ता (सत्त्व या हस्ती) रखता हुआ दूसरों को अपने से भिन्न समझ कर बन्धा रहता है ऐसे ही भोग पदार्थों को भी कई एक प्रकार की सत्ता देता हुआ जीव अपने स्वार्थ के कारण उन्हीं के साथ भी बन्धा रहता है। बाहर की सब वस्तुओं में एक ही व्यापक परमात्मा या चेतन की सत्ता तो दीखती नहीं, उनको अपने स्वार्थ के कारण कई एक प्रकार की भिन्न-भिन्न सत्ता (हस्ती) दी जाती है। ये सब बन्धन समझ के ही हैं। समझ या बुद्धि विज्ञान में ही हैं, वास्तव (असलीयत) में नहीं। जैसी एक रूप के अहंकार की सत्ता, वैसे ही सब वस्तुओं की पृथक्-पृथक् सत्ता देखना ही एक रूप परमात्मा के अनुभव में अड़चन है। यह पद्य दूसरे प्रकार की वस्तुओं की सत्ता को अलग-अलग देखना रूप अड़चन की चर्चा करता हुआ इसी अड़चन या विघ्न को पार करने पर निर्वाण या मोक्षपद की प्राप्ति को बतलाता है।

पद्यार्थ :- मनुष्य या साधारण प्राणी भी वस्तुओं को क्या-क्या कुछ पहचानता है। जैसे समझता, पहचानता है, वैसे ही उनके नाम रख लेता है। उन सब के साथ व्यक्ति का स्वार्थ बन्धा हुआ होता है; सुख को पाने का और दुःख से बचाने का या दुःख को टालने का। स्वार्थ दो ही प्रकार का है। है तो यह बुद्धि या समझ शक्ति का ही खेल। जैसा बुद्धि किसी भी पदार्थ का निश्चय करती है वैसा ही उसको नाम दे देती है। यही वस्तु की सत्ता बुद्धि में बसी है, परन्तु

अपने स्वरूप से वस्तु कुछ भी नहीं, केवल बुद्धि-विज्ञान ही उन्हें कोई सत्ता (हस्ती) देता है । जो समझ बालक के अन्दर हम देखते हैं वह सब जन्म से तो नहीं दीखती; समझने पर ही वस्तुओं की हस्ती, मन में घर किये बैठ जाती है। केवल सांसारिक उपयोग के कारण तथा इसी सुख आदि के स्वार्थ को अपनी बुद्धि में बसा कर रखने के हेतु संसार के झगड़ों में मनुष्य खोया रहता है। यह सब बुद्धि सत्त्व (हस्ती) का ही धोखा है। यद्यपि वैसा उन बुद्धि द्वारा सत्ता दिये गये पदार्थों में कोई तत्त्व या सार नहीं है, उन सब में केवल एक पुरुष स्वरूप का बुद्धि-विज्ञान ही व्यापक रूप से लीला कर रहा है। अर्थात् मुक्ति चाहने वाले को उन्हें बुद्धि-विज्ञान रूप से ही समझना पड़ेगा।

इस में एक दृष्टान्त को मन में रखना, इसी सत्य को समझने में सहायक होगा। जैसे कि कोई एक प्राणी (मनुष्य) किसी वन में जाये, किसी पर्वत स्थली पर पहुँचे तो उसे कई एक प्रकार के घास, फूस दृष्टि में आयेंगे। उन्हें वह पृथक् प्रकार से नहीं समझ सकता, कभी देखे नहीं थे, कभी उनसे कोई काम ही नहीं पड़ा था, तो वे मन में उन्हें एक रूप से यही समझेगा कि यह सब घास-फूस ही है और अपना मन उनसे हटा लेगा। विशेष या अधिक जानने का कोई प्रयोजन (मतलब) जो नहीं है। बस ! इसी प्रकार जब तक संसार में मतलब है तब तक ही मतलब के अनुसार वस्तुओं को भिन्न-भिन्न सत्ता (हस्ती) दी गई है, परन्तु सांसारिक वस्तुओं का महत्त्व जीवन रहते-रहते ही सब का मरते समय तक समाप्त हो जाएगा। मरने के

पश्चात् देह न रहने पर तो उनको केवल घास-फूस के समान एक ही नाम से कहना पड़ेगा। साधारण जन तो अपनी बुद्धि के अनुसार वन की सब जड़ी-बूटी के समुदाय को घास-फूस कह कर उन को मन से उतार कर अपने मन को हल्का कर गया। उनके लिये सोचने विचारने के लिये एक क्षण भी देना उसे अनुचित या भारी प्रतीत हुआ; परन्तु जो उन्हीं घास-फूस या आकृति में रोग को दूर करने की जड़ी या बूटी रूप से उन्हें पहचान रहा है, उसका मन या मस्तक उन्हीं में न जाने कैसा-कैसा उलझ रहा है।

अब यहाँ शास्त्र के ऋषियों के अनुसार हमने सब को घास-फूस का नाम देने की बजाए इन सब को मिट्टी, पानी, गर्मी (तेज), वायु और आकाश रूप पाँच भूतों का रूप समझना है। परन्तु इससे आगे बढ़ कर उन्हीं शास्त्र के ऋषियों के मार्ग के अनुसार पाँच भूतों को भी पहचानने वाली बुद्धि ही है; इसलिये जैसा बुद्धि ने इन पाँचों को पहचाना वैसा ही इन को मिट्टी आदि के पाँच नाम दिये। जब बुद्धि ही घास-फूस को अलग-अलग न समझ कर पाँच में पहुँची तो यही बुद्धि यही बतलायेगी कि यह सब कुछ नहीं जैसे कि बुद्धि ने पहचाना वैसी यह बुद्धि की ही दी हुई सत्ता या हस्ती से बुद्धि सत्त्व स्वरूप विज्ञान या समझ की ही आकृतियां हैं। सत्ता (हस्ती) का ही एक दूसरा नाम सत्त्व है। 'बुद्धि सत्त्व' शब्द का यही अर्थ हुआ कि बुद्धि ने या समझ ने जिस को सत्ता (हस्ती) दी। वैसे वह कुछ अपने आप में सत्ता या हस्ती वाला कुछ भी नहीं।

केवल जिस कारण से हमारी समझने की शक्ति रूप बुद्धि ने उसे कुछ समझ लिया, जो कुछ उसने (बुद्धि ने) समझ लिया, बस ! इसी समझने ने ही उसे सत् बना दिया या सत्ता या हस्ती वाला पहचान लिया, यही 'बुद्धि सत्त्व' शब्द से इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर कहा गया है। सब बुद्धि विज्ञान की ही मूर्तियाँ हैं।

जब सब में आप ने बुद्धि विज्ञान ही देख लिया, पहचान लिया तो विविधता अर्थात् उन सब भिन्न-भिन्न में सम तत्त्व ही दीखेगा। अर्थात् जैसे एक की बुद्धि (निश्चय करने की शक्ति) वैसे ही सब में समान ही है। यही बुद्धि ही पहचानती है, यही नाम देती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो भी कार्य तथा सत्ता या हस्ती (इस संसार में प्रसिद्ध) हम जन्म से पाते हैं, वह सब केवल बुद्धि की समझ रूप में ही है।

जब सर्वत्र एक ही महान् तत्त्व रूप बुद्धि ही है तो अब यह भी पुरुष को समान रूप से, समरस केवल समझ के रूप में चेतन स्वरूप में समझने में हमें कोई अड़चन नहीं रहने देगी।

जैसे घास-फूस समझ कर केवल उन सब की अवहेलना या उपेक्षा करने का ही काम उस साधारण पुरुष ने किया, वैसे ही हम ने भी विवेक, बोध, सत्य ज्ञान द्वारा ध्यान में इन सब सांसारिक पदार्थों का प्रयोजन तुच्छ देख लेना है, क्योंकि यह केवल अज्ञानी या बालक की दशा में ही सब अच्छे हैं। जब रोग, शोक, वैर, विरोध, भय, शंका, पराधीनता आदि अनर्थों को करने वाले यही पहचाने गये तो

सब घास-फूस के समान पाँच तत्त्व ही हैं या पुनः आगे बढ़ कर केवल बुद्धि सत्त्व या विज्ञान द्वारा हस्ती दिये गये पदार्थ विज्ञान रूप ही हैं। केवल इतने से इनकी उपेक्षा करनी है। यही उपेक्षा (संसार को ध्यान में न बसाना) ही साधना है। इन सब सांसारिक पदार्थों के उपयोगों के दोष देखकर इनसे वैराग्य को प्राप्त होकर इनकी सत्ता (हस्ती) ही उड़ा देनी है। अन्त में ये सब बाह्य समझ में पड़ने वाले पदार्थ किसी के भी काम के तो रहते नहीं। परंन्तु इनकी तृष्णा रूप शक्ति के कारण से उद्योग, साधना और धर्म के भाव से रहित व्यक्ति को खाली मन भी तो नहीं बैठने देता। इसलिये वह सत्य मार्ग से विहीन इसी तृष्णा के साथ इन्हीं सब वस्तुओं को और इन्हीं के संग वाली मिथ्या 'मैं' को लिये-लिये ही मरता है। ध्यान, विचार, विवेक में अपने मन को लगाकर सत्य को नहीं पहचानता जिससे कि इन सब की भिन्न-भिन्न रूपता में भी एक ही सम तत्त्व समझ या चेतन रूप से पहचानने में आये। सब के पृथक्-पृथक् विज्ञान में केवल सार रूप तो केवल ज्ञान-ही-ज्ञान है या समझ-ही-समझ है। ऐसा पहचाने तो मनुष्य केवल सब का एक स्वरूप, समान स्वभाव वाले ज्ञान रूप चेतन में ही प्रतिष्ठा पायेगा। उसके मन में संसार का स्वार्थ न रहने से, स्वार्थ ही दुःख रूप दीखने से, उससे मन सदा के लिये बुझ भी जायेगा, उसे संसार की कोई वस्तु स्मरण (याद) में भी नहीं आयेगी। यही संसार मन से उतर जाना, संसार वाला मन बुझ जाना ही निर्वाण पद कहा जाता है। यहाँ केवल ज्ञान स्वरूप की स्थायी शान्ति मिलती है।

इस प्रकार विविधता में (अनेक भिन्न-भिन्न भावों या वस्तुओं में) हमें समरूप से केवल एक ही चेतन ज्ञानरूप सार या तत्त्व का दर्शन करना है, तभी निर्वाण की प्राप्ति होगी।

इस सारे पद्य का सरल अर्थ तथा भाव यही है कि मनुष्य जो कुछ भी बाहर संसार में वस्तुओं की सत्ता (हस्ती) देखता या समझता है, उन सब में बुद्धि के धोखे को पहचाने कि उन सब वस्तुओं में बुद्धि या हमारी समझ ही छिपी बैठी सब कुछ 'इस, उस' रूप में दीख रही है। और बुद्धि में केवल ज्ञान रूप से बसा केवल पुरुष का अपना शुद्ध ज्ञान-ही-ज्ञान है। भेदभाव सब कल्पना मात्र है। ऐसी समझ या ज्ञान जब स्थिरता प्राप्त करेगा तो सब संसार के दुःखों से छुटकारा मिल जायेगा। संसार वाला मन ही बुझ जायेगा। केवल ज्ञान-ही-ज्ञान स्वरूप में स्थिति प्राप्त होगी। यही निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति समझी जायेगी। बुद्धि में सार रूप तो ज्ञान या पुरुष का सही स्वरूप चेतन ही है। शेष (बाकी) जो इस-उस वस्तु का जो स्वरूप बुद्धि बताती है वह सब असार या मिथ्या बान्धने वाला होने से दुःख रूप ही है। इसी से पीछा छुड़ाना है। जब तक देह में शक्ति है तब तक तो थोड़ा उपयोग भले ही मनुष्य इन वस्तुओं का देखे भी। जब उनके संग का सब सुख अब नहीं रहा तो एक मन वह है जो इन्हीं वस्तुओं को मन मे बसाये दुर्गति तथा दुःख देखता है। दूसरा वह श्रद्धा वाला जो शास्त्र की रीति से उन वस्तुओं को मन से उतारने पर हल्का होकर केवल अपने आप में

ही सुख का अनुभव करता है। जब तक संसार नहीं भूलता तब तक केवल पुरुष के ज्ञान स्वरूप का सुख प्रकट नहीं होता। जब संसार का भार टल गया, या संसार का मन बुझ गया तभी यह आत्मा का सुख प्रकट होगा। देखने वालों ने देखा है। इसी सत्य पर विश्वास तथा श्रद्धा रख कर उद्योग करे।

दीखे दुःख की आग में इक वही विज्ञान,
और शम सुख के जल में, वर्षे सोई इक महान्।
देखा कुछ-का-कुछ बालक ने वह बहिः;
अन्तर्मुख विज्ञ जो परखे वही सर्वत्र सहि।।

। ३०५ ।

पीछे के दो पद्यों में यह दर्शाया गया कि दूसरों से न्यारा या भिन्न अपने आप को मानने से, व्यापक सब में समरूप तत्त्व में मनुष्य का मन प्रवेश नहीं पा सकता। वह अपनी भेदभाव वाली सांसारिक कामनाओं वाली 'मैं' को ही बनाये रखने में अपना आपा बना बसा समझता है। परे वाला उसकी दृष्टि में नहीं पड़ता। इसी प्रकार अपनी सांसारिक 'मैं' को पाने के लिये सारे संसार की वस्तुओं को भी वह सत्य समझता है; इसलिये कामात्मा रूप जीव को वस्तुओं वाला संसार ही सत्य दीख पड़ता है। तब वह सर्व स्वरूप आत्मा या परमात्मा में प्रतिष्ठा नहीं पा सकता।

अब यह पद्य यह दर्शा रहा है कि वह क्यों दुःख स्वरूप सदा न बने रहने वाली 'मैं' के पीछे इतना पड़ता है और क्यों इस संसार के पदार्थों में और प्राणियों में आस्था बनाये हुए है ? और पुनः कैसे वह जीव परम तत्त्व

का साक्षात्कार करेगा ? इत्यादि सबका समाधान रूप यह पद्य है।

पद्यार्थ :- जब दुःख की, अपने आपको प्रतिकूल रूप से अनुभव में आने वाली अग्नि मन में जलती है तो उसमें अधीर होकर पुरुष या कोई भी जीव उसे झटपट बुझाने के लिये पुरानी आदतों के वशीभूत होकर संसार के प्राणी और पदार्थों का ही सहारा खोजने भागता है। थोड़ा भी धैर्य रख कर अपना सही हित नहीं खोजता। उस दुःख के अनुभव को विज्ञान रूप से नहीं समझ सकता। उतना धैर्य नहीं रख पाता कि इस दुःख की आग में टिका-टिका 'मैं' इस दुःख को भी या दुःख के अनुभव को भी केवल वही समझने की शक्ति रूप बुद्धि की ही अवस्था समझूँ। इस दुःख को भी विज्ञान का स्वरूप ही पहचानूँ और दुःख को सहन करते-करते बुद्धि चेतन करके इसके कारण को भी पहचानूँ। यदि मिथ्या दुःख का कारण केवल तृष्णा को पूरी न करना ही है तो इससे अधीर न होकर इस व्यर्थ की तृष्णा को पूरी न करता हुआ इसके दुःख को केवल दुःख के ज्ञान (विज्ञान) पर ही क्षण-क्षण दृष्टि रखता हुआ इस तृष्णा के समय को निकाल दूँ। तब भी तो दुःख की आग नहीं दीखेगी, समय पाकर बुझ ही जायेगी। तब केवल विज्ञान-ही-विज्ञान दुःख रूप में बसा दीखेगा और सांसारिक 'मैं' भी नहीं जन्मेगी। पदार्थों की भी याद नहीं आयेगी। इस प्रकार जिस व्यर्थ की तृष्णा के दुःख को बुद्धि समझ रही है या अनुभव कर रही है कि यह 'दुःख है', वह केवल विज्ञान रूप ही दीखेगा; और अन्त में इसी विज्ञान में भी केवल

अपनी आत्मा का शुद्ध ज्ञान रूप ही अनुभव में आयेगा। जहाँ कि सब दुःख टल जाता है; अन्त में आनन्द मात्र ही रहता है। ऐसे ही दुःख न रहने पर या सुख का ही अनुकूल (माफिक) रूप से अनुभव होने पर अथवा दुःख के शम (शान्ति) रूप सुख में भी उसी एक विज्ञान को ही पहचाने। कहीं इस सुख के कारण से भी प्राणी और पदार्थों के संसार में न भागे। उनसे राग की आग में जलने का रास्ता टाले, इस प्रकार दुःख या सुख इन दोनों प्रकार की अग्नि या जल में समरूप केवल एक विज्ञान ही पहचाने। अपने दुःख के द्वेष से और सुख के राग से अज्ञानी जीव रूप बालक ने जो कि अपने दुःख सहनशक्ति रख कर न मिटा सका, बाहर जगत् के प्राणी और पदार्थों को कुछ-का-कुछ रूप से स्मरण करके और उन्हें ही सुख देने वाले या दुःख मिटाने वाले रूप में याद करके पुनः संसार में ही अपनी 'मैं' को पुष्ट किया होता है। जो अन्तर्मुख, विशेष बोध वाला पुरुष है वह जो सम तत्त्व सब में पहचानता है, वह सम तत्त्व ही सही ठीक है; आत्मानन्द देने वाला भी वही होता है। दुःख और सुख में यत्न द्वारा, ज्ञान विचार रखते-रखते सम रहना ही इस पद्य का भावार्थ है। यदि जीवन भर विशेष करके वृद्धावस्था में या रोग आदि की अवस्था में भी बाहर के ही प्राणी और पदार्थों के सहारे से दुःख को हटाकर सुख पाने की लालसा बनी रही तो यह (अवस्था), कितना भी कोई यत्न कर ले सदा बनी रहने की नहीं। इन्हीं बाहर की वस्तुओं की दासता के कारण मनुष्य का मन इतना बाहर संसार में भटका रहेगा कि इसे सदा उसी मन की भटकन

का ही दुःख कई एक शारीरिक रोगों के रूप में भी दुःखी करेगा। ऐसा ही सहारा जो जीवन भर बनाये रखने पर तुला रहे वही जीव (प्राणी) यहाँ बालक रूप से कहा गया है। वह कई एक देहधारियों को कई एक रास्तों से अपना बना कर भी अन्त समय तक सुखी नहीं हो सकेगा। और पदार्थों को भी सुख देने वाले समझता हुआ उनसे सदा सुख न पा सकेगा।

परन्तु अन्तर्मुख पुरुष अपने विचार द्वारा ऊपर कहे के अनुसार सत्य को पहचान कर बाहर की तृष्णा को मिथ्या रूप से पूरा न करता हुआ केवल ध्यान द्वारा अपने आसन पर ही बैठा-बैठा उस तृष्णा पूरी न करने के दुःख को ज्ञान तथा बुद्धि रखता हुआ देखते-देखते भी समय व्यतीत करके मिटा सकता है; और प्रत्येक मन की दुःख रूप तरंग को केवल अनुभव या मन में होने वाले ज्ञान के स्वरूप से ही समझता हुआ, सही ज्ञान को रखता-रखता समय व्यतीत कर सकता है, तो उसी का मन एक दिन ऐसे भी सध जायेगा कि पुरानी तृष्णा जैसे-जैसे मन में हो-हो कर टलती जायेगी, वैसे ही टालते-टालते पूरी तृष्णा आसन पर ही टाल कर मन को सुखी बना लेगा। मन एक जैसा कभी नहीं रहता; बदलते-बदलते क्या-का-क्या भी हो जाता है। नींद भी लाता है। जागते-जागते भी एक दिन सब तृष्णा की खींच के दुःख को टालकर सुखी भी होगा। यही अन्तिम सही सहारा है, जो कि बहिर्मुखता से टलकर बाहर ज्ञान को न भटका कर अपने अन्दर मन या आत्मा की खोज करते-करते सही मार्ग द्वारा सारे संसार के दुःखों

से छुटकारा पाने वाले विद्वान् अपने अनुभव द्वारा जानते हैं तथा बताते हैं।

विज्ञप्ति की इक सार बहती रहे धार,
यहाँ कहीं रुकी करे अविद्या संचार।
जैसा तैसा जग का जगावे संस्कार;
आत्मा में जो चेते सो जावे भव पार।।

। ३०६ ।

गत पद्य में जो यह बतलाया गया कि तृष्णा को बाहर के साधनों द्वारा पूरा करके सुख पाने के बजाये उसे ज्ञान तथा विचार रखकर आसन पर ही टालने से उस तृष्णा के अधूरे रहने का दुःख स्वयं ही टल जायेगा। और दुःख के टलते ही अपना आपा या अपनी आत्मा का आनन्द भी प्रकट होगा। अर्थात् केवल अपना आपा ही सुखी जचने लगेगा। इसी सुख को पाकर संसार के बारे में कुछ सोचने या समझने की इच्छा या भाव भी नहीं रहेगा। गत तीन पद्यों में यह सत्य दर्शाया गया था कि सांसारिक सुख या दुःख के स्वार्थ के कारण मनुष्य या जीव, संसार की वस्तुओं से तथा वस्तुओं के संग वाली दूसरों से भेदभाव वाली 'मैं' या 'कामात्मा' के साथ चिपका रहने से ही सत्, चित्, आनन्द रूप जो आत्मा है उससे दूर ही रहता है; इसलिये उसे केवल विज्ञान मात्र की दृष्टि बनाकर सब वस्तुएं तथा सांसारिक अपनी 'मैं' को सत्ता या हस्ती न देते हुए केवल एक ही विज्ञान अपने ध्यान में बहता हुआ समझते रहने से शुद्ध आत्मा (सत्, चित्, आनन्द) में स्थिरता प्राप्त होगी।

अब यह पद्य यह सत्य दर्शा रहा है कि यही हमारी आत्मा तो सदा हमारे साथ ही है और वह एक जैसी प्रकट भी होती रहती है। परन्तु इसे तृष्णा की छिपी हुई अवस्था, अविद्या आकर घेर लेती है और वही पुनः पुराने संस्कार जगाकर संसार में ही इसी आत्मा को जन्माती है। अब हम ने इस आत्मा पर ढक्कन रूप से पड़ी अविद्या की रात्रि को हटाना है और उसे हटाने के लिये पहले संसार की तृष्णा का बन्धन, बोध को जनाकर, छोड़ना है। तब आत्मा अपने असल (वास्तव) सत्, चित्, आनन्द रूप में प्रकट हो जायेगी। तब पुनः संसार या भव सागर में भी डूबे रहना नहीं पड़ेगा।

पद्यार्थ :- पद्य का सरल अर्थ तो इतना ही है कि मनुष्य या जीव मात्र में विज्ञप्ति (विज्ञान) की धारा एक जैसी सदा ही बहती रहती है। जहाँ कहीं यह धारा तृष्णा वाले मन में चुपके से घुसने पर रुकने लगती है तब समझो कि अविद्या ने अपना पदार्पण कर दिया और आत्मा का प्रकट स्वरूप ढाँक दिया। जब अविद्या का संचार हुआ तो यही अविद्या ज्ञान की भूख के समान, मन को ज्ञान-शून्य रखती हुई ज्ञान को ही उत्पन्न करने के लिये पुराने संस्कारों को जगा-जगा कर मन को बाह्य ज्ञान से भरती है; संस्कारों में केवल तृष्णा ही बसी है जो संसार में एक दूसरे के सम्बन्ध में होने के लिये (भव में) ही उकसाती है। परन्तु ऐसी अवस्था में जो बोध या सत्य ज्ञान को चेता कर संसार में एक दूसरे के साथ होने (भव) के बजाये अपने आप आत्मा में ही चेतन रहे या जागे, संसार में होने का

दुःख दर्शन करके तृष्णा को ठुकराता रहे तो वह व्यक्ति एक दूसरे में होने रूप भव के दुःख से पार पहुँच जायेगा तथा भोग तृष्णा की धारा में बहने से अपने को बचाता हुआ और इसी तृष्णा के संस्कार या वासनाओं से बचता हुआ आत्मा में सुखी होगा। केवल तृष्णा के अपने समय की मिथ्या और दुःखदायी अनुचित खींच का ही सामना (मुकाबला) करना थोड़ा कठिन-सा दिखायी देता है। परन्तु असम्भव यहाँ कुछ भी नहीं। इस तृष्णा का सामना करने पर तथा इसके दुःख को देखते-देखते सहन करने की शक्ति रखने पर यही तृष्णा समय पाकर निश्चय ही अपने आप टलेगी। यह वेदों के विद्वान् ऋषियों का अनुभव है। श्रद्धा तथा विश्वास रखे। जीवन इसी के अनुकूल साधने में लगाये। तृष्णा के टलते ही जो आत्मा अभी दृष्टि (नज़र) में नहीं आता वही प्रथम अपना आनन्द प्रकट कर के आपको आह्वान करेगा; बुलायेगा, 'कि झाँको तो सही, कि मैं भी हूँ, और समझो कि मैं कौन हूँ'। आप को अन्दर से ही बुद्धि उपजेगी। विचार द्वारा निश्चय देगी कि यह तो मेरा अपना स्वरूप ही है और केवल यह ही नहीं यह तो सारे विश्व की आत्मा स्वरूप ब्रह्म है, जिसे वेदों के ऋषियों ने सब जगत् में, सब के समान सब में रहते हुए भी पवित्र और साधना वाले जीवन द्वारा पाया है। सब में यह समान ही है परन्तु बाहर की 'तेरी,मेरी' से ढका रहता है। एक दूसरे को देखकर बाहर के सुख-दुःख के स्वार्थ के कारण पृथक्-पृथक् (अलग-अलग) दीखता है। तृष्णा के न रहने पर तो केवल एक ज्ञान स्वरूप और क्षण-क्षण चेतते

या नया-नया प्रकट होने से चेतन रूप ही है। केवल तृष्णा ने इसे अपने सांसारिक राग-द्वेष आदि बन्धनों से ढांक रखा है। अथवा इसी तृष्णा की सोई हुई अवस्था अविद्या ने एक पर्दा-सा डाल करके इसके ज्ञान को होते तथा बसे हुए को भी 'न होता हुआ' सा दिखा रखा है। यही सब अन्त का सब पुरुषों का सही सहारा हो सकता है। उस अज्ञानी बालक का जो कुछ संसार में सहारा समझा हुआ है वह मिथ्या ही है।

रही जो सूझ बूझ तो अविद्या दीनी टार,
निज में जो रहा बोध तो न पड़ो मंझधार।
थोड़ी-सी जो वेदना को सहले, निज में मन;
बन्ध छूटे, सुख पावे, सीखे पर शमन।।
। ३०७ ।

गत पद्य की अन्तिम पंक्ति का स्पष्टीकरण (खोल कर बतलाना) करता हुआ यह पद्य उसी पद्य के अर्थ को विस्तार से दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- यहाँ भी पद्य का सरल अर्थ तो इतना ही है कि यदि अविद्या का संचार होने पर तथा संस्कार जगाकर संसार में ही जाने की प्रेरणा करने पर, किसी उद्योगी, विवेकी पुरुष की स्मृति और मति ठिकाने रहे तो अविद्या टाली भी जा सकेगी। वैसे ही अपने में बोध या सत्य ज्ञान (असलीयत की खबर) बना रहा तो संसार की धारा के मध्य में नहीं पड़ना पड़ेगा। परन्तु इसके लिये थोड़ी वेदना (दुःख रूप विपरीत या प्रतिकूल रूप से मन में होने वाला अनुभव) तो अपने आप में ही मन को सहन करनी पड़ेगी।

इस दुःख रूप वेदना से परेशानी मानकर झटपट संसार में ही भागने की आदत वाले संस्कारों के चक्कर में न पड़ना होगा। तब, यदि बोध जगाकर, संसार में दुःख मिटाने के लिये बाहर का सहारा न लेकर, अपनी आत्मा या अपने आप में ही दुःख सहन करते-करते टाल दिया तो संसार का या तृष्णा का बन्धन छूटेगा, उससे मुक्ति मिलेगी, मुक्ति मिलते ही आत्मा में अपने आप में सुख होगा। परन्तु इसके लिये तृष्णा का दुःख दिखला कर संसार में ही प्रेरित करने की दशा में जो मन तुरन्त संसार में जाने के लिये भड़क जाता है या उद्यत (बड़ी तेजी से तत्पर) हो जाता है, उसे युक्ति, तर्क तथा विचार जगाकर शान्त (शमन) करना सीखना पड़ेगा। अर्थात् दुःख को सहन करने की आदत बनानी पड़ेगी। इसका भी अभ्यास करना पड़ेगा तब कहीं समय पाकर सब संसार की तृष्णा का भड़काव भी आत्मा में ही शान्त हो जाने पर परमानन्द की प्राप्ति होगी।

पद्य की अन्तिम पंक्ति के अन्त में जो कहा कि 'सीखे पर शमन', इस का यह भाव है कि जब से मनुष्य ने होश सम्भाला है उसे यही अभ्यास या आदत बन चुकी है कि जब कभी दुःख हुआ तथा उससे मन भड़का तो जैसे यह मन का भड़काव इस जीव को प्रेरित करता है या धकेलता है तो उधर ही साधारण जीव के समान बहता जाता है। इस प्रकार प्रकृति के अधीन ही रहता है। परन्तु जो दुःख से होने वाले भड़कावों को विचार में रखकर थोड़ा सहन करने का अभ्यास करता है और झटपट बाहर कुछ भड़कावे के ढंग

का नहीं करता, वैसा करने में दोष देखता है; इस प्रकार जो पुरानी आदत पड़ी है उसे पूरा न करता हुआ अपने आपको दुःख में धारण करने की आदत डालता है; इसी प्रकार साधता है, यही मनुष्य 'मन का शमन' करना सीख रहा है। दुःख को सहन कर लेना ही सीखना है। इससे कभी थोड़ा फाके को भी सहन करके देखना, कभी थोड़ा निद्रा के वेग को टालकर तथा मन के भड़काव को पहचान कर दूसरों के दृष्टान्त से सहन करना भी सीखना; जैसे कोई दूसरा रात्रि भर भी जागता रहकर जीवित रहता है; वैसे 'मैं भी देखूँ' कि कभी आधी रात तक या कभी यदि अवसर प्राप्त हुआ तो शिवरात्रि जैसे मौके पर रात्रि भर भी जाग कर देखूँ तो सही कि 'मन' किधर-किधर के भड़काव करता है। कैसे दुःखी करता है ? और दुःख को सहन करना सीखूँ। उसे शमन करता हुआ सुख को टाल कर दुःख में ज्ञान रखता हुआ अपने को शान्त रखने की आदत डालना या अभ्यास करना ही 'मन के शमन' का अभ्यास है। इससे मनुष्य को अपने मन की खबर पड़ने लग जाती है। मनुष्य अन्तर्मुख हो जाता है। कभी धूप या गर्मी का कष्ट आ पड़ने पर अपने आप में झटपट बाहर के ढंग से किन्हीं धनियों के सुखों को न याद करे; अपने गर्मी के दुःख में भी मन को शीतल रखकर दुःख का समय निकाल ही दे। वैसे शैल्य (ठण्डी) के भी दुःख को प्रातः शीतल जल से स्नान करता हुआ धैर्य से सहन करे। इसी प्रकार किसी अपमानजनक बर्ताव में, या सुख के बिगड़ने पर भी अपने मन को शान्त रखना सीखे। स्मृति में रहकर, विचार रखकर इन सब दुःखों को जो अपने आप में

शान्त कर सकता है वह मनुष्य इसी जीवन में भड़की हुई सब प्रकार की सूक्ष्म तृष्णा को भी पहचान कर एक दिन आसन पर ही बैठा-बैठा टालकर अपने आत्मा में सुख पायेगा। इस सब शमन का मूल मन्त्र केवल यही है कि सारे जीवन को दृष्टि में रखकर विचार करता हुआ यही समझे कि अन्त में जो मैं धर्म रखकर साधन की दृष्टि से कर रहा हूँ, वही सब आयु के किसी भाग में सब को ही करना पड़ता है। मैं विचार से करके, इसके गुण से तृष्णा से मुक्ति पाऊँगा। दूसरा बिना विचार वाला अन्त में रो-रो कर कुरलाता हुआ मर कर उत्तम गति को प्राप्त नहीं होगा। इसलिये जैसे भी दुःख आ पड़े, अपने को शान्त रखे।

प्रियतर जो बाल को भाय, सुहाय,
तामें परिपक्व बुद्धि देखे दोषों का पूर।
परिपूर्ण प्रज्ञा या में स्थिरता को पाये;
वह है बाल की कल्पना से अति दूर।।

। ३०८ ।

गत पद्यों में जो कुछ भी साधन बतलाया गया है उस सब में जगत् की बढ़ी हुई तृष्णा और उसी के राग, द्वेष आदि बन्धनों को पहचान कर दुःख का मूल (जड़) इसे ही समझने के लिये ध्यान आदि उन्नत करना और पुनः तृष्णा के सब बन्धनों को पार करके आत्मा मात्र में शान्ति, सुख पाने की कथा थी। परन्तु इस सब साधन की परम्परा में अड़चन डालने वाली भी यही तृष्णा है। एक ओर से इसे रोकने का साधक पुरुष उद्योग करेगा और दूसरी ओर यह तृष्णा रोके जाने पर दुःख को उत्पन्न करके उसी प्राणी

को भयभीत करेगी; निरुत्साहित (उत्साहहीन) बनायेगी। और साधन आदि के मार्ग को छुड़ाकर बजाय इसके कि जन, मरने से पहले-पहले आत्मा में पूर्ण सुखी हो, यह उसे पुनः घसीट कर दूसरों के संग में ही रहने के सुख में बनाये रखने की प्रेरणा शक्ति के साथ करेगी। अब जो इस की शक्ति या बन्धनों के बल के आगे झुक गया और इसकी आज्ञा पालन न करने के दुःख से भयभीत हो गया वह तो आत्मा का स्वराज्य नहीं पा सकेगा। उसे ही यहाँ 'बाल' शब्द से पद्य में कहा गया है। जैसे थोड़े दुःख में भी बालक रोने लगता है, दुःख सह ही नहीं पाता, ऐसे ही यदि बाह्य जगत् में सदा बालक के समान ही कोई थोड़े से दुःख सहन की भी परेशानी मानता है, तो वह 'बाल' या 'बालक' ही शास्त्रों में कहा गया है। इस बालपने से भिन्न मार्ग उसका है जो ज्ञान में पूर्ण होता हुआ दुःख में स्थिर रह कर अपनी भलाई साधने से विचलित नहीं होता। यह पद्य ऊपर कहे गये भाव को ही दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जो बालक के समान दुःख में भीरु है, सदा सुख के पीछे भागने वाला है, उसको जो कुछ भाता है, सुहाता है उसमें परिपक्व बुद्धि वाला मनुष्य दोषों का ही समूह देखता है। ज्ञान से हीन बालक को हर एक तृष्णा को पूर्ण करना ही सुहावना प्रतीत होता है। परन्तु प्रत्येक तृष्णा को पूर्ण करने में तृष्णा के बढ़ने तथा बढ़कर रोग आदि उत्पन्न करने का भय परिपक्व बुद्धि वाले को होने से वह अपनी प्रज्ञा (सत्य के ज्ञान) में पूर्ण होता हुआ पुरुष तृष्णा के वेग को बुद्धिपूर्वक रोकने में स्थिर रहता है। भले

वैसा करने से पहले पहल दुःख ही क्यों न हो। क्योंकि उसे बढ़ी तृष्णा का दुःख अति भयंकर अपने ज्ञान में दीखता है। इसलिये तृष्णा के दुःख में भी वह स्थिर ही रहता हुआ उसके दुःख से एक दिन सदा के लिये पार होकर अपनी आत्मा में ही शान्ति और सुख के साथ स्थिरता पाने की सोचता है। आत्मा में स्थिरता और शान्ति है, यह बालक की कल्पना से अति दूर है, क्योंकि उस ने ध्यान आदि से सत्य नहीं परखा।

इस पद्य का यही तात्पर्य है कि सकल आयु भर तृष्णा पूरी करके उसके क्षणिक या अस्थायी सुख के ही दास नहीं बने रहना; प्रत्युत् (बल्कि) अपना समय बदलते हुए को दृष्टि में रखकर कुछ अपने जीवन को नियमों में बाँधने का यत्न रखना। तृष्णा का सुख स्वयं तो यह बतलायेगा नहीं कि यदि इसी विषयों के संग से होने वाले सुख को नियमों में नहीं बाँधा तो एक दिन यही विषयों का संग तथा सुख कितना भयंकर हो जायेगा। परन्तु मनुष्य को प्रभु ने ज्ञान शक्ति दी है, वह स्वयं अपने ध्यान से अपने को और दूसरों को समझता हुआ या उनकी पढ़ाई करता हुआ जान सकता है कि तृष्णा के सुख की ओर निम्न (ढालू) मन एक दिन बुरी तरह से दुःखों का शिकार हो जाता है। इसलिये उधर ही बालक के समान बिना सोचे विचारे बहते रहना सही नहीं है। परन्तु जिन्होंने पूर्ण ज्ञान पाकर, अपने को वश में रखकर केवल अपनी आत्मा में ही सुख पाया है, उनके मार्ग पर ही चलना सही है।

अविच्छिन्न संसृति स्रोत मिले,
जो देहादि में बाढ़े बाल का बल।
प्रतिष्ठित प्रज्ञायें नयन करें तो;
अनन्त मिले सन्निधि में अमल।। । ३०६ ।

गत पद्य में चर्चा में आये इन दो प्रकार के व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से ही अपने जीवन मार्ग के अनुसार परिणाम देखने पड़ेंगे। उन्हीं दो प्रकार के मार्ग और उनके अनुसार उनकी पहुँच की चर्चा इस पद्य में है।

पद्यार्थ :- यदि किसी व्यक्ति के देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि में बालक का ही बल बढ़ा अर्थात् जैसे संसार में होने बरतने में सुख प्रतीत हुआ वैसे ही बरता, वैसे ही किया, तो वैसा ही व्यवहार करते-करते अर्थात् चलते-चलते अन्त में यही देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सदा उसी तृष्णा की पूर्ति में ही इतने अभ्यस्त (आदी) हो जायेंगे कि बिना सोचे विचारे ही उधर की सोचेंगे। सांसारिक सुख या तृष्णा की पूर्ति बिना कोई दूसरा कर्म धर्म का विचार ही नहीं हो पायेगा, क्योंकि बढ़ा हुआ सुख का लोभ मन को अन्धा करके सब प्रकार के विपरीत संकल्प करवाकर क्रोध, अहंकार के साथ ही सब बुरे कर्मों में डाल देगा। बुद्धि भी वैसे ही निश्चय करने की आदत वाली बहुत प्रकार से तृष्णा पूर्ति के ही मार्गों को भला बतलायेगी। उन्हीं का निश्चय करवायेगी। अब यह सब इतना अभ्यस्त (आदी) हो जायेंगे कि निद्रा और स्वप्न में भी इन्हीं के ही वृत्तान्त दीखा करेंगे। तब इसका परिणाम यह होगा कि सदा संसार के स्रोत या प्रवाह में बहते रहना ही प्राप्त होगा।

सुख समझ कर कई एक कर्म किये जाते हैं। परन्तु उनके पीछे के परिणाम (नतीज़े) की बुद्धि बालक को पहले नहीं उपजती; दुःख पाने पर उपजी भी, तो अब केवल दुःख को ही भोग रूप में दिखलाती हुई शोक आदि में ही डुबाये रखेगी। यह बालक के अज्ञान के साथ तृष्णा की दासता का बल है और उसका परिणाम है दुर्गति।

यदि ध्यान, विचार द्वारा थोड़ा तृष्णा के मार्ग को रोक कर, सत्य का ज्ञान रूप प्रज्ञा उपजा ली और दुःख उत्पन्न होने से पहले ही अपनी बुद्धि द्वारा जानकर उसका (दुःख का) मार्ग ही रोक दिया तो यही प्रतिष्ठित (भली प्रकार से टिकी) प्रज्ञाओं (सत्य ज्ञानों) का बल है। यदि यही ज्ञान मनुष्य का नेतृत्व करे तो अनन्त आत्मा, सब में समान सुख आनन्द रूप से समाधि में अपने निकट ही प्राप्त हो जाता है। वह सब अविद्या, मान, मोह, राग, द्वेष आदि बन्धनों से परे है। इसलिये सब दुःख इसमें नहीं हैं और यह सुख रूप अनन्त है अर्थात् इसका सुख भी अनन्त है।

इस पद्य का यही तात्पर्य है कि संसार के भोगों तथा सुखों वाले मन में जब ये भोग नहीं रहते तो इन्हीं भोगों तथा सांसारिक सुखों की खींच रूप तृष्णा का तनाव सोई हुई अवस्था में होने के कारण ज्ञान या आनन्द रूप आत्मा तो ढका सा ही रहता है। उसका सुख या ज्ञान प्रकट नहीं होता। केवल सांसारिक भोगों में ही मन का झुकाव होने के कारण आत्मा पर अविद्या का पर्दा पड़ा रहता है। ज्ञान बिना तो अपना नाश सा प्रतीत होता है, तब पुनः ज्ञान पाने के लिये संसार में ही जन्मना पड़ता है। इस प्रकार

यह संसार का प्रवाह कभी भी समाप्त होने वाला नहीं होगा। यही बालक या अज्ञानी में अज्ञान तथा तृष्णा रूप बल के बढ़ने पर होगा। यदि ज्ञान तथा विचार द्वारा जीवन काल में ही इन्हीं सांसारिक भोगों तथा विषयों के सुखों की खींच रूप तृष्णा को रोग समझकर हमने मन से उतार दिया तो यही सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा ने हमारा नयन या नेतृत्व किया अर्थात् इसी सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा के पीछे-पीछे हमने चलकर सारी जगत् की तृष्णा को रोग समझकर मन से ही उतार दिया। इसी तृष्णा की खींच न रहने पर या मन से उतर जाने पर इसी मन या अपने आप में आत्मा का ज्ञान तथा आनन्द प्रकट हो गया। आत्मा तो नाश रहित है तो प्रकट आत्मा का अनन्त आनन्द भी अपने निकट ही मिल गया।

ॐ इति सत्त्व विमुक्ति अभियान वर्ग ॐ

卐卐卐

卐 अथ तारक विज्ञान वर्ग 卐

तृष्णा माँगे दिनों दिन अपना आहार,
दूजा बहु कुछ दीजे नहीं परिहार।
नित्य निरन्तर रोग बढ़ता ही जाये;
सुख की तो कथा छोड़ो दुःख से बचाये।।
। ३१० ।

गत पद्य में दो प्रकार के व्यक्तियों के दो मार्ग बतलाये गये जो कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर पहुँचाते हैं।

अब इस पद्य में बालक जो मार्ग पकड़ता है और उसमें तृष्णा बढ़ती है तो अब उसकी चर्चा करते हुए यह पद्य यह सत्य सुझा रहा है कि अन्त में तृष्णा के पीछे भागने से वही तृष्णा का सुख भी नहीं मिलने का;तब उसके सुख की आशा अत्यन्त झूठी है। परन्तु यदि कोई इसके (तृष्णा पूर्ति करने के) उपजाये हुए दुःखों से भी बच जाये तो जानो यह भी भला ही है। उसके सुख की तो चर्चा ही छोड़ो। समय पाकर वह (तृष्णा का सुख) किसी भी उपाय से बनाया नहीं रखा जा सकेगा। इसलिये बुद्धि जन्मा कर आने वाले दुःख से ही बचने की सोचो।

पद्यार्थ :-तृष्णा प्रत्येक दिन अपना आहार (भोजन) माँगती है। जिस वस्तु की तृष्णा है, जो कुछ भी करने कराने से वह पूरी होती है वह सब उपस्थित करने से ही सुख होगा। जिसकी तृष्णा है वही वस्तु मिलने पर ही पूरी होगी। दूसरी वस्तु देने से तो नहीं होगी। मनुष्य तृष्णा पूर्ति के साधनों को इकट्ठा करता रहता है। परन्तु समय

पाकर इन्द्रिय और देह शिथिल होने पर बहुत सी तृष्णा अब पूरी तो की नहीं जा सकेगी। रोगादि भी बिना विचारे तृष्णा पूर्ण करने वाले को अन्त में परेशान करने लगते हैं। समय बलवान् है। इतना ही नहीं बढ़ी हुई तृष्णा अपना आहार भी माँगती है। परन्तु प्राणी दे नहीं सकेगा। तब सब धन और अन्य बहुत से साधन और बहुत सी दूसरी वस्तुएं इस तृष्णा को तुष्ट थोड़े कर सकेंगे अर्थात् तृष्णा को तृप्त नहीं कर सकेंगे। इसे (इस तृष्णा को) तो अपना आहार (भोजन) मिलना ही चाहिये। वह आहार भोगों की अधिकता द्वारा अब रोगादि के कारण से देना असम्भव हो जाता है। अब तृष्णा का आहार यदि इसे देते हैं तो उससे पूर्व वाला सुख मिलना तो दूर रहा किन्तु इतना भी आप के हित के लिये ही होगा कि तृष्णा कोई भूल करवा कर सुख के स्थान पर और भी अधिक दुःख ही न दे जाये। इसलिये अब संयम का पाठ पढ़ना ही पड़ेगा। यदि कुछ समय पहले पढ़ लिया होता तो यह दुःख का समय आना ही बच जाता। परन्तु अब सुख के स्थान पर दुःख से बचाव में ही अधिक ध्यान रखना पड़ेगा। यदि यह पहले से ही बुद्धिमत्ता अपना ली होती तो ही भला होता। ऐसा समझ कर मनुष्य को बुद्धिमान् बनना चाहिए, यही इस पद्य का भाव है।

दुःख के हों लम्बे-लम्बे क्षण,
उन्हें परखता जागे जीते जग रण।
तृष्णा का तनाव सहता जाये;
क्षण-क्षण चेता चित्त भी रमाय।। ।३११।

गत तीन पद्यों में दो प्रकार के व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न मार्ग दर्शाये गये। एक वे जिन्हें 'बाल' शब्द से कहा गया; वे तो जैसे ही तृष्णा के बन्धन और विकारों का बल अपना तनाव करेगा, वैसे ही उस तनाव के साथ वे बह जायेंगे और काम इच्छा की पूर्ति करने में अपना आगे पड़ने वाला भला बुरा भी न समझते हुए बहाव में बहकर दुष्कर्म करके पीछे दुःखी होंगे। क्रोध के जोश या वेग में बहने पर किसी भी दूसरे को अनुचित प्रकार से दण्ड देंगे और उसका जो भी बुरा होगा, करेंगे; चाहे उन्हें पीछे रो-रो कर पश्चात्ताप ही करना पड़े। वैसे ही लोभ आदि के प्रवाह में अनुचित प्रकार से सुख का लोभ करके खाने-पीने आदि में भी सब स्थानों पर उल्टे कर्म करके सदा दुःखी रहने के मार्ग पर ही चलते रहेंगे। इनका मन केवल संसार में ही एक के पश्चात् किसी दूसरे कर्म में लगा सारा दिन दूसरों का ही संग अपना जीवन धारण करने के लिये खोजेगा। कभी कहीं और पुनः दूसरे बार कहीं। एक बार हुई-हुई कोई भी तृप्ति तो सदा रहने की नहीं, इसलिये ये व्यक्ति एक के बाद दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा आदि मन के बहलाव का या परचाने का रास्ता निकाल-निकाल कर संसार में ही सारे दिन में भी कई जगहों (स्थानों) पर जन्मते हैं। पुनः कई एक दूसरों के सहारे के टलने पर पुनः दूसरे व्यक्तियों में जन्मते हैं और पुनः उनसे भी बिछुड़ना रूप मृत्यु, यही देखते-देखते अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं। ऐसे ही मरने के उपरान्त अपने में टिकाव या स्थिरता तो मिलती नहीं, इस संसार के ही न टूटने वाले प्रवाह में

बहते रहते हैं। यही सब 'बाल' रूप से पीछे दर्शाये गये।

इनसे विपरीत तृष्णा के तनावों में उनका परिणाम (नतीज़ा) देखते हुए अपने को सम्भालने वाले पण्डित, ज्ञान प्रबुद्ध अर्थात् पूर्ण बोध वाले और धर्म के मार्ग में उद्योगी जन अन्त में उन तनावों द्वारा संसार की ओर अपना मुख (मुँह) नहीं खोलते, किन्तु अपनी आत्मा में ज्ञान, विज्ञान और सत्य ज्ञान को जगा-जगा कर दुःख के या तृष्णा के तनावों के कठिनता से भी व्यतीत होने वाले क्षणों को भी धैर्य से सहन कर लेते हैं। रोगी पुरुष अपनी रोगावस्था का दुःख भी तो एकान्त में सहता ही है। वह भी तब अकेला ही अपना दुःख सहते-सहते समय बिताता है। जो चिन्तन या चित्त धारा (सोचने का प्रवाह) संसार की ओर ले जाना भी चाहे जैसे कि बालक के मन को प्रेरणा देने वाला चित्त या चिन्तन धारा करती है तब वे अपने मन को तृष्णा की धारा में बह जाने का दुःख ज्ञान दृष्टि में दिखलाते हुए अपने चित्त या चिन्तन धारा को चेताते रहते हैं अर्थात् अज्ञान या नासमझी में नहीं जाने देते। उस बालक के मार्ग से सम्भाले रहते हैं और दुःख के तनावपूर्ण तृष्णा के क्षणों को बड़े धैर्य से व्यतीत कर जाते हैं। वही जन संसार या भव सागर से पार उतर जाते हैं अर्थात् इस जन साधारण को बहाने वाले प्रवाह को पार कर जाते हैं; और संसार में ही विषयों के संग से या प्राणियों की व्यर्थ संगत से अपने को बचाये रखकर अपनी आत्मा में ही अधिक समय व्यतीत करने के अभ्यासी हो जाते हैं। अन्त में इसी आत्मा में बसे रहना उन्हें आनन्ददायक प्रतीत होने

लग जाता है। अब संसार की तृष्णा उन्हें नहीं खींच सकती क्योंकि उन्होंने उसके बल को जीत लिया होता है। यही जग की ओर खिंचने से बचे रहने के लिये जो युद्ध था उसमें ये प्रबुद्ध (सही बोध वाले) ज्ञानी जन अपने में अपने को ज्ञान दृष्टि द्वारा चेताने या जगाने में तत्पर सब तृष्णा के तनावों का दुःख कितना भी लम्बा होने पर सहन कर लेते हैं और अन्त में उन्हीं का, अज्ञान की निद्रा से जागने वाला या उससे चेतने या सम्भलने वाला चित्त भी इसी में रमण करने लग जाता है तथा इसी को खेल मानता है जो कि अपने को दुःख या तृष्णा के प्रवाह से सम्भालना है।

यद्यपि दुःख में छोटा-सा क्षण मात्र का समय भी व्यतीत करने में बड़ा लम्बा-सा प्रतीत होता है, परन्तु ऐसे दुःख के क्षणों में जो धैर्य रखकर ज्ञान द्वारा अपने को सम्भाले रखकर तथा संसार की ओर न भागकर अपनी आत्मा में सहन कर ले तो वह जगत् के साथ होने वाला युद्ध जीत लेगा। दुःख के सहन करने के क्षण तब तक ही लम्बे दीखते हैं जब तक अभी सहन करने का अभ्यास बल वाला नहीं हुआ। गर्मी या सर्दी का भी दुःख जैसे-जैसे कोई सहन करके पक्का हो गया तो वह गर्मी या सर्दी से घबराये बिना उनमें अपने कार्य में लगा रहता है। वैसे ही जो दुःख को देखते-देखते सहन करने का अभ्यासी हो गया तो उसके लिये पुनः दुःख के क्षण भी लम्बे न होकर क्षण मात्र ही दीखेंगे और स्वयं शान्त भी होते जायेंगे। केवल इतना अवश्य करें कि तृष्णा अपनी तृप्ति के लिये

जो संसार में ही खींचकर ले जाना चाहती है, और उसका एक कड़ा तनाव भी है; उस सब तनाव को भी रोग वाले जन के समान, जो कि अकेले में रोग के दुःख को देखता हुआ समय व्यतीत करता है, वैसे ही सहन कर ले और करता जाये; और ज्ञान द्वारा अपने को सम्भालता हुआ तृष्णा पूर्ति के दुःख को पहचानता रहे तो एक दिन उसका चित्त या चिन्तन की धारा या मन भी इसी में सुखी हो जायेगा और वैसा तृष्णा का तनाव सहने को खेल ही मानेगा। परन्तु ज्ञान या बोध जगा-जगा कर अपने को चेताता जाये अर्थात् चेतन रखे। इसी से संसार छूट जायेगा और आत्मा में ही नित्य सुख प्राप्त होगा।

विज्ञप्ति साक्षात् जो सुहाय,
परखा क्षण-क्षण भी सब में जाय।
कहीं देखन को मिले न अज्ञान;
भागे भ्रम, भय जगे पै विज्ञान।। ।३१२।

गत पद्य में यह सत्य स्पष्ट हुआ था कि अपने चित्त को चेताते हुए तृष्णा के तनावों या उद्वेगों के साथ न बह कर उसी तृष्णा के विकारों का दुःख सहन करते रहने से जगत् की खींच से मनुष्य पार हो जायेगा। जगत् को जीत लेगा। इसके बहाव में नहीं बहेगा। सत्य ज्ञान ही चित्त में जागता रहे। यही चित्त का चेताना है। अब इस पद्य में यह दर्शाया गया है कि मन को अविद्या की निद्रा से चेतन करने या जगाने के लिये प्रकट ज्ञान होना चाहिये। यही विशेष (खास) ज्ञान जो कुछ सत्य का चित्र हमारे सामने उपस्थित करे, उसे यहाँ विज्ञप्ति शब्द से सूचित किया

गया है। यह विज्ञानं रूप ही है, परन्तु कुछ विशेष ज्ञान को लिये हुए है। यही विज्ञप्ति शब्द का अर्थ है।

पद्य (३०६-३०७) में दर्शाये गये भाव के अनुसार जब ज्ञान स्वरूप आत्मा ढक जाता है; तब केवल अपने ज्ञान स्वरूप को ही पाने के लिये यही अपना आत्मा कहीं दूसरे ज्ञान पाने के लिये संसार में जाता है या भटकता है, यहाँ भी यही समझना। यदि यही अविद्या या अज्ञान का पर्दा न रहे तो सत्-चित्-आनन्द रूप आत्मा प्रकट रहने पर यह जीव अपने आप में ही शान्त रहता है। पर्दा अज्ञान का ही है। यह तृष्णा (संसार में ही होने की तृष्णा) ही अपनी छिपी अवस्था में अज्ञान या अविद्या के रूप में हमारे सत्-चित्-आनन्द स्वरूप को ढाँकंती है। यह जैसे ढाँकती है वह पीछे (३०६-३०७) पद्यों के भाव में दर्शा दिया गया है। यहाँ भी संक्षेप से उसे स्मरण करवाया जा रहा है।

समय पाकर या किसी भी समय में जैसा कुछ भी ज्ञान रूप से हमारे अनुभव में आ रहा है वह सत् (वर्तमान), चित् (ज्ञान के रूप में) ही आनन्द स्वरूप है। परन्तु आदतों वाला संसार का मन उसमें रमण न करता हुआ या अपनी मौज न देखता हुआ, जो सामने या सम्मुख है उससे अपनी ज्ञान की आँख को बन्द करके इसे कल्पना के अपने विषयों के सुख वाले संसार में खोल कर पुराने संस्कारों को स्फुरित करके कहीं दूसरी सांसारिक स्थिति में ही अपनी मौज समझता है। क्योंकि कभी वह स्थिति सुख वाली दीखी थी; अभी भले वैसी नहीं भी हो। हमें बजाय इसके कि अविद्या या अज्ञान में पड़े रहने के प्रकट

जो संसार में ही खींचकर ले जाना चाहती है, और उसका एक कड़ा तनाव भी है; उस सब तनाव को भी रोग वाले जन के समान, जो कि अकेले में रोग के दुःख को देखता हुआ समय व्यतीत करता है, वैसे ही सहन कर ले और करता जाये; और ज्ञान द्वारा अपने को सम्भालता हुआ तृष्णा पूर्ति के दुःख को पहचानता रहे तो एक दिन उसका चित्त या चिन्तन की धारा या मन भी इसी में सुखी हो जायेगा और वैसा तृष्णा का तनाव सहने को खेल ही मानेगा। परन्तु ज्ञान या बोध जगा-जगा कर अपने को चेताता जाये अर्थात् चेतन रखे। इसी से संसार छूट जायेगा और आत्मा में ही नित्य सुख प्राप्त होगा।

विज्ञप्ति साक्षात् जो सुहाय,
परखा क्षण-क्षण भी सब में जाय।
कहीं देखन को मिले न अज्ञान;
भागे भ्रम, भय जगे पै विज्ञान।। । ३१२ ।

गत पद्य में यह सत्य स्पष्ट हुआ था कि अपने चित्त को चेताते हुए तृष्णा के तनावों या उद्वेगों के साथ न बह कर उसी तृष्णा के विकारों का दुःख सहन करते रहने से जगत् की खींच से मनुष्य पार हो जायेगा। जगत् को जीत लेगा। इसके बहाव में नहीं बहेगा। सत्य ज्ञान ही चित्त में जागता रहे। यही चित्त का चेताना है। अब इस पद्य में यह दर्शाया गया है कि मन को अविद्या की निद्रा से चेतन करने या जगाने के लिये प्रकट ज्ञान होना चाहिये। यही विशेष (खास) ज्ञान जो कुछ सत्य का चित्र हमारे सामने उपस्थित करे, उसे यहाँ विज्ञप्ति शब्द से सूचित किया

卐卐卐

गया है। यह विज्ञानं रूप ही है, परन्तु कुछ विशेष ज्ञान को लिये हुए है। यही विज्ञप्ति शब्द का अर्थ है।

पद्य (३०६-३०७) में दर्शाये गये भाव के अनुसार जब ज्ञान स्वरूप आत्मा ढक जाता है; तब केवल अपने ज्ञान स्वरूप को ही पाने के लिये यही अपना आत्मा कहीं दूसरे ज्ञान पाने के लिये संसार में जाता है या भटकता है, यहाँ भी यही समझना। यदि यही अविद्या या अज्ञान का पर्दा न रहे तो सत्-चित्-आनन्द रूप आत्मा प्रकट रहने पर यह जीव अपने आप में ही शान्त रहता है। पर्दा अज्ञान का ही है। यह तृष्णा (संसार में ही होने की तृष्णा) ही अपनी छिपी अवस्था में अज्ञान या अविद्या के रूप में हमारे सत्-चित्-आनन्द स्वरूप को ढाँकती है। यह जैसे ढाँकती है वह पीछे (३०६-३०७) पद्यों के भाव में दर्शा दिया गया है। यहाँ भी संक्षेप से उसे स्मरण करवाया जा रहा है।

समय पाकर या किसी भी समय में जैसा कुछ भी ज्ञान रूप से हमारे अनुभव में आ रहा है वह सत् (वर्तमान), चित् (ज्ञान के रूप में) ही आनन्द स्वरूप है। परन्तु आदतों वाला संसार का मन उसमें रमण न करता हुआ या अपनी मौज न देखता हुआ, जो सामने या सम्मुख है उससे अपनी ज्ञान की आँख को बन्द करके इसे कल्पना के अपने विषयों के सुख वाले संसार में खोल कर पुराने संस्कारों को स्फुरित करके कहीं दूसरी सांसारिक स्थिति में ही अपनी मौज समझता है। क्योंकि कभी वह स्थिति सुख वाली दीखी थी; अभी भले वैसी नहीं भी हो। हमें बजाय इसके कि अविद्या या अज्ञान में पड़े रहने के प्रकट

सामने के सत्य के ज्ञान रूप विज्ञप्ति की शरण में जाना है। पुराना मिथ्या विषयों का सुख नहीं सोचना; उसे केवल तृष्णा ही सम्मुख लाती है। इसी मिथ्या तृष्णा को इसके सही उलझाने वाले स्वरूप में पहचान कर, इसी की पर्दा डालने की दशा रूप अविद्या को जीतना है और संसार के चक्कर से बचे रहना है। अपना ज्ञान जगाये रखना है। इसी सारे भाव को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जब हमें विज्ञप्ति अर्थात् सत्य को दर्शाने वाला प्रकट, विशेष (खास) ज्ञान हमारे सम्मुख स्पष्ट भासने लग जाये, तब वही सत्य का प्रकट ज्ञान क्षण-क्षण अर्थात् प्रत्येक क्षण सभी अपने मन की अवस्थाओं में पहचानने में भी आयेगा अर्थात् वह सदा जागता हुआ ही हमें सब सुख, दु:ख, मित्र, वैरी, प्रिय, अप्रिय, अपने, पराये आदि की समझ में भी मिलेगा और हमें सही मार्ग पर ही रखेगा। इसका यह तात्पर्य है कि जब-जब हमारे सामने मित्र या वैरी, प्रिय या अप्रिय पड़ेंगे तो संसार की तृष्णा तो राग या द्वेष द्वारा काम, क्रोध करवा कर पुराने सुख की ओर ही खींचेगी। परन्तु आपका ज्ञान यदि जागता रहा तो वह सही मार्ग पर ही आपको रखेगा। कहीं भी जागता वह ज्ञान अविद्या आने ही नहीं देगा। हमें सर्वत्र प्रत्येक क्षण इसी विज्ञान या बोध को मन की प्रत्येक अवस्था में जागृत रखना है। जब सामने या मन की वर्तमान अवस्था में मन नहीं रमता या मौज नहीं मानता तभी तो अपने और परायों में होने वाले सुख की कल्पना करके उन्हीं की इच्छा या काम जनाकर संसार में ही कहीं

जाना अच्छा समझता है। यही इसका जन्म रूप यहाँ जीवन काल में भी प्रकट देखने में आता है। जब प्रकट सत्य का ज्ञान या विज्ञान वहाँ क्षण-क्षण जागृत रहे तो वह यही सुझायेगा कि थोड़ा विचार से देखो, सब में परखो कि कोई भी संसार का सुख क्या सदा बना रह सकता है ? या क्या वह सुख सदा वैसा ही रहेगा ? या कि कभी दुःख में परिवर्तित हो (बदल) जायेगा ? तब ऐसा प्रकट हुआ विज्ञान इस मनुष्य की भ्रान्ति या भ्रम को उखाड़ फेंकेगा। प्रथम तो यह विज्ञान अविद्या या अज्ञान को ही दूर करेगा। तब सब भ्रम भी दूर कर देगा। इस जीव को इसी प्रकार यदि कहीं सुख न दीखे तो इसे अपने सुख वाला अपना आपा (आत्मा) जैसे नहीं रहा, ऐसा भ्रम और भय भी हो जाता है। क्योंकि आत्मा सुख रूप भी हुई, ज्ञान के साथ-साथ सुख रूप प्रकट भी रहनी चाहिये। इसलिये भी वह जीव पुनः सुख की कल्पना से संसार में उस खोये हुए सुख वाले आत्मा को पाना चाहता है। यह सब अज्ञान, भ्रम या भय, जब विज्ञान या प्रकट सत्य का ज्ञान अपने आप में शोभायुक्त, सदा मन में उपस्थित रहेगा, तो कोई भी अविद्या या भ्रम, भय आदि देखने के लिये कहीं भी दिखाई नहीं पड़ेगा। समझने का केवल इतना ही है कि एक तो प्रकट सत्य ज्ञान या बोध रूप विज्ञान जगा रह कर अविद्या को उड़ा दे; और पुनः जो तृष्णा संसार में खींच रही है वह भी शक्ति रूप होने से तृष्णा वाले अज्ञानी जीव को उधर संसार में ही जन्मने या होने के लिये तनावों के दुःख को महसूस करवाती है। ऐसी अवस्था में गत (३०६-३०७)

पद्यों में दर्शाये भाव के अनुसार उद्योगी पुरुष को इसी सत्य के विज्ञान के साथ अपने को सम्भाले-सम्भाले उन तनावों को तथा उनके दुःख को सहन करके व्यतीत कर देना है। इसी दुःख में अर्थात् सहन करने से तीक्ष्ण हुआ-हुआ मन इतना बल पा लेगा, कि समय पाकर यह सारी तृष्णा के तनाव तथा इसके राग, द्वेष, संशय और कर्तव्य सम्बन्धी अनन्त विचारों के साथ-साथ सब लुप्त कर देगा या मिटा देगा। मन हल्का हो जायेगा। तब जैसा भी सम्मुख है (सत्), वैसे में ही मन रमा रहेगा। उससे आँखें मूँद कर, अविद्या में खोकर संसार में भटकने नहीं जायेगा। पहले पहल ही साधना कष्ट वाली दीखती है। जब आसन पर ध्यान में दोनों प्रकार की (संसार में होने की भव और पुनः इससे आँखें मूंद कर निद्रा आदि के सुख में जाने की विभव) तृष्णा का वेग सहन करने का धैर्य बन गया तो तब यह सब तृष्णा के तनावों के दुःख में भी सत्-चित्-आनन्द रूप आत्मा कहीं भी नहीं खोयेगा। जैसा कुछ सम्मुख आन पड़ा वैसे ही ज्ञान मधुर (आनन्द) रूप से अनुभव में आयेगा और भय से जो संसार में जाने की तृष्णा है उसमें विज्ञान जागता हुआ भय को ही दर्शायेगा।

जब सुख से कहीं अधिक दुःख ही दीख पड़े तो मन उधर पुनः क्यों जायेगा ? वैसे पदार्थों की इच्छा भी क्यों करेगा ? यदि सूखा-रूखा भोजन स्वास्थ्य के सुख को देता हो तथा भोगी विलासी जनों का भोजन किसी को मारने जैसा दुःख दे तो कौन ऐसा बुद्धिमान् जन अपने रूखे-सूखे

भोजन को भुलाकर वैसा विष वाला विलासी जन का भोजन चाहेगा या उसकी तृष्णा रखेगा ? हाँ ! यदि उसका वह सही ज्ञान न रहा तो वह भले उधर की सोचे और केवल दुःखी होने ही जाये। यही क्षण-क्षण विज्ञान (विशेष ज्ञान या विज्ञप्ति) सदा जागता रखने का महात्म्य है कि अज्ञान, भ्रम सब मिट जाता है। जहाँ यह सत्य का ज्ञान नहीं रहा या इस पर पर्दा पड़ा कि तभी तृष्णा की छिपी अवस्था अविद्या दूसरे जगत् के सुखों के ज्ञान की यादें या संस्कार जगा-जगा कर मनुष्य को अन्त में दुःखी करके भी संसार में ही जन्मायेगी। अपने आप में बिना सही विज्ञान के नहीं रहने देगी।

साक्षात्कार क्षण का जो हो,
ज्ञान यही तारक, जड़ता दे खो ।
चेती चिती का जो नव-नव क्षण,
भासे उसी में जगत् का कण-कण।। । ३१३ ।

गत पद्य में यह दर्शाया गया था कि प्रथम तृष्णा की छिपी हुई अवस्था में छायी हुई अविद्या केवल सत्य ज्ञान से रहित अज्ञान के अन्धकार वाले मन को ही दुःख रूपी संसार में घसीटती है। अविद्या के साथ मान, मोह, राग, द्वेष, संशय आदि बन्धन भी तभी इसे बाध्य (लाचार) करके जगत् में ही जन्माते हैं, आत्मा में बना रहने नहीं देते। इसी सब मान आदि के साथ अविद्या के अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकट सत्य का ज्ञान रूप विज्ञान (विज्ञप्ति) हमारे मन में जागता रहना चाहिए। इसके मन में सुहाने पर अज्ञान (अविद्या) अपना कार्य न कर सकेगा। यही सब

गत पद्य में दर्शाया गया था। इसके साथ-साथ यह भी सूचना थी कि प्रथम विज्ञान (सत्य का बोध) प्रकट हो पुनः सब काम, राग आदि अवस्थाओं में प्रत्येक क्षण यह मन जागता रहे तो अज्ञान या अविद्या कहीं देखने को भी नहीं मिलेगी। अब यह पद्य यह दर्शाता है कि इसी विज्ञान को सदा जाग्रत रखने के लिये क्षण मात्र का अल्पतम समय भी उद्योगी पुरुष को पहचानना है। इससे मन में शुद्ध चेतन (चिती) ही प्रकट हो जायेगा और उसी में सब जगत् का रूप भासेगा। सब में जब वही भासेगा तो फिर अज्ञान का अवकाश (मौका) ही कहाँ बन पायेगा ? जैसे मनुष्य या किसी भी जीव की देह का कण-कण भी चेतन के ज्ञान से युक्त होता है, उसी प्रकार चेतन या चिती ज्ञान रूप से सब देह के छोटे-से-छोटे भाग में भी बैठी उस कण-कण में भी होने वाले सुख या दुःख को समझती है, इसी प्रकार जिस पुरुष का मन क्षण-क्षण जागता हुआ क्षण मात्र के अल्पतम (अत्यन्त थोड़े) समय को भी पहचानता है, तो उस पुरुष में राग, द्वेष या मोह आदि छुपे-छुपे नहीं बहेंगे। ये भी पहचाने जायेंगे तथा त्यागे जायेंगे। तब स्वयं वह उद्योगी अपने काया या सकल संसार के कण-कण को इसी चेतन में ही पहचानेगा और संसार को कहीं देखेगा ही नहीं।

पद्यार्थ :- जब क्षण का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष ज्ञान) हो जायेगा तो यह तारक (तारने वाला) ज्ञान रूप से ध्यान के प्रवीण ऋषियों द्वारा बतलाया हुआ, हमें प्राप्त हो जायेगा। यह सब प्रकार की जड़ता या अज्ञान रूप अन्धकार को

मिटा देगा। इसका तात्पर्य यही है कि होते हुए या वर्तमान मन में बहते हुए दुःख के क्षण में, ज्ञान दृष्टि को बन्द करके अविद्या का छाया हुआ अन्धकार, संसार में मन को घसीटता है। जब वह क्षण ही न आने दिया जाये जिसमें मन की समझने की दृष्टि (आँख या नज़र) बन्द होती है, तो पुनः संसार में भटकना कैसे होगी ? यदि क्षण-क्षण विज्ञान जागता रहे तभी यह अन्धकार वाला क्षण जब भी सम्मुख पड़ेगा तुरन्त पहचाना जायेगा; विज्ञान या सत्य ज्ञान के संस्कार जगाकर अज्ञान नष्ट कर दिया जायेगा; तब हमारे मन में केवल शुद्ध ज्ञान मात्र स्वरूप चिती (चेतन) ही जागती हुई अनुभव में आयेगी। क्योंकि चाहे अविद्या के क्षण बहते होंगे या मान, मोह, रागादि के प्रिय लगने वाले क्षण बह रहे होंगे, तब क्षण-क्षण इनका केवल ज्ञान मात्र ही होगा। तब केवल क्षण मात्र में जगने वाले उद्योगी पुरुष का मन भी केवल एक ज्ञान मात्र को ही दृष्टि में रखेगा। यही चिती या चेतन के स्वरूप का प्रकट होना है।

इस ऊपर कहे गये का तात्पर्य यही है कि ज्ञानवान्, अपनी सही साधना में उद्योग (यत्न) रखने वाला पुरुष मन की अवस्थाओं में हर एक क्षण को देखता-देखता ही व्यतीत करेगा। और इन मन की क्षण-क्षण बहती हुई अवस्थाओं को आप स्वयं साक्षी या देखता हुआ ही रह कर अन्त में व्यतीत होती या समाप्त होती हुई को भी क्षण-क्षण निहारता (देखता) हुआ ही अपने में सावधान रहेगा। इस युक्ति से वह साधक पुरुष ऐसा वह क्षण आने ही नहीं देगा जिस क्षण में उसकी दृष्टि बुझे। यदि बुझी,

तब भी वह बुझी हुई दृष्टि के भी क्षण को पहचान कर पुनः अपना ज्ञान जाग्रत रखेगा। ऐसा क्षण-क्षण जागने वाला व्यक्ति भव सागर या संसार के 'तेरी-मेरी' वाले संघर्ष रूप संसार में कभी भी नहीं पड़ेगा। क्योंकि तभी उसका मन संसार में जाने को होगा जब प्रकट ज्ञान या सत्य बोध का क्षण बुझा रहे और तृष्णा अर्थात् राग, द्वेष, मोह आदि बन्धन अपने बल दिखा कर उस साधक पुरुष को सोये हुए के समान किसी संसार के स्वप्न में डाल दें और उस तृष्णा का इतना दुःख हो कि यह पुरुष भी पुनः उसी के पीछे लग ले। यदि बुझा हुआ क्षण ही न आये, यदि आये तो पुनः पहचाना जाये, और उसमें पुनः बोध या सत्य के ज्ञान को स्मरण कर लिया जाये तो ऐसे क्षण-क्षण को पहचानने वाले की सदा मुक्ति और समाधि ही रहेगी।

शक्त दीखे व्यक्त एक सब में महान्,
अव्यक्तता की दशा में ढके न उसका भान।
नव-नव क्षण-क्षण जैसे-जैसे भाय;
जग से पार तारे तारक मन को लुभाय।।
। ३१४ ।

गत दो पद्यों में जो सत्य दर्शाया गया है, उनकी उन्नत अवस्था को ही यह पद्य सूचित कर रहा है।

पद्यार्थ :- संसार के विषय (बारे) में जैसा कुछ सत्य है इसका विज्ञान, प्रकट या विशेष (खास) करके ज्ञान इतना उन्नत करना पड़ेगा कि यह अपनी परिपक्व अर्थात् पूर्णता को प्राप्त हुई अवस्था में केवल एक ही शक्तिशाली तत्त्व को सकल जगत् में काम करता हुआ देखे। दूसरे या

卐卐

तीसरे किसी अन्य जीव को स्वतन्त्र रूप में कर्ता न देखे। उस महान् तत्त्व की शक्ति या माया से प्रेरित होते हुए ही जीवों को कर्ता रूप में जाने; और स्वयं भी इसकी माया से, ऐसा ही भाव रखता हुआ मुक्त होने का यत्न करे। स्वयं ज्ञान का पुजारी अपने में इस प्रकार का भाव बनाये कि जैसे अन्य सब जीव (प्राणी) इसी क्षण-क्षण नये-नये रूप में व्यक्त या प्रकट होने वाले चेतन या ज्ञान देव की माया के अधीन हैं; वैसे ही सांसारिक एक रूप में 'अपनापन भाव' या 'मैं भाव' रखने वाला मैं स्वयं भी वैसे ही उसकी माया से प्रेरित होकर कुछ-का-कुछ अन्य जीवों के समान ही करने की कामना कर जाता हूँ और कभी-कभी कर भी बैठता हूँ। परन्तु मैं इसी देव को सर्वत्र अपने माया के बल से संसार को चलाते देखकर स्वयं उसी भगवान् को इस रूप से अपने में भक्ति द्वारा व्यक्त या प्रकट करूँ कि जिससे इस जगत् की सब उलझन से पार निकल जाऊँ; तथा सदा पार ही रहूँ। चाहे यह तत्त्व व्यक्त या अपनी प्रकट रूप की झलक से प्रेरणा करता हुआ दीखे या अपनी अव्यक्त (अप्रकट या छिपी) अवस्था में छुपा हुआ हो, केवल सब में इसी को पहचाना जाये। इसी प्रकार अन्य पुनः मित्र, वैरी, प्रिय, अप्रिय, अपना या पराया आदि की कोई भी दृष्टि केवल जगत् में व्यवहार (बर्तावे) मात्र के लिये ही रह जाये। सत्य रूप से इनको नहीं समझे और न पहचाने ही। वास्तव में ज्ञान दृष्टि में यही एक महान् तत्त्व अपनी माया शक्ति द्वारा लीला करता हुआ दीखे। इससे जगत् बन्धन बुद्धि से तो टल जायेगा परन्तु आलस्य

निद्रादि में यही बन्धन अव्यक्त दशा में अपनी माया के साथ बैठा सकल संसार के संस्कारों के रूप से भले स्फुरित हो-हो कर मुक्त अवस्था का अनुभव न करने दे। निद्रा आदि की अचेत या जागृत के ज्ञान से शून्य अवस्था में भी जीव का सांस (श्वास) तो चलता ही है। देह के सब कार्य, अन्न का पाचन, रक्त संचार, देह के अंगों का बढ़ना आदि सब यही अव्यक्त अवस्था में छुपा हुआ महान् तत्त्व ही तो करता है। सो यही वार्ता कहने की है कि अव्यक्त अवस्था में भी इसे क्षण-क्षण नया-नया ही परखे परन्तु उद्योग करके थोड़ा निद्रा के वेग को जीतकर ही इसको उस अवस्था में क्षण-क्षण अपना नव-नव (नया-नया) खेल दिखाते अनुभव किया जायेगा। यदि मुक्ति को जीवन काल में ही अनुभव करना है तो इसी अपने मन से इसी निद्रा आदि के भी मीठे बन्धन को उचित मात्रा में उचित ही प्रकार से जीत कर क्षण-क्षण इसी ज्ञान देव की नये-नये रूप में सर्वत्र अव्यक्तावस्था अनुभव करने का उद्योग बनाना पड़ेगा। जब यह हर एक क्षण अपनी नयी-नयी झाँकी प्रकट आपके ज्ञान या अनुभव में दिखलाने लगे तो यही ज्ञान देव अनन्त रूप से असंग भी दिखलाई देने लगेगा अर्थात् स्वयं यह जो क्षण-क्षण झलकता है इसका किसी से भी कोई संग नहीं; अपने क्षण में न्यारा ही है। इसके प्रकाश का हर एक क्षण अपने में न्यारा-न्यारा ही दीखेगा। जहाँ तक कि सर्वत्र प्रकाशमान् रहता हुआ यह कहीं भी जगत् की दृष्टि तक भी नहीं बनने देगा; अपने

ज्ञान रूप से एक रूप ही अनुभव में आयेगा। तब आनन्द रूप से मन को लुभायेगा भी। संसार के किसी भी सुख की स्मृति (याद) तक न आने देगा; तृष्णा पुनः किसकी होगी जो प्राणी को संसार में पुनः जन्म देगी ?

इस पद्य का और भी अधिक स्पष्ट करके समझने योग्य यह भाव है कि सब जीवों में जो-जो कुछ भी समय के अनुसार होता है उसे करने वाला जानता बूझता कोई संसार में 'मैं' या 'तूँ' समझा जाने वाला नहीं है। वह तो अपने समय या मौके का कोई विशेष ज्ञान ही है जो कि समय पर अपना ही कोई विशेष भाव बनाकर या रचकर सब को प्रेरित कर जाता है; देहों को पुतलियों के समान घुमाता है; जैसा वह बालपन, यौवन या वृद्धावस्था में समय-समय पर व्यक्त या प्रकट होकर उसी-उसी समय के उस आयु वाले व्यक्तियों को चलाता है; वैसे ही क्षुधा (भूख), प्यास, नाना रोगों की अवस्था में उस समय के अनुसार किसी विशेष (खास) रूप के ज्ञान से व्यक्त या प्रकट होकर अपने ही ढंग के विचित्र काम, क्रोध आदि विकारों को तथा भय, शंका आदि को रचकर सब जीवों को पुतलियों के समान चलाता है। इसी प्रकार कहीं एक जीव के सामने दूसरा जीव पड़ने पर अपने-अपने ही ढंग से कुछ ज्ञान जागकर या प्रकट या व्यक्त होकर वैसे-वैसे ही भाव खड़े करता हुआ जीवों को विचित्र कर्मों में डाल जाता है। बच्चे, स्त्री, पुरुष या अन्य किसी भी जीव को देखो कि वह हर एक समय क्षण-क्षण कुछ समझता है। इस समझने के बिना कोई भी जीवन नहीं। यह समझना

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

भी प्रत्येक क्षण नया-नया ही है। इसी नये-नये समझ के प्रवाह से ही काया या देह भी अपनी नई-नई दशा में बदलता जा रहा है। जैसे-जैसे समय-समय पर ज्ञान देव अपनी नई-नई झाँकी दिखलाता है वैसे-वैसे समय पर भाव भी नये-नये होते हैं। उन्हीं के अनुसार जीव बाहर जगत् में दूसरों को अच्छा या बुरा भी लगता है। यह किसी के वश की बात ही नहीं। हर समय इस जागते हुए विज्ञान या विज्ञप्ति के देव को सर्वत्र लीला करते देखने वाले के लिये कोई भी मित्र या वैरी नहीं। उसके सब जगत् के बन्धन टले रहते हैं परन्तु इसे समझने की शक्ति चाहिये। थोड़ा अकेले में ज्ञान को जगाना इत्यादि यही सब इस पद्य का भाव है।

ॐ इति तारक विज्ञान वर्ग ॐ

अथ सम्यक् दर्शन सुचर्या वर्ग

सदा जो बनी रहेगी नहीं शान,
उसके पाये का करे क्या कोई मान।
प्रत्युत् मन को भ्रमा के वह हरे बोध;
भद्र पथ का ही या से हो अवरोध।। ।३१५।

गत कई एक पद्यों में मन या चित्त को क्षण-क्षण जगाने के यत्न की चर्चा थी। मन या चित्त कभी भी एक दशा में नहीं रहता; भले इसकी अवस्था दुःख रूप के कड़वे अनुभव में हो, या सुख की अवस्था के मधुर या मीठे स्वरूप में; परन्तु यह कभी भी एक समान नहीं रहेगी। जैसे इसी मन या चित्त के भीतर बसा या बैठा ज्ञान देव स्वयं चेतता रहता है, इसी प्रकार स्वयं ज्ञान या जानने के स्वरूप से एक-रस होते हुए भी, यही चेतन देव मन या चित्त आदि से लेकर शरीर के अन्दर की प्रत्येक वस्तु को क्षण-क्षण अपनी विद्युत शक्ति के समान क्रिया शक्ति रूप माया द्वारा परिवर्तित करता (बदलता) रहता है। हमें भी इसी सत्य पर विश्वास रखकर अपने भीतर बदलते हुए इन सब में क्षण-क्षण उसी चेतन या ज्ञान स्वरूप को पहचानने का यत्न करते रहना है। हमारे यत्न को जो सफल नहीं होने देता, उस तत्त्व या शक्ति को भी पहचान कर उससे भी मुक्ति पानी है।

अब इसी परमेश्वर या ब्रह्म तत्त्व को पहचानने में जो विघ्न या अड़चन है, उसी की चर्चा यह (३१५) पद्य करता है। वह विघ्न है संसार में क्षण-क्षण बदलने वाली तथा

मान, आदर और शान को टिकाये रखने की मिथ्या तृष्णा वाली 'मैं' या 'अहंकार' जो कि थोड़े से अपने समय या आयु के किसी भाग के सुख को सदा बनाये रखना चाहता है, उसी को यह पद्य यूँ दर्शाता है कि :-

जो भी कोई बाहर जगत् में शान (शोभा), मान, आदर आदि हैं, वह सब अपने-अपने समय के ही हैं। वह शान (शोभा) सदा कभी भी बनी नहीं रहेगी भले वह राज्य, अधिकार, धन, यौवन या अन्य किसी भी दूसरी शक्ति से संसार में पाई जाती है, वह सब एक दिन अपने से बिछुड़ेगी ही। उस शान या शोभा मिलने के सुख, मान, आदर वाला 'अहंकार' या 'मैं' (खुदी) भी फूली-फूली बाहर जगत् में अपने को श्रेष्ठ समझती हुई भले उछलती रहे, परन्तु एक दिन शक्ति क्षीण होने पर, दूसरों के भाव या प्रीति न रहने पर, उनके मन की जब प्रसन्नता या खुशी नहीं होगी तो आप का भी मान, आदर या शोभा उनसे मिलने पर भी कृत्रिम (बनावटी) सी दीखेगी। अब आपका मन दुःखी होगा, मित्र वैरी जैसे लगेंगे। यह सब समय बदलने पर होगा ही। इसलिये यदि आप इसी सत्य को पहले से ही पहचान गये; शान आदि झूठी दीखने लग गई तो पुनः उस कभी थोड़े समय के लिये मिली वस्तु का अब अपने आप में भी क्यों मान करना ? यदि आप ऐसा कुछ मिथ्या मान करते हैं तो आप अपने आपको ही भ्रान्ति में रखते हैं, इससे तो आपके ज्ञान का मार्ग अर्थात् जगत् के सत्य को पहचान कर सही मार्ग पर चलने का रास्ता

ही रुकेगा। इससे सही जो अपना सुख और शान्ति है, उसी का ही मार्ग रुकावट में पड़ेगा।

इसलिये इस पद्य का सारांश यह है कि मनुष्य जन्म से या अन्य बाहर के साधनों द्वारा पायी गयी अपनी बाहर की संसार में उछलने वाली 'मैं' का मोह छोड़कर अपनी शक्ति द्वारा सारे विश्व को चलाने वाले परमात्मा को पहचाने और उसी में सर्वभाव से खेल रहें ज्ञान देव या चेतन ब्रह्म को भी समझे, और बाहर की तृष्णा से सर्व प्रकार से रहित होकर उसे क्षण-क्षण अपनी लीला करते हुए को ही सब में पहचाने और राग-द्वेष आदि सब से रहित हो। जब संसार से मन टले तो भी अव्यक्त भाव में यहाँ वह जो एक-रस है, केवल ज्ञान स्वरूप है, उसे ही समझने पहचानने का यत्न रखे तथा ध्यान को बढ़ाये।

दृष्टि शुद्धि के हेतु हुए वे वे दर्शन महान्,
दूसरों ने चर्या को ही दिया मुख्य स्थान।
भगवत्तत्त्व में तो हुआ इन दो का समावेश;
दृष्टि शुद्धि और चर्या का सुस्थित निर्देश।।
। ३१६ ।

कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ होने के लिये जो कुछ भी धर्म के रूप में प्रतिपादन (कथन) करने योग्य था, वह यथास्थान अपने अंगों (भागों) के साथ प्रतिपादित कर दिया गया है।.अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) की शुद्धि और पवित्र जीवनचर्या सब दर्शायी जा चुकी है। अब इस पद्य में यह चर्चा है कि यह कल्याण पथ या धर्म का मार्ग आजकल के किसी व्यक्ति ने ही नहीं दर्शाया किन्तु

यह मोक्ष मार्ग प्राचीन काल से ही श्रुतियों में सुना गया, तथा दर्शन शास्त्र, सांख्य योग, न्याय, वेदान्तादि में युक्ति तथा तर्क द्वारा समझाया भी गया है। इसी सब मार्ग को मनुष्य जन्म सफल करने के लिये जैसे पहले से बुद्धिमान्, विचारशील, मनस्वी (मन को सम्भालने वाले) व्यक्तियों ने अपनाया है, वैसे ही हमें निर्विरोध (विरोध के बिना) तथा शंका, भ्रम से रहित आत्म कल्याण के लिये इसे सम्भाल के साथ अपनाना है। भगवान् के नाम से स्मरण की जाने वाली विभूति जब कभी संसार में मनुष्य के स्वरूप में प्रकट होती है, तो वह भी इसी दूसरों के संघर्ष से रहित, विवाद रहित मार्ग को सब की भलाई के लिये दर्शाती है। यही सुस्थित मार्ग का दर्शाना है कि यह किसी की भी समझ में सही रूप से बैठ सकता है।

पद्यार्थ :- संसार में ही संसार के धन, परिवार, ऐश्वर्य, अधिकार आदि साधनों द्वारा मनुष्य सुखी हो सकता है, ऐसी मिथ्या दृष्टि या भावना बालक की जन्म के साथ बननी आरम्भ हो जाती है। इसी भावना या दृष्टि के अनुसार वह संसार में स्वार्थों के संघर्ष या द्वन्द्व में सुख के लिये उलझता हुआ अपना दुःख ही बढ़ाता जाता है। इसका कारण केवल मिथ्या दृष्टि ही है। इसी दृष्टि को सही बनाने के लिये श्रुतियों (वेदों) के आचार्यों ने तर्क प्रधान न्याय शास्त्र और आत्मा तथा व्यापक सत्य रूप परमात्मा के विचार की प्रधानता वाला वेदान्त शास्त्र रचा जिससे कि केवल देह से भावना हटकर इसी देह में जो वास्तव तत्त्व, ज्ञान स्वरूप तथा भेदभाव से रहित है, इसमें

जीव की दृष्टि खुले और जीव व्यक्तिगत व्यर्थ के राग, द्वेष, मान, मोह और संशय तथा अविद्या के बन्धनों से मुक्त हो, और मुक्त होकर भगवान् में बसी शान्ति को अपने में पाये। 'संसार के ही कारणों से सदा कोई सांसारिक सुख उपजाकर सुखी या तृप्त होगा', यह मिथ्या दृष्टि या मिथ्या ही भावना है। इसी दृष्टि या नज़र को रखने वाले के तो राग, द्वेष, संशय, मान, मोह आदि ही बन्धन बढ़ेंगे जो कि उस जीव का थोड़ा बहुत खाये पीये या थकावट परेशानी में निद्रा के भी सुख को बिगाड़ेंगे। जो कुछ भी अपने सुख के लिए इकट्ठा किया है केवल उसी पर दृष्टि (नज़र) या विश्वास को टिकाये बैठा प्राणी एक दिन इन्हीं सब को यहीं छोड़कर, इनसे कुछ भी अपने दुःख टालने की सहायता न देखता हुआ मर ही जायेगा। अन्त में ऐसे बन्धनों वाले में दूसरों की भी प्रीति नहीं रहती।

इसी भव्य (श्रेष्ठ) प्रयोजन के लिये सांख्य और योग शास्त्र के ऋषियों ने चर्या (जैसे कि संसार में चलना चाहिये) को विशेष या मुख्य स्थान दिया है। इन महर्षियों का यह भाव था कि जिन पूर्ण ज्ञानवान् तथा शान्ति सुख के स्रोत रूप भगवान् का साक्षात्कार जिन महर्षियों को ध्यान में हुआ उन्होंने भगवान् के स्वरूप में दोनों का ही मेल सुन्दर और मधुर (सुखकारी) रूप में देखा। इसलिये हमें भी उनके मार्ग पर चलने के लिये और उनमें बसने वाली शान्ति और सुख पाने के लिये संसार की मलिन दृष्टियों से भी मुक्ति पानी है; और उसके साथ-साथ

卐卐
जीवन की चर्या भी ऐसी पवित्र बनानी है जिससे कि उसी पूर्ण पुरुष या उत्तम पुरुष की सुख शान्ति और दुःखों से मुक्ति हमें जीवन काल में ही अनुभव में आये। दृष्टिकोण या नज़र की शुद्धि से तो हमारी बुद्धि का मैल दूर होगा जो कि संसार में जन्म पाने से उल्टे-उल्टे विश्वासों में खेल रही होती है। यही मिथ्या बुद्धि संसार के ही साधनों से सुख मानने वाली है। यही पुनः इन मिथ्या विश्वासों के कारण सत्य के मार्ग पर चलने के लिये उत्साह ही नहीं रखती। सही दृष्टि से सही प्रेरणा तो मिल जायेगी; परन्तु आदतों की शक्ति या तृष्णा बल बनी बैठी है; बुद्धि शुद्ध होने पर भी कुछ भी भला मार्ग चलने में रास्ते की रुकावट बनती है : अपना तनाव उत्पन्न करके पुनः दुःखी करके पहले ही मार्ग पर ले जाती है। इस शक्ति को क्षीण करने के लिये शुद्ध जीवनचर्या का अभ्यास चाहिए। अपने स्वार्थ को या इच्छाओं को देह धारण तक ही सीमित करने से बाहर जगत् की बहुत सी उलझन से छुटकारा मिल जाता है। अपने में मैत्री आदि बल तथा क्षमा, संतोष, वैराग्य आदि भगवान् के बहुत से गुण बसाने से बाहर निर्दोष, निर्विरोध (विरोध रहित) जीवन रखा जा सकता है। अपनी निद्रा आदि के ऊपर उचित ढंग से उचित मात्रा में संयम पाने से ध्यान की योग्यता बढ़ती है। यही ध्यान सूक्ष्म अवस्थाओं में संसार में व्यापक जीवन के रूप में परमात्मा को समझता है; शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा के सत्य का साक्षात्कार करता है और इसी ध्यान की अवस्था में संसार के सब दुःखों से मुक्ति का साक्षात्कार भी होता है। इसकी

तृप्ति दूसरों पर भी सुन्दर प्रभाव और सही शिक्षा की प्रेरणा देने वाली बन जाती है। यही सब कुछ भगवान् के स्वरूप या तत्त्व में ऋषियों ने ध्यान में देखा। यही सब कुछ उन्होंने दर्शन शास्त्र और चर्या के शास्त्रों द्वारा हमारे तक पहुँचाया। यही हमें भी अपने में धारण करना है। इस मार्ग में बाहर का द्वन्द्व, विरोध तथा मिथ्या कर्म भी नहीं हैं। परन्तु है यह सब धर्म का व्यावहारिक आचरण (अमल में लाने का) ही। उस प्रभु की शान्ति तो ऋषियों ने निरूपम (जिसकी कोई मिसाल ही नहीं) ही अपने ध्यान द्वारा देखी, और उसके कारण को भी समझा और यह गीता आदि शास्त्रों में भी विशेष रूप से दर्शाया गया है। परन्तु साधारण जन या साधक के लिये पहले पहल यह सब कठिन अवश्य है परन्तु सर्वदा असम्भव नहीं। जैसे कि 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा' के बारे में भगवान् ने गीता में चर्चा की है। भगवान् में बसने वाली शान्ति यदि प्राप्त करनी है तो मनुष्य में सदा प्रज्ञा की प्रतिष्ठा (स्थिर रहने वाला टिकाव) बनी रहनी चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि संसार में कभी भी और कहीं भी मनुष्य का मन उलझा नहीं रहना चाहिए। किन्हीं भी राग, द्वेष, संशय, मान आदि बन्धनों के जाल में व्यर्थ में बंधा-बंधा इसी संसार के बारे की सोचों में या विचारों में अपनी प्राण शक्ति तथा मन की ज्ञान शक्ति को व्यर्थ में खोकर अधिक दुःख बढ़ाने वाला भी नहीं होना चाहिये। जब-जब मन अपनी पुरानी आदतों से, या जन्म से तृष्णा के बढ़े हुए बल से उधर संसार के सुख की ही खींच करे तो अपने मन तथा बुद्धि में बसी प्रज्ञा हमें सही

वस्तु की स्थिति दिखला कर या सत्य को दर्शाकर झटपट उस उलझन से निकाल दे। इसी सही स्थिति को दर्शाने वाला सत्य का बुद्धि में प्रकट हुआ-हुआ ज्ञान ही प्रज्ञा शब्द का अर्थ है। संसार के सुख की झोंक या संसार में ही एक दूसरे के संग के सुख की ओर झुकाव तो बालपन से ही अपना बल पकड़ चुका है, परन्तु ध्यान द्वारा दूसरों के संग के सुख की परीक्षा करने पर यह सकल सांसारिक सुख अपने से कहीं अधिक दुःख दिखलाने वाला सिद्ध होगा और अन्त में वियुक्त (बिछुड़ने वाला) भी होगा। जो इसी सुख के लिये तुला बैठा रहेगा उसे अन्त में अपना समय व्यतीत करने के लिये भी दूसरा कोई सहारा नहीं मिलेगा। दूसरों से या संग से होने वाला सब सुख समय के अनुसार एक दूसरे की प्रीति आदि भावों के स्वार्थ से बन्धा होता है। ये सब स्वार्थ पूर्ण करते रहने का समय सदा किसी के पास नहीं रहता; मनुष्य अन्त में पराधीन ही हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह दूसरों को दुःखी तो भले करे परन्तु उससे दूसरों का सुख तो होना असम्भव ही है। यही सब जीवन के प्रकट सत्य अपने ध्यान में देखे तथा पहचाने गये प्रज्ञा शब्द के अर्थ हैं। यही सत्य पुनः प्रकट होकर मनुष्य को सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। उसे अपने आप में या अद्वैत (भेदभाव रहित) आत्मा में ही सुखी होने की प्रेरणा और उत्साह देंगे। वैसे ही धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा भी ! इसी हेतु ध्यान, वैराग्य, संतोष, क्षमा आदि-आदि भगवान् के गुण उपजाकर अपने एकान्त आसन पर ही सुखी होने का अभ्यासी होने का भी यत्न

करना भगवान् ने गीता के अन्तिम अध्याय में दर्शाया है। संसार का सुख तो संसार में कर्म करने से मिलेगा परन्तु भगवान् ने नैष्कर्म्य सुख की चर्चा की है और उसी का मार्ग भी ध्यान, वैराग्य आदि को बतलाया है। एकान्त में ही ध्यान आदि द्वारा अपना समय व्यतीत करने के अभ्यास की ओर भी संकेत किया है। यदि ऐसा अभ्यास नहीं बना तो यह संसार के संग की तृष्णा वाला मन जब अपने आप में अकेला सुख नहीं पायेगा तो दूसरों के संग की ओर ही लपकेगा। दूसरे सम्भवतः उसके संग को आकर्षणहीन, वृद्ध या रोग आदि के कारण से न भी चाहें। भाव बिना उनका संग अन्त में मन में सुख के स्थान पर खेद और दुःख ही प्रकट करेगा। इसीलिये दूसरों के संग का नाना प्रकार के शारीरिक और वाचिक आदि कर्मों से होने वाले सुख पर अपना मन या विश्वास न रख कर जहाँ ध्यान में सब कर्म शान्त हो जाते हैं तथा प्रज्ञा के प्रसाद से जहाँ मन संसार की सब उलझन से निकल कर अपने में ही शान्त जाग रहा है, ऐसी अवस्था में जो सुख आत्मा में प्रकट होता है उसी का भरोसा सदा बसा रहे। मृत्यु भी इसे नष्ट नहीं कर सकेगी। जो संसार का या संग का सुख है वह तो अन्त में उजड़ेगा ही ! और अन्त में उसी में प्रज्ञा से रहित मन धँसा-धँसा उसी की इच्छा रखता हुआ अपने कर्मों के अनुसार न जाने कहाँ-कहाँ दूसरे जन्मों में भी दुःखी होगा। इसी भाव को लेकर भगवान् ने गीता के आदि में तो प्रज्ञा की प्रतिष्ठा बतलायी जिससे कि मन संसार की उलझन से झटपट निकल सके : और पुनः

गीता के अन्त में एकान्त में आसन आदि का अभ्यास तथा शरीर के धारण करने की केवल अल्प (थोड़ी) इच्छा रखते हुए संतोष तथा वैराग्य आदि गुण भी धारण करके अपनी इन्द्रियों का धैर्य के साथ संयम भी बतलाया। उसी संयम को बनाये रखने के लिये तथा सही ज्ञान उपजाने के लिये एकान्त में ध्यान से प्रीति; पुनः ध्यान में ही काम, क्रोध, अहंकार और इसी की संतान या संगी साथी जो-जो भी अवगुण हैं उन सब को छोड़ने का यत्न करके भगवान् में ही बसने वाली शान्ति और सुख को पाने का यत्न करने का निर्देश किया। जो भी संसार में प्रकट भगवान् कभी हुए उनके जीवन को ऋषियों ने ध्यान में समझ कर स्वयं उस पर चलकर वही सुख पाया और उसी के लिये बाह्य-चर्या की शुद्धि और ध्यान में सब बन्धन पहचान कर त्यागते हुए परमात्मा के ज्ञान की प्राप्ति सांसारिक प्राणियों के अन्तिम हित के लिये बतलायी।

जैसे दुःख दौर्मनस्य और विषाद,
वैसे सुख सौमनस्य और प्रसाद।
जन्में दो में ही बाल का 'मैं' का मान;
सस्मृति युक्त हो धीर बल प्रधान।। । ३१७ ।

गत पद्य में यह जो दर्शाया गया कि श्रुतियों (वेदों) में ध्यान द्वारा समझे गये जो भगवान् के आदेश (आज्ञायें) और कल्याण की दिशा में चलने के निर्देश (इशारे) हैं, उनके अनुसार मनुष्य को अपनी बुद्धि को शुद्ध रखते हुए पवित्र और कल्याण के अनुकूल बनाने में ही उद्योग करना है। इस जीवन को ढीला नहीं चलने देना जैसे कि

卐卐

साधारण जन को संसार में जैसी-जैसी इच्छा हुई उसे तत्काल पूर्ण करने के लिए तत्पर हो जाता है, वैसा न करके बुद्धिमान् जन को प्रथम बुद्धि द्वारा अपने लम्बे समय का हित निश्चित करना चाहिए, यही दृष्टि को शुद्ध बनाना है। फिर जिस प्रकार वह टिकाऊ (टिकने वाला) हित बनता है वैसी ही अपनी चर्या (चलाई) करनी चाहिए। ऐसी जो नियमों वाली तथा वैसे ही संयम युक्त विचारशील ध्यान आदि वाली जीवनचर्या होगी वह जीवन काल में ही भगवान् में बसने वाली शान्ति और सुख को हमारे सम्मुख उपस्थित करेगी। इसी उद्देश्य (प्रयोजन) के लिये यह पद्य संक्षेप से हर समय की चर्या को सम्भाले रखने की ओर संकेत (इशारा) करता है।

पद्यार्थ :- जन्म से दुःख और सुख ये दो ही तत्त्व प्रथम जीव के चलने के मार्ग को निश्चित करते हैं। जैसे ही किसी को दुःख हुआ; दुःख में दौर्मनस्य (मन द्वारा बुरा महसूस करना) छा जाता है; और मन अपने आप में खिन्न, दुःखी अवस्था में या दबा हुआ सा प्रतीत होता है। यह अवस्था सुख में होने वाली प्रसन्नता से विपरीत मन के विषाद की है। वैसे ही सुख के अनुभव होने पर मन सौमनस्य (मन द्वारा अच्छा या भला प्रतीत करना) युक्त होता है और साथ ही में मन प्रसन्न भी होता है; ऐसी अवस्था में इसका समय भली प्रकार से व्यतीत होता है। इन दोनों प्रकार की वेदनाओं (महसूस करने) में बालक की 'मैं' या 'मैं भाव' (अहंकार) जन्मता है। इन्हीं अवस्थाओं में बालक को अपनापन प्रतीत पड़ता है और

इसी कारण से वह अपने आप शुद्ध आत्मा अर्थात् केवल ज्ञान स्वरूप होने पर भी अपने आपको दुःखी या सुखी मान बैठता है और केवल अपने मन की प्रसन्नता पाने तथा विषाद हटाने के लिये संसार में उग्र से उग्र कर्मों तक की भी शरण लेता है; जो इन दोनों में सम रहने वाला अपने आत्मा पर टिका है वह इन दोनों से विचलित नहीं होता। इसी कारण से सब उग्र कर्मों से भी तथा अन्य अनर्थ से भी बचा रहता है। परन्तु जो बुद्धिमान् और मन पर सवार रहने वाला मनस्वी है अर्थात् धीर पुरुष है, सदा मन की उपस्थिति रखता है, अपनी स्मृति या याद ठिकाने रखता है; पुराने अनुभवों को स्मरण करता हुआ, उनसे कुछ सीखता हुआ सम्भल कर चलता है, दुःख में भी टिका रह सकता है वह दोनों प्रकार की वेदनाओं अर्थात् दुःख और सुख में सम रह कर किसी भी प्रयोजन के लिये जगत् में नहीं जन्मता, वही सुन्दर ज्ञानवान् कहा जाता है। वह सदा श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान या समाधि और प्रज्ञा (सत्य का ज्ञान) रूप शास्त्र में कहे गये मोक्ष का उपाय रूप पाँच बलों को ही आगे रख कर संसार में जीवन की नौका को चलाता है। इसीलिये वही बल प्रधान शब्द से पद्य में कहा गया है।

जैसे-जैसे ही हुई वेदना विपरीत,
अज्ञ टालने के हेतु करे 'मैं' से प्रीत।
टले पै जन्मे वही सुख रस के हेत;
हो मुक्त धीर रहे जो दो में सचेत।। । ३१८ ।

गत पद्य में जो यह दर्शाया गया कि दुःख और सुख

नाम वाली वेदनाओं (महसूस करने) में ही बालक की 'मैं' जन्मती है, इन्हीं में वह अपनापन समझता है और इसीलिये जन्मता है। इसी सत्य को स्पष्ट करने वाला यह पद्य है।

पद्यार्थ :- जैसे-जैसे अपने को प्रतिकूल रूप से अनुभव हुआ अर्थात् मन को अनुकूल रूप से समझ में न पड़ा, यही विपरीत वेदना शब्द का अर्थ है अर्थात् मन जैसा अनुभव होने पर या महसूस करने को अच्छा मानता है वैसा न हुआ तो यही 'विपरीत वेदना' शब्द समुदाय द्वारा यहाँ कहा गया है। ऐसी अवस्था आ पड़ने पर जो सत्य को तथा अपने लम्बे समय के लिये हित सुख को नहीं समझने वाला है, वही अज्ञ है। ऐसा प्राणी उस विपरीत वेदना में अधीर हो उठता है; और उस वेदना को टालने के लिए बिना सोचे विचारे जैसा कुछ उसके संस्कारों में बालपन से भरा गया है वैसे ही वह इस वेदना को टालने के लिये जग से या जग में ही जन्मने वाली 'मैं' (खुदी) से प्रीति कर बैठता है; बाहर जगत् के ही प्राणी या पदार्थों का सहारा लेकर इस विपरीत वेदना से मुक्ति पाना चाहता है। यद्यपि यह विपरीत वेदना या दुःख से मुक्ति सदा बनी नहीं रहेगी; प्रत्युत् (बल्कि) राग, द्वेष आदि बन्धनों से जकड़ कर तथा तृष्णा को बढ़ाकर अधिक दुःख ही उपजायेगी तथापि अज्ञ (अज्ञानी जन) जो इस सत्य को नहीं जानता वह बालक वाली बुद्धि बनाये रखकर अपना और भी अधिक बुरा ही करता है और आदतों के मार्ग पर ही चलता है। इसी प्रकार दुःख या

विपरीत वेदना के टलने पर जो सुख होता है उसमें भी एक रस या राग उत्पन्न हो जाता है। इस सुख या अनुकूल वेदना में गड़ा रहने वाला मन इसी राग को लिये-लिये पुनः इसी सुख के हेतु संसार में ही भटकने को उद्यत (तैयार) रहता है और जो थोड़े दुःख में भी बुद्धि और अपनी याद (स्मृति) को ठिकाने रख कर अपने लम्बे समय के हित को दृष्टि (निगाह) में रखकर इस दुःख से चलायमान नहीं होता और छोटे सुखों के पीछे भी नहीं भटकता, ऐसा धीर समझा जाने वाला पुरुष सदा अपने को चेतन रखता हुआ अर्थात् सम्भालने में लगाता हुआ अपने आप में या आत्मा में क्षण-क्षण बसा रह कर संसार से मुक्त हो जाता है। उसे अपना दुःख टालने या सुख पाने के लिये संसार में नहीं जाना पड़ता। तभी वह जन्म रहित है।

जैसे-जैसे जन्में बन्धन विकार,
तैसे-तैसे जिसने सीखा करना परिहार।
उसका क्षण-क्षण बन्धन मिटता ही जाय;
तैसे नव-नव मुक्ति सुख भी सुहाय।। । ३१६ ।

गत तीन पद्यों का भाव यह है कि बुद्धि को जगाये रख कर अपनी दृष्टि को शुद्ध रखते हुए अर्थात् थोड़े से सुख के कारण संसार में ही सुखी होने के भाव में न बह कर मिथ्या सुख के त्याग के दुःख को धीरता के साथ सहन करने का अभ्यासी होना और बिना बाहर के मिथ्या सहारों के अपनी आत्मा में ही दुःख टलने के सुख को अनुभव करना। सही रूप से यह धर्म तो तभी रखा जा सकेगा कि

卐卐

यदि मनुष्य इस बात पर ध्यान दे कि हमारे मन में क्या-क्या घट रहा है। इन मन के अन्दर बहने वाले भावों को पहचानने तक मन और बुद्धि को उन्नत करे। जैसे मनुष्य बाहर के जीवों को उनके भावों के साथ पहचानता है और उनके भले बुरे इरादों को समझता है, वैसे ही अपने अन्दर की आँख खोल कर अपने मन को पहचानने वाला तथा पहचान कर उसे सही मार्ग पर लाने वाला एक दिन अपने आप में ही खेलेगा, सब जग के सहारों से मुक्त हो जायेगा। जब मन को कोई सहारा खेलने को न मिले केवल तभी यह आदत के अनुसार दूसरों में या जगत् में भागता है। इस प्रकार जीवन को दूसरों की व्यर्थ की संगत में ही न बान्धे रख कर अपनी आत्मा का ही सहारा खोजना। यही सदा मन की उपस्थिति रख कर करते रहने से जीवनचर्या की भी शुद्धि होगी। यह चर्या भगवान् के सुख और शान्ति को देने वाली होगी। अब यह पद्य यह दर्शा रहा है कि चर्या की उन्नति कहाँ तक होनी चाहिये; अर्थात् इस दृष्टि या भावना की शुद्धि के साथ जीवनचर्या की उन्नति के शिखर को यह पद्य दर्शाता है।

पद्यार्थ :- जैसे-जैसे मन में कोई भी सुख के निमित्त या दुःख से पाला छुड़ाने के निमित्त दृष्टि, संशय, राग, द्वेष आदि बन्धन जन्में या इन्हीं बन्धनों वाले मन में काम, क्रोध, लोभ आदि विकार या उत्तेजनायें बिना सोचे समझे संसार की ओर धकेलें या संसार में ही शरण लेने के लिये मिथ्या दृष्टि बनायें, अर्थात् संसार में ही तत्काल दुःख को टालने की सोचें और लम्बे समय की सुख शान्ति का विचार तक

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

ही न करने दें और इसी मिथ्या श्रद्धा या विश्वास को रखें तो तत्काल जिसने इनका परिहार अर्थात् त्याग करना सीख लिया तो उस व्यक्ति का बन्धन जलाशय में उत्पन्न हुई तरंगों के समानं क्षण-क्षण स्वयं ही मिटता जायेगा। जैसे-जैसे बन्धन मिटेगा वैसे-वैसे उस हर क्षण को देखते और पहचानते रहने वाले प्रवीण व्यक्ति को नया-नया मुक्ति का सुख भी व्यक्त (प्रकट) होगा।

क्षण साक्षात्कार के बारे में पीछे कहा जा चुका है कि मन का क्षण-क्षण बदलते रहने का स्वभाव है; इसकी प्रत्येक तरंग को अपने आप में न्यारी-न्यारी ही जानना। एक तरंग को दूसरे से सम्बन्ध करके नहीं समझना। मन की प्रत्येक तरंग ज्ञान देव का अपना ही स्वरूप है, असंग भी है। परन्तु जैसे-जैसे क्षण-क्षण बन्धन टलता जायेगा तभी ये मन के बदलते हुए तरंग केवल ज्ञान स्वरूप ही दीखेंगे। मन स्वयं ज्ञान का ही तो पुतला है। इसका प्रत्येक क्षण ज्ञान देव या चेतन प्रभु की ही झाँकी है। जो क्षण व्यतीत हो चुका वह दोबारा दीखने का नहीं। बन्धन विकार या दुःख-सुख भी ऐसे ही क्षण-क्षण नयी-नयी सी तरंगों में ही बहते-बहते समाप्त होते जाते हैं। वैसे सांसारिक दृष्टि वाले जन को तो यही सब मन के विकार डटे बैठे या स्थिर (टिके) से समझ में पड़ते हैं : परन्तु हैं ये सब बहने वाले : मन में क्षण-क्षण बदलते हुए निकलते जाने वाले। परन्तु साधारण जन की सुख में चिपकी दृष्टि या दुःखी और परेशानी वाली नज़र इनके बहने का स्वभाव नहीं पहचान सकती। इसीलिए साधना या अभ्यास की

आवश्यकता है। समय पाकर मन क्षण-क्षण बदलता हुआ परखने में आयेगा। तब साधक भी धीरता से उसके दुःखों और विकारों को देखता-देखता ही भुगता देगा। इनके व्यतीत होते ही मन सुख के क्षणों को बहायेगा। यही सब ज्ञानदेव की असंग नई-नई झांकी के रूप में आनन्द देंगे। यही मन की बारीकी में चेतन देव की लीला हो रही है। जिस व्यक्ति का संसार में उलझने का भाव न हो वह मन की सूक्ष्मता (बारीकी) में उतर कर इसी प्रभु के या चेतन ब्रह्म के हर एक क्षण की नवीनता को अनुभव करता है। एक भाव बहता-बहता शान्त हुआ तो दूसरा बहने लगेगा। वह शान्त हुआ तो तीसरा चल पड़ेगा। कभी भी ज्ञान रहित होने का भाव नहीं, ज्ञान स्वरूप से सदा चेतन एक रस है, उसकी झाँकी भले क्षण-क्षण नयी-नयी हो। इसी सत्य का, सकल संसार से मन को हटाकर अपने आप में साक्षात्कार करना है। ऐसे ज्ञानी और ध्यान कुशल व्यक्ति को यही अनुभव होगा कि यदि पुराने संस्कारों से कुछ भी या कोई भी बन्धन मन में बहने लगेगा तो अपने आप नये-नये क्षण में दीखता हुआ अदृष्ट (न दीखने वाला) हो ही जाता है, मैंने वहाँ क्या करना है ? मैंने केवल संसार में उलझने से बचना है। उलझाने वाली माया भी इसी क्षण-क्षण नये-नये परमात्मा के स्वरूप के साथ चिपकी बैठी है जो कि संसार में अच्छाई या सुख को तो दिखलाती है, परन्तु वह तो अन्त में रहेंगे नहीं, हाथ दुःख ही लगता है। इसीलिये इसे माया का नाम दिया जाता है अर्थात् जो है तो नहीं पर भासती या जानने में आती है। जैसे यदि कहीं कोई

चमकीली वस्तु दृष्टि में पड़ी तो झट इसके चांदी होने के संस्कार प्रबुद्ध होकर या जगकर मनुष्य को चांदी की उपादेयता अर्थात् ग्रहण करने की योग्यता के साथ काम या इच्छा को भी मन में उत्पन्न करके उसी चमकीली वस्तु के चक्कर में डाल देते हैं। बहुत समय तक मन उसी में उलझा रहता है, परीक्षा करने पर चाहे वह चमकीली वस्तु सीपी ही निकले परन्तु जीव तो अपनी आत्मा से भटक कर बाहर संसार में उलझ ही गया। ऐसे ही जो भी संसार में पदार्थों तथा जीवों की दृष्टियां बनती हैं उनमें कोई चांदी जैसी सुख की मिथ्या दृष्टि भी उत्पन्न हो जाती है। इच्छा या काम भी उत्पन्न होता है और मनुष्य उनमें उलझा-उलझा जीवन भी व्यतीत कर देता है। अब इस पद्य का यह भाव है कि ध्यान द्वारा उन चमकीली वस्तुओं को मिथ्या और दुःख रूप समझने पर उनके बारे में जो भी राग, काम आदि बन्धन बहते हैं उनको मनुष्य स्मृति और मन की उपस्थिति रखते-रखते क्षण-क्षण त्याग करने के लिये सीखे अर्थात् शनैः-शनैः त्यागने का अभ्यास यहाँ तक बढ़ाये कि इनके विकार, बन्धन या दोष उत्पन्न होते ही या मन में दर्शन होने पर भी बिना सोचे तथा अधिक समझे सत्य के ज्ञान को उपजाये तथा उन्हें तत्काल सर्वथा दग्ध करने वाली अग्नि के समान ज्ञान रूप अग्नि से भस्म कर दे। तब जैसे-जैसे यह बन्धन टलते-टलते क्षीण होते जायेंगे, आत्मा का शान्त सुख प्रकट अनुभव में आता जायेगा। जैसे एक बार अग्नि से हाथ जलने पर दूसरी बार के लिये मनुष्य अग्नि के सम्मुख होने पर सम्भलने के

卐卐

लिये सीख जाता है, तत्पश्चात् जब कभी अग्नि से पाला पड़ा तो बिना सोचे विचारे इससे बचाव कर जाता है; सोचने का भी क्षण नहीं आने देता। ऐसे ही धीर पुरुष को दुःख को या मिथ्या सुखों के बन्धनों को क्षण-क्षण टालने का अभ्यास करते-करते आत्मा के सुख तक पहुँचना है, पुनः कहीं इन सांसारिक सुखों में नहीं भागना। उनके इच्छा आदि विकार आने पर उस इच्छा को भी बहुत समय तक मन में टिके नहीं रहने देना। पहले पहल तो ज्ञान उपजाकर, इच्छाओं के सुख को दुःख समझकर ही धीरे-धीरे इच्छा के चक्कर से या राग आदि बन्धनों से टला जायेगा। परन्तु समय पाकर जब-जब यह इच्छा संस्कारों के वश मन में कहीं खड़ी हुई तो बिना ज्ञान उपजाये तथा उसके लिये बिना विचार जगाये भी त्यागी जायेगी।

बाहर राखे शील अन्दर राखे सही ध्यान,
दुःख को परिहरे जनाकर सही ज्ञान।
ऐसे वैसे दुःख से रहे न भयभीत;
तुच्छ सुख त्यागे, राखे तप से भी प्रीत।।

। ३२० ।

जिस प्रकार से मोक्ष मार्ग के पथिक को अपने आप में या एकान्त में सचेत और सावधान रहना चाहिये, यह सब गत पद्यों में सूचित किया गया। अब यह पद्य यह दर्शा रहा है कि मनुष्य अकेला तो संसार में आठों पहर, तीसों दिन या वर्ष भर रह न सकेगा। दूसरों का संग भी होना अनिवार्य (न टलने योग्य) होगा। तब दूसरे अपने व्यवहार

या बर्ताव से जैसा कुछ उनके कर्मों के अनुसार स्वभाव है, वैसा ही करेंगे। हो सकता है वह उनका मान, अहंकार आदि का व्यवहार (बर्ताव) धार्मिक जन के मन को भी अशान्त और विक्षुब्ध (चलायमान) करके उसकी शान्ति और ध्यान को बिगाड़े; ध्यान में विघ्न उपस्थित करे; तब संसार के दुःखों से अत्यन्त (बिल्कुल) मुक्ति पाने वाले को किस प्रकार रहना चाहिए ? यही सब सूचना यह पद्य, पीछे कही गयी होने पर भी संक्षेप से स्मरण करवाता है।

पद्यार्थ :- बाहर अर्थात् जगत् के प्राणियों में अपना बर्ताव सदा सही रखे। इसे ही शील कहते हैं। यद्यपि दूसरों के बर्तावों से अपने मन में उत्तेजना (जोश) उत्पन्न होकर दूसरे को वैरी जैसी दिखलाने की मिथ्या दृष्टि करवाती हुई दूसरे को वैरी जैसा ही प्रकट करेगी। तब उससे अपना बर्ताव बिगाड़ने का संकल्प भी होगा। मन क्रोधी होकर भी लम्बे समय तक सोचों विचारों में बहता रहेगा। इस मन को शान्त करने के लिये अन्दर अपने आप में सही ढंग का ध्यान अपनाये। मिथ्या क्रोध तथा अहंकार आदि से मन को अपने ही ढंग की प्रसन्नता को उत्पन्न करने के लिये बदला लेने आदि के मिथ्या ध्यानों में न पड़े। ऐसे मिथ्या ध्यान द्वारा जिधर मन भड़क कर जाना चाहता है या जो कुछ करवाना चाहता है उस सब का फल दुःख तथा अशान्ति और अधिक उलझन देखते हुए भविष्य में जीवन काल में हीं होने वाले दुःख से अपने को बचाये। जो कुछ ऐसा वैसा मन के विक्षेप से दूसरे से

दुःख होता है, उससे अधिक डरे नहीं। प्रत्युत् (बल्कि) धैर्य के साथ उस दुःख में अपनी स्मृति (याद) और मन की उपस्थिति न खोकर उस दुःख के साथ समय व्यतीत करने का अभ्यास करे। इस दूसरों के संग के दुःख न होने पर जो कोई मन को अल्प (थोड़ा) सुखी होना था वह यदि नहीं हुआ तो उस की चिन्ता न करे। वह संग सुख यदि नहीं मिल सका तो उस सुख का मन से भी त्याग करके यथा समय (जैसा कुछ समय है) जो अनुभव में आ रहा है उसी में सही रूप से अपने को रखे। कहीं ऐसे दुःख के क्षण की लपेट में आकर कुछ बाहर खोटा व्यवहार करके अधिक दुःख और दूसरों में उलझन न बढ़ाये। यही दुःख में इरादे के साथ, दुःख की तपन में भी स्थिर रहना रूप तप है। इससे भी थोड़ी प्रीति रखने से समय पाकर सत्य बोध द्वारा मन सब प्रकार की बाहर की उलझन के शान्त होने पर अपनी आत्मा में ही सुखी होगा। दूसरों के मिथ्या व्यवहार की उपेक्षा हो जायेगी। प्रीति और मन की प्रसन्नता भी बनी रहेगी। उपेक्षा का अर्थ है कि दूसरों का दुःखदायी बर्ताव आदि मन में अटका नहीं रहेगा। इसके लिये थोड़ा ध्यान में विचार जगाकर सत्य का बोध प्रकट करना पड़ता है। दूसरों की भी सांसारिक सुख की दासता और इसी के लिये अपने उसी सुख के लिये ही दुःखी करने के कर्मों की भी अधीनता, और शक्तिहीन होने के कारण ज्ञान ध्यान में योग्यता न होने से अज्ञानता का शाप ही सांसारिक प्राणी से दूसरों को शरीर तथा वाणी आदि

से दु:खी करने के सब व्यवहार या बर्ताव करवाता है। यही सब सत्य बोध अपने आप में शान्ति सुख चाहने वाले को अपने आप में ध्यान में उन्नत विचार को जगाकर सत्य पहचानना है। तभी संसार से मुक्ति मिलेगी। दूसरों को आप अपने अनुकूल किसी भी शक्ति से नहीं चला सकते और नियम, धर्म भी किसी पर नहीं लाद सकते। 'युक्ति संगत ऐसा है; वैसा है', 'यूँ-यूँ' करना चाहिये; 'त्यूँ-त्यूँ' नहीं करना चाहिये; इत्यादि आप दूसरों को बलपूर्वक नहीं समझा सकते। 'दूसरा भी कोई इन सब को सुनकर कर सकेगा'. यह सब उसके वश की बात भी नहीं। माया या संसार चलाने वाली शक्ति की विद्युत (बिजली) तरंगें दूसरे पशु पक्षियों को अन्धाधुन्ध चलाती ही हैं परन्तु साधारण जन की भी बुद्धि पर पर्दा डालकर तथा बुद्धिमान् को भी मिथ्या मार्ग पर ही खींच ले जाती हैं। इससे तो यदि आपसे प्राचीन ऋषियों द्वारा बताये मार्ग से चलकर बचा जा सके तो बच जायें, दूसरों से कुछ न चाहते हुए कोई आशा मत करो; चाहे आपका वह पुत्र जैसा प्रिय प्राणी भी हो।

ॐ इति सम्यक् दर्शन सुचर्या वर्ग ॐ

卐卐

卐 अथ आत्म–प्रेरणा वर्ग 卐

धर्म का संगी न मिलने पै शोक में कभी न खोये,
धार्मिक जन का जीवन खोजे कभी हुआ जो कोये।
पूर्ण प्रज्ञ सर्वज्ञ की चर्या में श्रद्धा राखे प्रीति;
उन्हीं के पद चिन्हों का हो अनुगम छोड़े न उनकी रीति।।
। ३२१ ।

यह जो इस ग्रन्थ में वेद शास्त्रों का केवल अपनी आत्मा में ही सब दुःखों के परिहार से शान्ति और सुख पाने का मार्ग बतलाया गया वह केवल अपने आप में ही सुधार और ध्यान की उन्नति द्वारा सत्य का ज्ञान पाने का है और सत्य बोध द्वारा अज्ञान और सब बन्धनों से मुक्ति पाकर अनन्त शान्ति लाभ करने का है। इसे दल बाँध कर आचरण में नहीं लाया जाता। जैसे कि सांसारिक बहुत जनों के सम्मिलित स्वार्थ से दल बाँध कर सब एक साथ कोई यत्न करके कोई कार्य सिद्ध करते हैं और कार्य सिद्ध होने पर उसके लाभ के सब भागी बनते हैं, ऐसे यहाँ दल या गुट बना कर कोई एक कल्याण या मोक्ष का मार्ग नहीं चला जाता। यहाँ तो एकान्त में अपनी आदतों को पहचान कर उसे मोक्ष मार्ग के अनुकूल बनाना है। ध्यान से अपने आपको समझना है। समझ बूझ के साथ सभी प्रकार से अपने को सुधारते और प्रबल बनाते-बनाते अपने मन बुद्धि द्वारा ही परम प्रभु के द्वार तक पहुँच कर उसी में बसी या रहने वाली परम शान्ति के सुख को पाना है। परन्तु अकेले जहाँ कहीं कुछ करते-करते कठिनाई आती है, वहाँ मनुष्य

उत्साह भंग होने का भय देखता है। ऐसे अवसरों पर दूसरे किसी को उत्साह थामते हुए देख कर स्वयं भी उत्साहित हो जाता है। इसी शंका को यहाँ रखकर इस पद्य में यह भाव व्यक्त किया गया है कि :-

पद्यार्थ :- यदि इस कल्याण के धर्म के मार्ग पर चलते हुए मनुष्य को कोई समय-समय पर उत्साहवर्धक जन न भी मिले तो भी उसे इसका कोई शोक नहीं करना चाहिये; यदि प्रेरक या उत्साहवर्धक स्वयं आचरण करने वाला कोई गुरु मूर्ति मिल जाता है तब तो वही दूसरे के उत्साह को भी स्थिर रखेगा। परन्तु ऐसा यदि कोई न भी मिले तो उसे किसी धार्मिक गुरुजन की जीवनचर्या को स्मरण करके अपने कर्तव्य और उत्साह को सही रखना चाहिये। चाहे वह जन कभी भी हुआ हो (किसी भी समय पर), अपने जीवन काल में या पुनः जीवन काल से पहले हो चुका हो परन्तु उसकी चर्या या चलने का मार्ग हमें पढ़ने या सुनने में आया हो। उसी ऐसे महापुरुष के जीवन को एकान्त में आसन पर बैठकर खोजे कि मेरे जैसी इस मार्ग की कठिनाई यदि उन पर पड़ी होगी तो वह कैसे अपने आप को सम्भालते होंगे ? किस प्रकार अपने उत्साह को धर्म मार्ग में बनाये रखते होंगे ? इत्यादि-इत्यादि सब स्वयं ध्यान में खोजने से सम्मुख (सामने) के या जीवित दूर रहने वाले गुरु से भी यहाँ अधिक प्रेरणा देने वाला सिद्ध होगा। यही जो कि एकान्त में आसन पर ध्यान में गुरुजनों के जीवन को खोजना और इस से भी बढ़कर यह होगा कि जिस आदि पुरुष ने यह धर्म या कल्याण के मार्ग को

चलाया; साधारण मनुष्य की समझ में बैठाया, ऐसा पूर्ण प्रज्ञा (सत्य ज्ञान) वाला जो सर्वज्ञ भगवान् इस धरती पर कभी हुआ तो वे कैसे इन सब मेरी समस्याओं के साथ संसार में रहते होंगे ? ऐसी उनकी श्रद्धा रख कर उन पर विश्वास करके उन्हीं की जीवनचर्या (जीवन में चलने का प्रकार) पर श्रद्धा और प्रीति रखे और उन्हीं के पद चिन्हों का अनुसरण या अनुगमन (पीछे चलना) करे अर्थात् जैसे वे चले वैसे आप भी उन्हीं के धर्म के आदेशों (आज्ञाओं) के अनुसार चलने का यत्न करे। उनकी रीति को न छोड़े। जैसे उन्होंने सही समझा वैसे ही स्वयं भी चले। भले अभी वह सब अपनी समझ में लाभकारी जैसा न भी प्रतीत हो। कभी समय आने पर उनका सब सत्य हमें व्यापक सत्य के रूप में अनुभव में आ ही जायेगा। तब हमारा सब अज्ञान टल जायेगा। सत्य के मार्ग पर बने रहने की प्रेरणा भी सदा बनी रहेगी; उत्साह भी नहीं टूटेगा। दुःख सहन करने में आनाकानी भी नहीं होगी; इत्यादि-इत्यादि सब उस प्रभु का या उनके मार्ग पर चलने वाले सही उद्योग में लगे पुरुषों की जीवनचर्या को ध्यान विचार में खोजने से लाभ होगा।

एकाकी से चल सकने का चला हुआ ही सभी होये,
कोई कभी न चल सक्यो, हत प्रज्ञ क्यों धैर्य को खोये।
श्रम करते का कुछ नहीं बिगड़े ढीला तो ढुलकता जाये;
बहु गिरने पै क्षततर दीखे फिर भी तो उठना भाये।।
। ३२२ ।

यह पद्य भी गत पद्य में कहे सत्य को ही पुष्ट करता है।

पद्यार्थ :- जो कुछ भी मनुष्य ने अपने हित के लिये करना है या अपने भले के जिस मार्ग पर चलना है वह सब अपने यत्न से ही तो होगा। स्वास्थ्य आदि के लिये पथ्य (परहेज़) रखना; कटु औषध खाना; किसी यात्रा पर चल कर वहाँ पहुँचना आदि-आदि और अन्य भी जो धन आदि कमाना; परिवार पालना इत्यादि-इत्यादि कर्म हैं वे सब भी स्वयं तो अपने आप अकेले से ही अधिक करने के लिये होते हैं। उसी प्रकार धर्म का मार्ग भी अपने आप द्वारा ही चला जाने का है तो कोई नवीन वार्ता नहीं है। जो कोई भी चलने का मार्ग बतलाया गया या दर्शाया गया है वह सब अकेले का अपने आप में चलने योग्य ही था तभी तो कोई उसे बतला गया है, यदि वैसे चलने योग्य न होता या न चलकर देखा हुआ ही होता तो कोई किसी ने क्यों बतलाया होता ? ऐसी श्रद्धा रखकर धर्म के मार्ग पर चलने का उत्साह सदा बनाये रख कर कठिनाई में भी अपने आप को सम्भालने का यत्न धार्मिक जन को बनाये रखना चाहिये। यदि कभी धर्म के मार्ग पर अपना चलने का उत्साह ढीला पड़ता दीखे तो अपनी बुद्धि और खोजने की शक्ति को मरी जैसी न होने दे और अपना चलने का उत्साह भी न खोये।

यदि आप श्रम (मेहनत) करते हुए भी, मान लो ! सफल न भी हुए तो भी कुछ बिगड़ने का तो है नहीं । क्योंकि आपने अपने आपको श्रम से चेतन तो कर ही लिया; जगा ही लिया; थोड़ी तंगी की अवस्था में तप रूप गुण भी धारण कर ही लिया; कभी अधिक ऐसे यत्न से पार

भी हो ही जाओगे। यदि पुनः थोड़ी सी भी कठिनाई दीखने पर उत्साह भंग करके धर्म के मार्ग पर चलने में ढीले (प्रमादी) हो गये तो फिर गिरने के मार्ग पर उत्तरोत्तर (आगे से आगे) अधिकाधिक, दिनोंदिन गिरते ही जाओगे। जीवन सदा प्रगतिशील है। एक स्थान पर सदा एक जैसा टिका नहीं रहता; चढ़ते-चढ़ते ऊपर उठते-उठते एक दिन चोटी पर भी पहुँचता है। गिरने जो लगे; तो नीचे-नीचे संसार के चक्रों में ही यदि पुनः पड़ा रहा तो अत्यन्त नीचे दुर्गति में भी पहुँचेगा, खाली तो रहा जायेगा नहीं। अधिक नीचे जाने पर संसार में ही रुलते रहने पर जब पुनः उसी मार्ग में ही, उन्हीं सुखों में ही दुःख ही सम्मुख आ पड़ा तब भी अब उन दुःखों से बचने के लिये उन संसार के सुखों का अनुसरण करने का मार्ग तो छोड़ना ही पड़ेगा। क्योंकि अब उसे आगे अपनाये रखने में मृत्यु या मृत्यु के समान ही दुःख सम्मुख पड़ेगा। ऐसी अवस्था में अब पुनः जो संयम साधन करना और अपने को सम्भालना होगा वही अधिक कठिन पड़ेगा। पहले से ही, आगे या भविष्य में आने वाले दुःख को श्रद्धा या प्रज्ञा (अन्तर्दृष्टियां, सत्य के दर्शन) द्वारा समझ कर अपने को सम्भालने में क्लेश या कठिनाई अधिक नहीं है। उठना अवश्य पड़ेगा, अवश्य सम्भलना ही होगा। जो मन को संसार के मार्ग पर चलते हुए को अच्छा लगता है या मन को भाता है वह सब सदा बनाये नहीं रखा जा सकता, ऐसा समझ कर पहले से ही धर्म धारण करने या अपने को सम्भाल के साथ कल्याण मार्ग पर चलाने में कष्ट या कठिनाई अत्यन्त ही अल्प

(कम) है। अपना आपा पीछे अधिकतर क्षति (नुकसान) पाया हुआ (क्षततर) दीखने पर तो पुनः पहले के मिथ्या सुखों के मार्ग से टलना ही पड़ेगा। अन्यथा रोग या अधिक पीड़ा जीवन को भार जैसा दिखला कर मृत्यु की ही कामना करवायेगी। इसीलिये मनुष्य को बुद्धि रखते हुए ही अपनी आदतों के मार्ग से टल कर अन्दर अपने आत्मा की नित्य तथा बाहर की सामग्री के बिना भी मिलने वाली सुख शान्ति की धर्म के नियमों के अनुसार खोज करनी चाहिए।

जब कोई भी जन बाहर के सुखों को दुःख देने वाला अनुभव करके उनसे मन को मोड़ता है तो वह उनमें खेलने वाला मन पुनः उनके बिना शान्ति तथा सुख के स्थान पर विक्षेप तथा दुःख प्रतीत करके संसार में अधिक दुःखी ही होता है। ऐसी अवस्था में अन्तरात्मा की खोज ही सहारा है। और यदि यह सब व्याधियों से रहित और परे मिल जाये तो सबसे बड़ा फल है। इसी भाव को आगे का पद्य भी दर्शाता है।

पहले का उठना कठिन न होई पाछे का उठना शूल,
जब चीनो, यदि तभी नहीं सुधरे जाय संग सो मौत के भूल।
बाहर की तो जन बहु कुछ जाने, अन्दर अन्ध तम छाये;
बिनु अन्दर की नियति जाने दुःख से कौन बचाये।।

। ३२३ ।

यदि समय रहते-रहते और अपने मन और शरीर में सामर्थ्य भी रहते-रहते मनुष्य अपने को ढिलाई (प्रमाद) से बचाना या सम्भालना आरम्भ कर दे तो यह कोई कठिन

बात नहीं क्योंकि तब देह आदि में बल है और मन में भी अवस्था के अनुसार हित के मार्ग पर चलने का उत्साह भी। हाँ ! परन्तु यदि मनुष्य सांसारिक मिथ्या सुखों में ही जीर्ण हो गया, मन की बाह्य सुख और निद्रा आदि से ही दुर्बल पड़ गया और रोगों से भी घिर गया तब तो उठना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी हो जायेगा। तब मन पश्चात्ताप में पड़ा-पड़ा दुःखी ही होगा। यही शूल रूप है। मान लो ! अभी अपनी बुद्धि समय न पहचान सकी और यदि गुरुजनों के वाक्यों में श्रद्धा न होने के कारण धर्म मार्ग पर पहले से चला भी नहीं जा सका या भली सत् संगत ही नहीं मिली तब भी यदि इन्हीं संसार के सुखों के साथ अपने में या दूसरों में अब दुःख पहचानने में आने लग जायें तब पुनः इस सत्य दर्शन से आँखें बन्द न करता हुआ जन कुछ अपने सुधार के मार्ग पर चलने का क्लेश अवश्य धारण कर ही ले। धारण करना ही धर्म शब्द का अर्थ है। खाने, पीने, बोलने, सोचने और दूसरों के संग व्यवहार करने में कई एक प्रत्यक्ष बुराइयाँ बालपन (लड़कपन) की या यौवन की आदतों से होने लगती हैं। उन्हें सुधारना आरम्भ करे। यदि इन बुराइयों के थोड़े सुख के कारण इनके दुष्परिणाम (बुरे नतीज़े) रूप आगामी दुःख से आँख बन्द ही रखी गयी तो यह भूल मनुष्य के साथ मृत्यु में भी पहुँचेगी और आगे के जन्म को भी बिगाड़ेगी। इसलिये मनुष्य को मानव बुद्धि और मानव जन्म का लाभ उठाते हुए अपनी बुद्धि को जगा-जगा कर आने वाले दुःख को आने से पहले ही ज्ञान दृष्टि द्वारा

देखकर पहले से ही उससे बचने के लिये यत्नशील होना चाहिए।

जैसे अपने सांसारिक धन्धों या स्वार्थों को पूरा करने या सम्भालने में मनुष्य बहुत बुद्धिमत्ता से काम करता है, परन्तु इस बाहर की बुद्धिमत्ता में तो सब चतुर हैं। बाहर की सब कुछ जानते हैं; एक दूसरे को देखकर सीख भी लेते हैं; परन्तु अन्दर आत्मा के कल्याण के बारे में उनकी बुद्धि में गाढ़ा अन्धकार सा छाया रहता है। जब वह बहिर्मुख मन बुद्धि वाले कुछ अन्दर की सोचने विचारने की सोचते भी हैं तो उनकी बहिर्मुखता या सांसारिक स्वार्थ उन्हें निद्रा में डाल देता है। यहाँ वे गाढ़े अन्धकार में डूब जाते हैं; उठते ही बाहर का धन्धा घेर लेता है। पुनः उसी में व्यस्त (बुरी प्रकार से पटके हुए) होकर जीवन को खोने के मार्ग पर चलते रहते हैं। परन्तु जब तक यह अन्दर के सत्य या आत्मा के बारे में जो कुछ नियम या मर्यादायें हैं कि 'किस प्रकार रहने या चलने से अन्त में भला होता है?' और 'कैसे बर्तने या रहने से अन्त में मनुष्य को कुछ भी बुरा या दुःख, दुर्गति प्राप्त नहीं होती ?' यही सब अन्दर की नियति है अर्थात् नियमों की मर्यादा है, यदि इन सब का ज्ञान नहीं होता तो इन सब के जाने बिना मनुष्य अपने को यूँ समझे कि जैसे वह सोये-सोये संसार के सुखों के पीछे भागते रहने वाला केवल दुःख को ही अकस्मात् अपने ऊपर लादने के मार्ग पर है। 'उससे वह अपने को कैसे बचा पायेगा', यह उसे कभी भी नहीं सूझेगा। इस सब का भाव यही है कि उसे समय रहते बालपन की भूलों

से उठना सीखना चाहिए नहि कि अधिक ढिलाई (प्रमाद) में समय बिताना या खोना। अपने को बाहर सब सही मार्ग पर रखना: पुनः अन्दर ध्यान द्वारा मन के सब विकारों को पहचानना : वैसे ही सही ज्ञान उपजाकर उन सब से मुक्ति पाकर आत्मा को सुख रूप से पहचानना, यही सब भला मार्ग है।

हर्षित, दीपित, प्रेरित करना यही शब्दों का काम,
पूर्वजों की धर्म की संज्ञायें यही सब सत् के नाम।
सन्मार्ग पै चलने के हेतु करना इन्हीं का ध्यान;
जगे विवेक, विचार से इनके, शम सुख मुक्ति निधान।।

। ३२४ ।

दुःख किसी भी जीव को अच्छा नहीं लगता। परन्तु संसार में जन्म से पाये जाने वाले जीवन के साथ अन्त में केवल दुःख ही मनुष्य के भाग्य में बंधा है। इसी सत्य को पूर्व के वेद शास्त्रादि के ऋषियों ने और आचार्यों ने साक्षात् अपनी बुद्धि द्वारा समझ कर संसार में सब के स्थायी (टिकाऊ) भले के लिये कई एक प्रकार से मनुष्य को समझाने की चेष्टा की तथा इसी मार्ग पर चलाने का भी यत्न किया। उन्हीं के शब्द आज तक हमारे सम्मुख उपस्थित हैं; और हमें भी उन शब्दों द्वारा प्रेरणा लेकर उनके मार्ग पर चलने का यत्न अपनी तथा साथ-साथ दूसरों की भी भलाई के लिये करना होगा। यत्न तो स्वयं भलाई चाहने वाला ही करेगा; परन्तु प्रेरणा उन महापुरुषों के वचनों या शब्दों से ही प्राप्त करनी होगी। इसी वार्ता को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- छिपे रहने वाले सत्य जो जानने पर ही हमारी भलाई के लिये सिद्ध होते हैं, ऐसे ये सब सत्य जैसे कि आत्मा, परमात्मा, जगत् के बन्धन आदि-आदि अन्य और भी जैसे कि दुःख से मुक्ति पाने के लिये विशेष प्रकार की जीवनचर्या आदि के सत्यों को, जो हमारे पूर्वकाल के ऋषियों ने अपने शब्दों द्वारा ग्रन्थों में व्यक्त (प्रकट) किये हैं, उन सत्यों को बुद्धि द्वारा समझने पर तथा उनसे हमारी भलाई प्रकट झलकती हुई दीखने पर मन हर्षयुक्त होता है; और उन्हीं सत्यों को न अपनाने के कारण से ही दुःख से जलता हुआ संसार दीखने पर वही ऋषियों के शब्द हमारे मन को दीप्त प्रचण्ड करते हैं कि हमें अवश्य इस संसार की अग्नि से इन्ही सत्यों को अपना कर बचना है। वे पहले के ऋषि इसी मार्ग पर स्वयं चलकर अन्त में परम सत्य को पाकर स्वयं आनन्दित (आनन्द युक्त) और कृत-कृत्य हुए; इससे हमें भी उन्हीं के परम सत्य को पाने के लिये उन्हीं के अत्यन्त विश्वास वाले शब्दों से प्रेरणा भी मिलती है कि हम भी स्वयं उन्हीं के पद चिन्हों पर चलकर इस भव सागर से पार होकर अनन्त शान्ति को अपनी आत्मा में ही प्राप्त करें।

इन्हीं सत्यों को व्यक्त या प्रकट करने में जिन नामों (संज्ञाओं) को उन्होंने अपने ग्रन्थों में भी स्थान दिया है वह सब सन्नाम (श्रेष्ठ नाम) हैं जैसे कि भगवान्, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि अन्य और भी कई एक शब्द जिनके द्वारा कोई संसार की अन्य वस्तु हमारी समझ में तो पड़ती नहीं परन्तु उन्हीं के प्रयोग में लाये गये शब्दों के अनुसार

शान्त चित्त हो भलाई के सन्मार्ग पर चलने के लिये ध्यान करने से ज्ञात होगा कि ये सब नाम या शब्द किन अर्थों को बतलाने वाले हैं। अपने मन को संसार मार्ग से हटाकर, पुनः मिथ्या प्रकार से निद्रा के भी वश में न पड़ने देने के लिये इन्हीं शब्दों द्वारा अपने अन्दर सत्य का ध्यान जगाकर सत्य को समझने का यत्न करना है। यदि मनुष्य संसार के धन्धों से फुरसत पाकर या न्यारा होकर बैठेगा तो उसके मन को जगाने वाला यदि और कोई विचार नहीं रहा तो मन आलस्य या निद्रा में सुख देखकर उधर निद्रा की ओर ही झुक जायेगा। ऐसी अवस्था में पुनः संसार के विचारों के स्थान पर इन्हीं ऋषियों के शब्दों का ध्यान करने से मन जगेगा। इन्हीं शब्दों के अर्थ का विचार करेगा। यही विचार ध्यान रूप बन जायेगा। यह समझता हुआ कि इन आत्मा आदि शब्दों के अर्थ तो अन्दर की ही कोई वस्तु या अन्दर का ही कोई सत्य है। जब यह ऋषियों ने अपने अन्दर पाया तो मैं भी ध्यान द्वारा इसे क्यों नहीं समझ सकूंगा ? यही सब प्रेरणा है। जब उन्हीं आचार्यों के वचनों के अनुसार सत् चित् आनन्द रूप आत्मा का विचार या ध्यान जगेगा तो पहले तो जगत् में भटकने वाला असत् तथा अनित्य और अनात्मा रूप ही दृष्टि में पड़ेगा। तब कहीं और इससे दूसरे सदा एक रस रहने वाले के लिये भी मन की इच्छा तथा खोज होगी। तब ऋषियों और आचार्यों का दर्शाया हुआ आत्मा भी ध्यान में आयेगा। उसको पाने का या साक्षात्कार में लाने का पवित्रता का मार्ग भी (इन्हीं आचार्यों द्वारा दर्शाया हुआ)

समझ में पड़ने या आने लगेगा। जब हर्षयुक्त, दीप्त या प्रचण्ड होकर उसी मार्ग पर संसार के मिथ्या सुखों को त्याग कर चलने के लिये श्रद्धा और विश्वास वाला होकर मनुष्य कमर कसेगा, तो एक दिन उस उद्योगी पुरुष को भी, साधन पूर्ण होने पर, शान्ति और नित्य सुख अपनी आत्मा में ही स्थित (टिके हुए) प्राप्त होंगे।

इस पद्य का विशेष भाव या सार यही है कि हमें उन ऋषियों के दर्शाये गये मार्ग पर चलने के लिये तीन प्रकार से यत्न करना पड़ेगा। उन ऋषियों ने प्रथम तो बाहर के जीवन की शुद्धि बतलायी है; जिसका यह तात्पर्य है कि इस प्रकार बाहर संसार में अपनी चर्या रचनी जो कि अपने मन को समझने के लिये या अन्दर आत्मा के सत्य को पहचानने में अनुकूल रहे नहि कि जैसा कुछ आदतों वाला या मौके का मन काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों को जगा कर भड़काता है, वैसे चलना। पुनः अपना खाने, पीने आदि में भी संयम रखना; दूसरों के प्रति भाव तक भी ऐसे ही ढंग के रचना जैसे कि मन को शंका आदि में न डालकर ध्यान तथा ज्ञान के अनुकूल होते हैं। ये सब इसी पुस्तक में स्थान-स्थान पर बतला दिये गये हैं। दूसरे पुनः वैसे ही जिन-जिन मिथ्या कर्मों में या मिथ्या मन के भावों में मन बहता है, उनको भी अपने आप में पहचानने के लिये अन्दर की दृष्टि को जगाना। इससे ही अपने आप को तथा दूसरों को समझने या जानने की योग्यता प्राप्त होगी। यही आत्मा तथा परमात्मा का ध्यान, विचार आरम्भ हो जायेगा। तीसरा, इसी ध्यान, विचार द्वारा छिपे हुए

卐卐

सत्यों का ज्ञान भी होगा। पुनः किस प्रकार अज्ञान से जीव मिथ्या सुखों के लिये भयंकर दुःखों में बह रहा है, ऐसे बहुत से उन ऋषियों के सत्य जानने में आयेंगे। पुनः जाने हुए इन्हीं सत्यों से स्वयं मन को प्रेरणा मिलेगी कि अपना जीवन का मार्ग सही ढंग से चलाना चाहिये। यही सब ऋषियों ने किया और दूसरों को दर्शाया : सो यह सब हमें भी उनके शब्दों के ध्यान से अपने में जानना है। यही सब इस पद्य का भाव है।

जग से मन का बुझता जाना यही है पद निर्वाण,
ध्यान में इसका सत्य पहचाने जग रण जित ब्रह्म बाण।
रहे न इसमें रहने की इच्छा पूरण हो वैराग्य;
जो कहीं नहीं देवन में रम्यो सत्त्व त्यागे सौभाग्य।।

। ३२५ ।

संसार के सब फलों से उत्तम अपनी आत्मा में ही स्थायी (सदा बनी रहने वाली) शान्ति और सुख रूप फल को पाने के लिये जहाँ तक कि मन को उठाते जाना है, उसी की सीमा यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- अपने आप संसार में किसी भी ऐश्वर्य आदि वाले के रूप में होने का मन जब-जब उत्पन्न हो अर्थात् संसार के संस्कारों के स्फुरित या जागृत होने पर उठे तब-तब साथ ही साथ यदि क्षण-क्षण मन स्वयं ही बुझता जाये अर्थात् निवृत्त (टलता) होता जाये तो यही शास्त्रों में निर्वाण या मोक्ष के नाम से कहा गया है। पहले पहल तो, जबकि संसार की तृष्णा अभी किसी न किसी रूप में बनी बैठी हुई होगी तब तक तो ध्यान द्वारा तृष्णा के सुखों की

卐卐

तुच्छता के सत्य को समझने पर और तृष्णा की आदतों के बल के विपरीत थोड़ा दुःख सहन करके उद्योग करने पर ही यह मन बुझेगा या निवृत्त (टला हुआ) होगा। परन्तु जब साधन द्वारा शनैः-शनैः तृष्णा की शक्ति क्षीण हो गयी तो क्षण-क्षण स्मृति या मन की उपस्थिति रखने पर ही सब तृष्णा के बन्धन का संस्कार अपने आप बिना सोचे विचारे या ज्ञान उपजाये भी मिटने लगेगा। केवल दृष्टि अवश्य जागती रखनी पड़ेगी। जब यह मिटता जायेगा तो क्षण-क्षण मोक्ष या निर्वाण का सुख भी प्रकट अनुभव में आयेगा। तृष्णा की छिपी शक्ति आदत वाले मन में झलकती है जबकि तृष्णा मन को व्याकुल सा बना देती है। परन्तु जब तक इस ऊपर कही गई उन्नत दशा तक मन नहीं उठा तब तक संसार के तृष्णा के राग आदि बन्धनों के जाल से निकलने के लिये मन को प्रेरित करने के लिये ध्यान द्वारा इसी बारे में सत्य पहचानना पड़ेगा। अर्थात् तृष्णा पूरी करते रहने के सुख रूप फल की तुच्छता का सत्य ध्यान में विचार जगा कर अन्तर्दृष्टि (प्रज्ञा) द्वारा पहचानना पड़ेगा। अन्तर्दृष्टि ही इस तृष्णा के सुख को अन्त समय के बड़े भारी दुःख के बन्धन के रूप में दिखलायेगी। तब उसी तृष्णा के सुख के साथ बंधा दुःख ध्यान दृष्टि में प्रकट देखकर साधक पुरुष उसके भय से ही तृष्णा से मुक्ति चाहेगा और उसके सुख को दूर से ही नमस्कार करके पीछे हटने या इससे टले रहने के दुःख को भी स्वीकार करेगा। यह जो दुःख है वह तो तृष्णा के दुःख की अपेक्षा एक कण भर ही होगा, परन्तु तृष्णा के सुख के

अन्त होने का दुःख मन भर। इच्छा पूर्ति, वैर की पूर्ति या मान आदर आदि के कारणों से मन संसार में क्या का क्या होना चाहता है; उत्तेजना या जोश उसे बुरी प्रकार से प्रेरित करके जग में धकेलते हैं, इन सब से बचने के लिये धैर्य धर कर ध्यान द्वारा इस सत्य को पहचानना होगा कि जिधर मन संसार में सुख देखता है, वह सुख तो केवल प्रतीति में या केवल एक चमक मात्र में ही है। परन्तु उस संसार में होने का दुःख अनन्त है। यही सत्य की पहचान अपने मन को बलपूर्वक भी संसार के चक्कर में रुलने से सम्भाले रखेगी। इसी से जग के साथ जो रण है अर्थात् जगत् अपनी ओर खींचता है; मोक्ष चाहने वाला उससे बचना चाहता है, यही इस जग के साथ रण या युद्ध है। उसको जीतने के लिये यही सत्य दर्शन ब्रह्म-बाण का कार्य करेगा। शास्त्रों में ब्रह्मास्त्र (ब्रह्म बाण) को अमोघ कहा गया है अर्थात् यह अपना काम करने में कहीं भी विफल नहीं होता। इसीलिये सत्य दर्शन या सत्य के प्रकट ज्ञान को ब्रह्मास्त्र की उपमा दी गयी कि यह भी यदि प्रकट हो गया तो जगत् के साथ होने वाले रण में हमारी जीत ही करेगा। परस्पर जीवों में एक दूसरे के स्वार्थों के संघर्ष की उलझन रूप भी ऐसा ही अशान्त करने वाला रण है जो कि संसार में ही बने रहने की इच्छा रखने पर कभी भी जीता नहीं जा सकता अर्थात् जब तक कि आप पूर्ण वैराग्य रखकर इस संसार की सकल तृष्णा के बलों से मुख नहीं फेर लेते तथा अपनी ही आत्मा का सुख नहीं खोजते तब तक इस जग के रण से आपका पीछा नहीं

छूटेगा और किसी न किसी रूप में इसी संसार के द्वन्द्व रूप दुःख में ही बसे रहने की तृष्णा बनी रहेगी। इसी वार्ता को कहा है कि यहाँ सत्य-ज्ञान के लिये ध्यान जगाये कि संसार में जो जगत् के साथ रण या इसके द्वन्द्व में रहने की इच्छा है वह अत्यन्त शान्त हो जाये। द्वन्द्व शब्द का प्रयोग करने का यहाँ यह भाव है कि आप अपने को कुछ अन्य समझकर उसी अपनी समझ से ही दूसरे को अपने मन के अनुसार ही सत्ता देते हैं और उससे किसी न किसी रूप में इसी संसार के द्वन्द्व रूप दुःख में ही उलझे बैठे हैं। वह दूसरा भी अपनी समझ के अनुसार आप को कुछ और ही समझकर स्वयं आप से उलझ रहा है। इस प्रकार दोनों दो-दो के अपने-अपने भावों में झगड़ेबाजी में पड़े-पड़े दुःखी होते हैं। यही द्वन्द्व शब्द का तात्पर्य यहाँ समझना चाहिये। यही इस जगत् के द्वन्द्व में रहने की इच्छा को अत्यन्त शान्त करने का भाव ही यहाँ पर पूर्ण वैराग्य के नाम से शास्त्रों में कहा गया है। यहीं तक हमें भी मन को उठाना है कि तृष्णा की सूक्ष्मता का लेश भी न रहे।

वैराग्य होने पर भी यदि अभी आपको पूर्ण वैराग्य नहीं हुआ तो किसी न किसी लोक में ही अभी आपको होना पड़ेगा। परन्तु यदि पूर्ण वैराग्य हो गया तो आप संसार की सत्ता या हस्ती ही नहीं देखेंगे। आपको संसार मिथ्या प्रतीत जान पड़ेगा। केवल ज्ञान द्वारा बुद्धि सत्त्व (बुद्धि द्वारा दी गई हस्ती रूप सत्त्व) ही सब स्थानों पर लीला करता दीखेगा। यदि यहाँ तक अभी मन नहीं उठा तो आप कहीं किसी न किसी देव लोक को ही अपनी साधना के अनुसार प्राप्त होंगे। यदि इन सब देव लोक या स्वर्ग लोक, ब्रह्म लोक

卐卐

बैकुण्ठ या विष्णु लोक एवं शिव लोक आदि में मन नहीं रमा या न अटका, तो जगत् की सत्ता और साथ ही साथ जगत् में बने रहने की अपनी इच्छा तथा सत्ता को भी त्याग कर मोक्ष को प्राप्त होंगे। 'रहे न जग में रहने की इच्छा', इस पद्य के शब्द समुदाय का यह भाव नहीं कि जगत् में दुःख देखकर मरने की इच्छा करना। परन्तु इसका यह भाव है कि संसार के किसी भी बड़े से बड़े सुख को पाने के लिये मनुष्य व्यर्थ में अपने जीवन या शक्ति को न खोये अथवा 'किसी भी पद, ऐश्वर्य, अधिकार आदि के सुख को पाने के लिये संसार में बने रहने की इच्छा रखना', यह सब नहीं रहना चाहिये। क्योंकि इन सब सुखों के साथ या संसार में इन्हीं के कारण से होने या बने रहने के साथ अन्त में बड़े से बड़ा दुःख भी है और इन सब का सुख भी रहने का नहीं है। इसलिये इन्हीं के कारण संसार में होने की या रहने की इच्छा भी नहीं रहनी चाहिये : पूर्ण वैराग्य होना चाहिये। परन्तु यह होगा तब, जब आप ज्ञान की भक्ति करेंगे तथा सत्य को सम्मुख रखेंगे, तब यह वैराग्य उपजेगा। नहीं तो दूसरों को उनमें चिपके देखकर अपनी भी वैसी ही इच्छायें मृत्यु में भी साथ जायेंगी : और पुनः संसार में ही वैर, विरोध, लड़ाई, झगड़ों में दुःखी करती रहेंगी। यही सब उस शब्द समुदाय का भाव है।

इस पूर्ण पद्य का यही भाव है कि संसार में अपने आपको बनाये रखने का मन तक भी न रहे। संसार में रहने के लिये जो कारण है वह इसी संसार का दुःख है

जो कि संसार में रहते-रहते कभी भी नहीं टलता। एक दूसरे में होना, उनकी ही कल्पना की 'मैं' या 'हस्ती' को धारण करना, इत्यादि ध्यान में इस संसार से मुक्त होने के अनुकूल सत्य स्वयं बुद्धिमान् पुरुष परखे: सत्य उपजाकर पूर्ण वैराग्यवान् हो; तब पुनः सकल संसार के स्वरूप को भी पहचाने कि यह क्या है ? तब पुनः यह सब सुखों वाला संसार केवल मिथ्या, स्वप्न के पदार्थों के समान ही निश्चय में आये और 'तेरी-मेरी' भी इसमें वैसी ही मिथ्या दीखे। तब सत्य दर्शन ब्रह्म-बाण का काम करेगा; और संसार में होने वाले संघर्षों से तथा इनके कारण रूप तृष्णा के साथ होने वाले युद्ध में जीत हमारे पक्ष की ही करेगा। हम उनमें बहते नहीं रहेंगे। हमारी संसार में कहीं बने रहने की इच्छा तक न होगी।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि यदि हम संसार में नहीं रहे तो कहीं जड़ मूल सहित नष्ट ही हो गये; परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि हम केवल अपने ज्ञान के प्रतिक्षण नये-नये जागते स्वरूप में सदा सुखी और शान्त रहेंगे। हमें अपने आप के नाश की शंका होने तक का अवकाश भी नहीं रहेगा। यदि ज्ञान छिप जाये तभी नाश की शंका हो। जब प्रकट अनुभव में ज्ञान क्षण-क्षण आनन्द रूप से भास रहा है तो शंका कहाँ ? यहाँ इसी पद्य में लोकों के विषय में कुछ चर्चा की गई है। संक्षेप में थोड़ी कुछ सूचना भी उनके बारे में जाननी अनावश्यक नहीं होगी।

जैसे कि संसार से एक दूसरे के संग से होने वाले सुख की तुच्छता पहचानने पर, तथा इसी विषय सुख का

अन्त दु:ख रूप समझ में आने पर बुद्धिमान् मनुष्य इससे मन को हटाकर इसी में समय तो नहीं खोता परन्तु लोकोपकार के भले कार्यों में उसी जीवन को लगा देता है और इन्हीं आँख, कान आदि के जगत् में जीवन भर अपने को लगाये रखता है तो यही भले पुरुष देव लोक या स्वर्ग लोक में देव काया को धारण करके बड़े लम्बे समय तक वहीं संसार के दु:खों से बचे, बने रहते हैं। परन्तु ये जन मन की गहराई में न उतर सकने के कारण और इसीलिये एकान्त में ध्यान के अनुकूल जीवन न साधने के कारण से कहाँ तक सूक्ष्मता (बारीकी) में संसार चिपक रहा है, तथा कहाँ तक उसकी तृष्णा खेल खेल रही है इन सत्यों को पहचाने बिना संसार में ही बने रहते हैं; इसीलिये संसार से भी मुक्त नहीं हो पाते। संसार के विषयों से टलने पर भी खान, पानादि के बिना तो रहा नहीं जा सकता। यदि भले कर्मों में, दूसरों के दु:खों को हटाने या उनको सुखी बनाने के लिये किसी भी सेवा में अपना जीवन लगा दिया तब तो स्वर्गलोक प्राप्त होगा। परन्तु यदि एकान्त में अपने मन को जगा कर सब के सुख में अपने मन को सुखी बनाने का भाव रूप मैत्री आदि की भावना में ही जीवन लगा दिया, जैसे मैत्री भाव, वैसे ही दूसरों के दु:खीपने के दर्शन होने पर करुणा या दया भाव की भावना की; थोड़ी मन में दया बसाई; इससे राग-द्वेष से बचे रहे : इसी प्रकार किन्हीं के भी वैराग्य क्षमा आदि गुण या दूसरों के अच्छे भलाई के कर्मों में मन में मुदिता अर्थात् प्रसन्नता धारण की और चौथे किसी के भी पापादि कर्म या अवगुणों

में उपेक्षा का भाव रखा अर्थात् दृष्टि में पड़ने पर भी इनको मन में उतारे बिना ही रखा तो ऐसे भावों वाला व्यक्ति ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है। इन चारों मैत्री आदि भावों को (मैत्री, करुणा, मुदिता (प्रसन्नता) और उपेक्षा को) सार्वभौम बनाये। अर्थात् इन्हें केवल किन्हीं अपने सम्पर्क (सम्बन्ध) में पड़ने वाले व्यक्तियों के प्रति ही न बनाकर सकल संसार के जीवों के प्रति रचे। तभी ये सार्वभौम समझे जायेंगे। तब ऐसा व्यक्ति ब्रह्मा के समान धर्म वाला, जैसे ब्रह्मा जगत् का पिता है वैसे ही भाव वाला होकर, ब्रह्मलोक वासी होगा तथा ब्रह्मा के समान ही सुखी तथा तृप्ति वाला भी होगा। यदि कोई ध्यान को बढ़ाकर जगत् के बारे में इसके तत्त्व को समझने का यत्न करता हुआ इस सारे जगत् को केवल बुद्धि सत्त्व की ही लीला रूप पहचाने तो वह व्यक्ति बैकुण्ठ धाम में आनन्द को प्राप्त होता है। इसका भाव यही है कि क्षण-क्षण प्रत्येक प्राणी अपनी बुद्धि द्वारा इन्हीं सब देहों में कोई सत्त्व या सत्ता (हस्ती) बैठाकर उसी के अनुसार काम, क्रोध आदि से इस जगत् में खेल रहा है। पिता, पुत्र, मित्र, वैरी यह सब भाव बुद्धि या समझ में ही बालपन से बैठकर अपने ही ढंग से जीवों को कर्म चक्र में डालकर संसार का स्वरूप मनुष्य में खड़ा कर देते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य क्षण-क्षण जन्म पाकर आगे से आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे ही वह अपनी समझ के अनुसार दूसरों को भी समझता है। समझकर वैसे ही अपने भाव के अनुसार काम, क्रोध आदि को अपने में जना कर संसार में क्रीड़ा करता है। जब यही सब

संसार का सत्य है तो फिर यह संग लीला इसी सत्त्व या सत्ता की ही हुई जिसके कि सहारे सारे प्रीति आदि के भाव और काम, क्रोध आदि विकार जन्मते हैं। यही सब संसार का स्वरूप है। 'तूँ' , 'मैं', 'तेरी', 'मेरी', सब इसी में वही सत्त्व रूप भगवान् विष्णु ही सब में प्रकट करता हुआ खेल रहा है, दूसरा कोई नहीं। फिर किससे राग, किससे द्वेष ? यही सब बैकुण्ठवासी भक्तों का ज्ञान है। यह भी संसार में ही है। इन सब भावों से या भावना से शान्त होकर निद्रा में भी सावधान रहने वाले शिव लोकवासी हैं। जो सब में सम, दुःख-सुख में भी अपने में केवल ज्ञान मात्र ही पहचानते हैं, वे जन सत्त्व को भी पार करके मुक्त हो जाते हैं; पुनः संसार में नहीं आते।

ॐ इति आत्म प्रेरणा वर्ग ॐ

प्राणापान स्मृति

卐 प्राणापान स्मृति 卐

'प्राणापान स्मृति' शब्द समुदाय का अर्थ है कि 'प्राण तथा अपान' रूप श्वास की क्रिया में अपनी स्मृति को स्थिर करना या लगाये रखना। इससे प्राण और अपान क्रिया को सम करने या रखने का अभ्यास होगा। श्रीमद्भगवद्गीता में इस अभ्यास को प्राण और अपान को सम करने के नाम से कहा गया है। इसी श्वास के अन्दर आने और बाहर जाने की क्रिया में मन की स्मृति (याद) या ध्यान इतना टिकाये रखना है कि इस क्रिया में लगा हुआ मन अपने सब संशय, काम, क्रोध आदि विकारों को टालता हुआ संसार बन्धन से मुक्त होता हुआ श्वास को लेने तथा छोड़ने का अभ्यास करवा सके। इस क्रिया के भली प्रकार से होने पर मनुष्य के सब अंग तथा उपाङ्ग भली प्रकार अपना कार्य करते हुए, मनुष्य के देह को भी स्वस्थ तथा शान्त रखेंगे। बाह्य सामाजिक जीवन भी भली प्रकार से दूसरों में बिना विरोध आदि भावों के सुखी होगा।

इस क्रिया को करने के लिये साधक पुरुष को प्रथम इस बात को ध्यान में रखना होगा कि जो श्वास अन्दर आये या खींचा जाये वह स्मृति या याद को रखते-रखते ही अन्दर लिया जाये; वैसे ही स्मृति या ध्यान को टिकाये रखकर ही बाहर छोड़ा जाये। स्वभाव से सब प्राणियों से श्वास भूले-भूले ही लिया या छोड़ा जाता है। संसार के बहुविध स्वार्थ; चिन्ता, भय, काम, क्रोध आदि अनन्त मन के विकारों के साथ इन्हीं सब के मिथ्या कर्तव्यों में भूला-भूला

जन श्वास अन्दर खींचता है तथा इसे बाहर फैंकता है। वैसे ही निद्रा में पड़ा प्राणी भी श्वास तो लेता तथा छोड़ता ही रहता है; परन्तु यह सब श्वास क्रिया मनुष्य की स्मृति या याद को संग रखकर नहीं है। यह केवल सब प्राणियों में जीवन देने वाली चेतन की शक्ति ही करती है। परन्तु साधक पुरुष को इसी जीवन शक्ति को मुक्त मन से धारण करना है; अर्थात् श्वास को अपनी स्मृति या होश बनाये या सम्भाले रखकर करना है। इससे शनैः-शनैः क्रम से स्थायी रूप से सब जगत् में बाँधने वाले राग, द्वेष, मान, मोह आदि बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करके परमानन्द में स्थायी वास पाने की पूर्ण योग्यता प्राप्त होगी; तथा वैसी अवस्था को प्राप्त करने वाले देही या मनुष्य को अति उत्तम अन्दर की विद्याओं के साथ-साथ स्वास्थ्य का भी लाभ होगा।

इस प्राणापान स्मृति रूप क्रिया को करने के लिये मनुष्य को थोड़ा आसन को स्थिर रखने या करने का अभ्यास भी करना होगा। इस क्रिया को भली प्रकार से करने के लिये पद्मासन अति उत्तम है। यदि इस आसन पर अधिक समय तक न बैठा जा सके तो प्रथम साधारण स्वस्तिक आसन पर ही सिर, गर्दन और शरीर को सीधा रखते हुए बैठ कर इस क्रिया को करना आरम्भ करे। इस क्रिया को करने का समुचित समय तो भोजन उपरान्त ही है। भोजन कर लेने के अनन्तर यथायोग्य अल्प आराम करने के पश्चात् या भोजन करने के पश्चात् कभी भी इस साधन में यथासम्भव समय के लिये बैठा जा सकता है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

यदि वात और रोग के कारण आसन पर न बैठा जा सके तो कुर्सी पर भी पीठ आदि सीधी रख कर बैठा जा सकता है। प्रथम इस क्रिया का आरम्भ इस प्रकार से होगा कि जो श्वास अन्दर लिया जा रहा है वह स्मृति या याद या समझ के साथ ही लिया जा रहा है और समझ तथा होश या स्मृति के साथ ही छोड़ा जा रहा है। समझते-समझते श्वास लेना और समझते-समझते श्वास छोड़ना, इस प्रकार कुछ एक श्वास लेने और छोड़ने के अनन्तर पुनः अपने शरीर को भी समझते-समझते श्वास लेना और छोड़ना आरम्भ करना है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे सारे शरीर से ही श्वास लिया जा रहा है और सकल शरीर ही श्वास छोड़ने का कर्म कर रहा है। इस प्रकार कुछ एक श्वास लेने और छोड़ने के पश्चात् पुनः देह के अन्दर के एक-एक अंग की स्मृति रखते-रखते श्वास लेने और छोड़ने का यत्न रखे। प्रथम, देह में पेट से आरम्भ किया जा सकता है। पेट में खाया हुआ अन्न पड़ा है; उसी खाये हुए अन्न का भार भी मनुष्य प्रतीत या महसूस करता है। उसी पेट के स्थान से, अन्न के भार को महसूस करता हुआ साधक पुरुष श्वास लेवे और छोड़े। इसी प्रकार कुछ एक, दो, तीन या अपने बैठने के समय के अनुसार स्वयं जितने श्वास ले सके लेवे और छोड़े। पेट के पश्चात् दूसरे सब अन्दर के अंगों की भी स्मृति या याद रखता हुआ दो-दो या तीन-तीन श्वास लेता छोड़ता हुआ इस क्रिया में व्यस्त रहे। इस से शनैः-शनैः संसार को तथा बाहर के सब व्यवहार को मन भूल कर इस क्रिया को करने में जागता

रहेगा। पेट के साथ लम्बी आँत है, पुनः उसी में छोटी आँत भी बसी है। जिगर, तिल्ली, गुर्दे और वैसे ही फुसफुस (फेफड़े) और हृदय तथा सिर में मस्तिष्क (दिमाग) इन सब अन्दर के अंगों की स्मृति रखता हुआ साधक श्वास लेने तथा छोड़ने का अभ्यास करे। यदि कोई अधिक समय तक बैठ सके तो बाहों, टांगों आदि की भी स्मृति रखता हुआ दो-दो चार-चार श्वास लेवे और छोड़े। और भी जो देह में रक्त, मज्जा, मांस, अस्थि, चर्म और रस आदि धातु हैं इन सब की स्मृति रखते-रखते श्वास लेने और छोड़ने का अभ्यास करने से अति अधिक लाभ होता है। यह सब देह या देह के अंग और उपांगों को ध्यान में रखकर श्वास लेना और छोड़ना इस क्रिया का प्रथम चरण है।

अब इस प्राणापान क्रिया का दूसरा चरण, देह को भूलते-भूलते श्वास लेने और छोड़ने से आरम्भ होता है। अर्थात् जिस प्रकार प्रथम चरण में देह की या इसके अंगों या उपाङ्गों की स्मृति रखते-रखते श्वास लेते या छोड़ते थे, उसी प्रकार अब इस द्वितीय चरण में देह को या इसके किसी भी भाग को स्मृति में न रखकर तथा इन्हीं सब को ध्यान में न लाते हुए केवल श्वास को ही लेना है या छोड़ना है। यदि वे देह के अंग आदि प्रथम अभ्यास के आरम्भ के समान ध्यान में पड़ें भी, तब भी इनमें मन को न जुड़ने देकर इनकी उपेक्षा ही करे, या इनकी बेखबरी रखते-रखते श्वास लेना और छोड़ना आरम्भ करे। जैसे-जैसे देह के अंग स्मृति या याद में नहीं आयेंगे और श्वास-क्रिया ध्यानपूर्वक

या स्मृतिपूर्वक चलती रहेगी तो शनैः-शनैः जो मन देह के अंगों की स्मृति में लग रहा था वह अब संसार के प्राणियों की यादें या संस्कार जगाने लगेगा। उनकी स्मृतियां जगा-जगा कर कहीं उन्हीं से होने वाले संशयों में पड़ेगा; कहीं कोई काम या इच्छा जन्मायेगा। कहीं किसी के व्यवहार की याद करके क्रोध जन्मायेगा। खाली तो रहने का अभ्यास नहीं। इन्हीं मिथ्या विकारों में बहता-बहता श्वास को लेने तथा छोड़ने वाला होगा। यदि आप इनसे ढीले रहकर सरकना या बचना चाहेंगे तो यह सुस्ती या आलस्य या निद्रा जैसी अवस्था में आपको डालकर श्वास लेगा और छोड़ेगा। यही मन का, रजोगुण तथा तमोगुण में बने रहने का संसार में स्वभाव बन गया है।

अब यहाँ आप का यह कर्तव्य है कि आप अपनी स्मृति या होश को सही रखकर श्वास लेने और छोड़ने के कर्म में इतना सावधान रहें कि इन सब विकारों में जाने वाले मन को अवकाश ही न मिले कि वह इनको जगा-जगा कर श्वास लेवे और छोड़े। जैसे कि कीचड़ वाले मार्ग पर सावधानी के साथ पाँव उठाते और धरते व्यक्ति का मन किन्हीं अन्य बातों में या यादों में नहीं जाता क्योंकि गिरने के कष्ट का भय मन को सब ओर से सम्भाले रखकर ही कीचड़ में पाँव उठाने और धरने के कर्म में लगाये रहता है। इसी प्रकार केवल ध्यान या स्मृति को जगाये रखकर श्वास लेने और छोड़ने से मन में आते हुए व्यक्तियों के मित्र, वैरी आदि के दृश्य, या उनकी दृष्टियां तथा संशय, काम तथा क्रोध आदि विकार सब सम्भल-सम्भल कर,

स्मृति या ध्यान से श्वास लेने और छोड़ने में लगे व्यक्ति द्वारा त्यागे जा सकते हैं। इनके त्यागने का अभ्यास होने पर इन से मुक्त मन शुद्ध, पवित्र श्वास ही लेगा। इसी से सब प्रकार की सुख, शान्ति और बाहर संसार में निर्विरोध जीवन का आनन्द भी प्राप्त होगा। मस्तिष्क हल्का होकर स्वस्थ होगा।

मन एक समय में किसी एक ही काम को कर सकेगा। यदि इसे आप स्मृति या याद को टिका कर श्वास लेने और छोड़ने में लगाये या बाँधे रखेंगे तो यह जन्म के अभ्यास या आदतों के वशीभूत हुआ-हुआ मिथ्या या बिना प्रयोजन दूसरों के बारे में मिथ्या दृष्टियों में नहीं पड़ेगा; वैसे ही मिथ्या संशय और काम, क्रोध आदि को भी नहीं जन्मा सकेगा; और इसी प्रकार मिथ्या अनन्त कर्तव्य सम्बन्धी विचारों में भी खोया न रहकर अपने श्वास को सही तथा स्वस्थ ढंग से चला कर आप को लम्बे समय तक बने रहने वाले सुख तथा शान्ति को प्रदान करेगा। जैसे आप ने अपने श्वास में, इसके लेने तथा छोड़ने में, अपनी स्मृति या ध्यान या होश बनाये रखकर मिथ्या दृष्टि, संशय, काम, क्रोध तथा आलस्य (सुस्ती) या निद्रा जैसी अवस्थाओं को टाल-टाल कर श्वास चलाया है और यत्नपूर्वक सब विकारों को टालते रहे हैं, उसी प्रकार अन्य भी बहुत से मन के राग, द्वेष तथा मोह, मान आदि बन्धनों से आप अपने आप को सम्भाले रखकर श्वास ले और छोड़ सकते हैं। इस प्रकार मिथ्या चिन्ता से मुक्त रहेंगे।

मन का यह स्वभाव है कि यदि इसे इसी की एक

अवस्था से आप सम्भालना चाहेंगे तो झट यह कोई वैसी ही दूसरी अवस्था में बदल कर खड़ा हो जायेगा। इस प्रकार यह अपनी भिन्न-भिन्न राग तथा द्वेष आदि संसार में ही बाँधने वाली अवस्थाओं में बना रह कर अपनी या जीव की सत्ता (हस्ती) को अनुभव करता है। इसकी इन अवस्थाओं के न रहने पर मन अविद्या या अज्ञान में पड़ा-पड़ा अपना विनाश सा देखकर पुनः-पुनः उन्हीं संसार के संस्कारों को जगा-जगा कर जीव को मिथ्या काम, क्रोध आदि द्वारा संसार में ही बाँधे रखता है। संसार में ही बने रहना इसे भाता है।

अब आप इसी प्राण के देव का सहारा रखकर इसी के संग से अपने आप में रहकर इन सब राग, द्वेष, मान, मोह तथा अविद्या आदि सब प्रकार की अवस्थाओं को भी टालते हुए शुद्ध रीति से श्वास को चलाते रहें। ऐसे अभ्यास के दीर्घ काल तक करते रहने से शनैः-शनैः मन इन सब से मुक्त होकर संसार में भी जीवन मुक्ति की तृप्ति तथा आनन्द को अनुभव करेगा।

जब किसी भी सांसारिक सुख की स्मृति या याद में मन बिना विचार के बहता रहता है; उस सुख में उसका बँधा हुआ मन उस मिथ्या सुख को भूलता ही नहीं तो यही अवस्था राग नाम के बन्धन की सक्रिय है; और मनुष्य को बिना विचार के, बिना उसके दुष्परिणामों को समझे, उसी थोड़े सुख में बाँधे रखती है। आप इस बन्धन की सक्रियता की (कर्म में लगाने वाली) अवस्था को पहचान कर इसमें ही बहते-बहते श्वास को न चलाकर, श्वास में ही अपने

आपको जोड़े रखकर या स्मृति या ध्यानपूर्वक श्वास चलाने के यत्न में लगाये रखकर इस राग की अवस्था की भी अवहेलना करने का यत्न बनाये रखें। मन तो एक ही है; एक समय एक ही कार्य कर सकेगा। यदि राग या उसके विषय के सुख की स्मृति या याद में बहता रहा तो श्वास भूल में ही चलेगा। जैसे निद्रा में भी बेखबरी में श्वास बहता है परन्तु यदि श्वास को स्मृति या होशपूर्वक चलाने के कार्य में मन लगा है तो उसे राग के विषय को भूलना पड़ेगा। वैसे ही उसके सुख में भी नहीं खोया रहना होगा। तो बस ! अपने श्वास के देव को सम्भाले रखकर इस राग बन्धन को त्यागने का ही यत्न रखा जाये।

इसी प्रकार द्वेष के बन्धन को भी टालता हुआ साधक पुरुष श्वास को पवित्र रीति से चलाने का अभ्यास करे। जैसे सुख की वस्तु मन से नहीं उतरती; क्योंकि उसे पाने के लिये मन सक्रिय रहना चाहता है। उसी प्रकार दुःख देने वाली वस्तु भी मन से शीघ्र नहीं उतरती; मन उसे दूर करने या रखने के लिये उसकी भी स्मृति बनाये रखकर, उसे टालने या नष्ट करने के लिये सोचों, विचारों में खोया रहता है। यही द्वेष नाम का बन्धन है। जब इसकी धारा साधक को समझ में पड़े तो श्वास में ही स्मृति या होश टिकाकर, इसे भी टाल दे। इसी प्रकार मोह की अवस्था या बन्धन है। 'जो चाहिये था वह तो मिला या हुआ नहीं; और जो नहीं चाहिये था वह आन पड़ा', इस के विपरीत कुछ भी आन पड़ने पर मन मिथ्या हुए हुवाए के चक्करों में तथा मिथ्या सोचों या विचारों में पड़ा-पड़ा चिन्ता में

खोया रहता है। इस अन्धकार की सी अवस्था को भी मन में, अपने समय पर बहती हुई को पहचान कर श्वास में ही समझे या ध्यान या स्मृति रखता हुआ साधक पुरुष त्यागने या टालते रहने के यत्न में लगा रहे। यदि सारा ध्यान या स्मृति (याद) श्वास लेने और छोड़ने के ही कार्य में लगी हुई है तो मन को कहाँ अवकाश मिलेगा कि व्यर्थ ही मोह की कीचड़ में धंसा-धंसा चिन्ता में डूबा रहे; जैसे राग, द्वेष तथा मोह के बन्धनों की उपेक्षा केवल श्वास लेने और छोड़ने में अपनी स्मृति या ध्यान लगाये रखकर की जाती है, वैसे ही यदि कहीं बैठे-बैठे सुख का अनुभव होने लगे और मन सुख को लेने या उसका अनुभव करते रहने में ढीला पड़ने लगे तो श्वास लेने तथा छोड़ने के कार्य में तब स्मृति या याद ढीली पड़ जायेगी; और श्वास का आना-जाना तो भूल में ही होगा। तब, ऐसी अवस्था में अभ्यास में लगा हुआ प्राणी अपनी श्वास क्रिया में ही यदि स्मृति रखकर श्वास के आने तथा जाने के कार्य को करने में लगा रहे तो सुख से भी बेखबर रहता हुआ साधक सुख के बन्धन को भी पार कर लेगा।

जैसे सुख की उपेक्षा करते हुए अपने श्वास को लेने तथा छोड़ने में ध्यान रखना है वैसे ही दुःख की अवस्था में दुःख का अनुभव होने पर अपना मन इसी की उलझन में पड़ा श्वास को भूल में ही चलाना चाहे, तो तब श्वास में ही ध्यान या स्मृति रखकर इसी के कार्य को करने की लगन से दुःख की भी उपेक्षा करने में साधक पुरुष यत्न रखे। जैसे कोई कृषि (खेती) के कार्य में लगा हुआ जन

कड़ी धूप या ठण्डी में भी हल चलाता है, हल को सही प्रकार से चलाने में लगा हुआ ठण्डी या गर्मी के दुःख को भी नहीं गिनता। उस दुःख की भी उपेक्षा या अवहेलना स्वभाव से ही करता जाता है। वैसे ही अभ्यास में रत मनुष्य अपने दुःख की भी परवाह या चिन्ता न करता हुआ अपने श्वास लेने और छोड़ने के कार्य में लगा रहने पर दुःख की भी उपेक्षा करता जायेगा, दुःख भी गिनती में नहीं पड़ेगा। इस प्रकार इस साधना या अभ्यास के दूसरे चरण में सब प्रकार के काम, क्रोध आदि विकार; वैसे ही इन्हीं विकारों की जड़ या कारण राग, द्वेष आदि बन्धन तथा इन सब विकारों तथा बन्धनों का मूल रूप जो सुख तथा दुःख का अनुभव है; इस सब प्रकार की उलझन से, उद्योग में लगे रहने वाला तथा श्वास का सहारा रखने वाला साधक जीवन काल में ही मुक्त होकर देख लेगा। यह प्राणापान की क्रिया जीवन काल में ही मुक्ति पाने के लिये या मुक्ति के अनुकूल जीवन बनाने के लिये मुख्य साधना का ही एक अंग है।

प्रसंगवश यहाँ थोड़ा यह सत्य भी ध्यान में रखना होगा कि ऊपर कहे गये सब विकार तथा बन्धन सब संसार के प्राणियों में अपना चक्कर या दौर सदा बनाये रखते हैं। जीव इन्हें जानने तथा पहचानने का उद्योग बनाये रखने का कष्ट नहीं करना चाहता। सब जीवों मे छिपे-छिपे ये सब प्राणियों को बिना विचार के संघर्ष तथा विविध मिथ्या कर्मों में लगाये रखते हैं। जीव इनके बन्धन से छूटने की बात तक भी नहीं सोचता। केवल दूसरों के संसार में

卐卐

अपनी 'मैं' या 'मान तथा अहंकार' को आदतों के वशीभूत बना रहकर बनाये रखना चाहता है। अब ऐसी सांसारिक स्थिति में विचारशील साधक पुरुष को इन्हीं सब मिथ्या प्रेरणा देने वाले संसार में, तथा दूसरों के साथ संघर्ष में डालने वाले कारकों अर्थात् कारणों को अपने ध्यान द्वारा समझने तथा पहचानने का उद्योग भी यथासमय बनाये रखना है। जब ये सब विकार तथा बन्धन हमारी समझ में पड़ने लग जायेंगे तो इन्हें विचार द्वारा अपने हित को ध्यान में रखते हुए त्यागने की योग्यता भी प्राप्त होगी। ध्यान द्वारा त्यागने के समान, प्राणापान स्मृति द्वारा भी केवल अपने मन को श्वास लेने और छोड़ने में भी लगाये रखकर इनकी उपेक्षा की जा सकेगी। इस प्रकार जब श्वास-श्वास में यह पहचाने जायेंगे तथा छूटते जायेंगे तो ऐसा उद्योगी साधक अपने आप को सदा मुक्त ही देखेगा तथा मुक्ति की प्रसन्नता तथा तृप्ति में (अपने आपको) पायेगा। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण जी ने पाँचवें अध्याय के अन्त में इसी क्रिया की संक्षेप से चर्चा की है; तथा इस क्रिया में सफल व्यक्ति को सदा मुक्त रहने वाला बतलाया है। इस प्राण और अपान को सम करने के अभ्यास रूप में जो यह प्राणापान स्मृति इस आध्यात्मिक जीवन पद्यावली नाम वाले ग्रंथ के भाग रूप से ही इस ग्रंथ में प्रविष्ट की गई तो इसका विशेष तात्पर्य यह है कि जो भी व्यक्ति अपने जीवन के मुख्य उद्देश्य या प्राप्त करने योग्य उत्तम फलस्वरूप सकल संसार की उलझन से निवृत्ति रूप शास्त्रों में कहे गये मुक्ति के फल को पाना

चाहता है, उस व्यक्ति के लिये जीवन की साधना रूप में तीन कर्तव्य सम्मुख रखने के हैं।

प्रथम तो संसार में केवल दूसरों के सहारे अथवा दूसरों के संग वाला जीवन जो कि केवल अपने आप में, या पुनः एकान्त में धारण करने के लिये भी भारी सा प्रतीत होता है, उसी जीवन को धीरे-धीरे ध्यान विचार द्वारा समझ कर, और उस जीवन से होने वाले सुख और तृप्ति को अनित्य या सदा न बने रहने वाला पहचान कर उससे मन की मिथ्या आशा या तृष्णा से निवृत्त होना अर्थात् टलना या लौटना। उसमें व्यर्थ समय व्यतीत करने को रोक कर अपने तथा दूसरों के जीवन की खोज करनी तथा 'यह सांसारिक जीवन अन्त में कहाँ ले जाकर पटकता है ?' इस सत्य को भी दृष्टि में भली प्रकार से बसाना। पुनः उस बाहर के जीवन के मिथ्या सुखों से मन को मोड़ कर उसी से बचे हुए समय को एकान्त में अपने जीवन का अध्ययन करने में लगाते हुए एकान्त में पर्याप्त समय को व्यतीत करने का अभ्यास करना। इसी से प्राणापान स्मृति रूप क्रिया के अभ्यास द्वारा जिन-जिन विकारों तथा बन्धनों आदि को आप त्यागना चाहते हैं, उन सब का आप को अपने अन्दर ही ज्ञान होगा। यही अन्दर का ज्ञान, अन्दर की विद्यायें हैं। विकार अन्दर अन्तःकरण (मन) में बहते हुए दीखेंगे; उनकी परेशानी या दुःख अनुभव में आयेगा, उन सब का मनुष्यों को या जीव साधारण को बाध्य या लाचार बना कर मिथ्या कर्मों में पटकने के बल का अनुमान या अन्दाज़ा मिलेगा; और

साथ ही साथ इनसे मुक्त होने या अपने को इनके त्याग से सुखी बनाने का दृढ़ संकल्प भी होगा तथा प्रेरणा भी मिलेगी।

इस सब का यही तात्पर्य है कि प्रथम अन्दर के सही ज्ञान द्वार। इन सब विकारों तथा बन्धनों और इनके मूल या जड़ रूप से अनुभव में आने वाले सुख या दुःख नाम के कारकों (कारणों) का भी पता चलेगा। और पता पड़ने पर ज्ञान द्वारा ही त्याग और उनके अल्प वियोग का दुःख सहन करना रूप तप द्वारा इन्हीं सब को त्यागने का बल भी प्राप्त होगा। परन्तु प्रथम आवश्यकता है सत्य के ज्ञान की; अर्थात् असलीयत क्या है ? तब बल द्वारा सही मार्ग को अपनाने के उद्योग की। यह होगा एकान्त में शान्त होकर ध्यान करने से। ध्यान से असलीयत का ज्ञान होंगा। उसी ज्ञान से सही प्रेरणा प्राप्त होने पर मनुष्य से उस सब उलझन या बन्धनों की जड़ को पटकने के लिये उद्योग बनेगा। इसलिये प्रथम सत्य ज्ञान को ध्यान द्वारा उपजाकर इन सब को ध्यान में आसन पर ही त्यागने का यत्न करना ।

पुनः जब भोजन उपरान्त (भोजन करने के पश्चात्) ध्यान के योग्य अभी शरीर या मन की अवस्था नहीं है तो शान्त आसन पर बैठकर बिना विचार के या ध्यान के भी, श्वास-श्वास में लेते और छोड़ते हुए इन विकारों और बन्धनों को त्यागने का अभ्यास करना। इस प्राणापान क्रिया में विचार, ध्यान या सत्य की खोज या छानबीन करने के उद्योग की आवश्यकता नहीं। यह केवल भोजन

के उपरान्त सुख से बैठे-बैठे मिथ्या तृष्णा के विचारों में अपने मन को न लगाकर सही रूप से अपने समय का सदुपयोग करने के लिये है।

इसी प्रकार तीसरा प्रकार है जब कि मनुष्य कर्म क्षेत्र में होगा। भले वह अपने शरीर की शुद्धि के कर्म करने में लगा है या अन्य खाने-पीने आदि के भी कर्मों में लगा है। और भी यदि वह दूसरों के संग व्यवहार या वार्तालाप में ही व्यस्त है, जो व्यक्ति इन सब कर्मों में भी थोड़ी अपने पर अन्तर्दृष्टि रखे तो उसे इन कर्मों में भी इन्हीं सब काम, क्रोध आदि विकारों तथा राग, द्वेषादि बन्धनों की खबर मिलती रहेगी । इन सब कर्मों में भी इनका चक्र या दौर (दौरा) शान्त नहीं होता और ये सब मनुष्य की आवाज़ या शब्दों को भी अपने ही ढंग से बिना भविष्य का हित सोचे बुलवाते हैं और मनुष्य के बाहर के जीवन को भी या दूसरों के संग को भी समय पाकर दुःखमय बना देते हैं। मनुष्य उनकी मिथ्या प्रेरणाओं के समय यह सब समझ नहीं पाता। सोया-सोया, खोया-खोया सा संसार में बहता रहता है।

अब तीसरे स्थान का कर्तव्य इस जीवन को आध्यात्मिक या आत्मा के अनुकूल बनाने के लिये यही है कि सब अपने शरीर, इन्द्रिय या मन के कर्मों में तथा भावों में भी बुद्धिमान् अपनी होश या स्मृति टिकाकर रखे और जब-जब ये सब अपना बल प्रकट करने को हों तो जैसे ज्ञान द्वारा तथा प्राणापान स्मृति द्वारा इनको त्याग दिया जाता है, वैसे ही कर्म करते-करते भी त्यागने का अभ्यास बनाये रखने से अन्दर और बाहर का जीवन पूर्ण रीति से

आध्यात्मिक या आत्मा के अनुकूल बन जायेगा। ऐसे पुरुष की प्रसन्नता कभी भी कम नहीं होती। मृत्यु का भय तक भी उसे नहीं रहता । अपने आप में अकेले में हो या सब में, वह सदा अपने अन्दर के आनन्द में रहता है। इस सब का सार यही है कि प्रथम ज्ञान द्वारा, पुनः प्राणापान स्मृति द्वारा और सब कर्मों को भी स्मृति से करने का अभ्यास या आदत डालकर इन सर्व स्थानों पर अपने प्रभाव से अपने अधिकार में रखने वाले विकारों और बन्धनों तथा इन्हीं के कारण अल्प सुख-दुःख को भी त्यागने का यत्न बनाये रखे। यही सब जीवन आध्यात्मिक या आत्मानुकूल सिद्ध होगा जिसमें कि मुक्ति स्वभाव से बनी रहेगी। बाहर उलझन से मुक्ति का अर्थ है अन्दर आत्मा में स्थिति। पुनः आत्मा में बिना बाहर की खींच के अपने आप में अति उत्तम, सर्व भयों से रहित सुख भी प्राप्त होगा और वह सुख होगा सनातन या सदा बना रहने वाला। इसी के लिये यह सब साधना कही गई है और इस आध्यात्मिक जीवन पद्यावली ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य भी यही है। अपनी प्रत्येक अवस्था में इन्हीं सब विकारों तथा बन्धनों को पहचानते रहना और त्यागने का यत्न बनाये रखना। इससे जीवन के पग-पग पर उलझन से छुटकारे का अवकाश बनता रहेगा; और अन्त में यही सब ऐसे पुरुष का स्वभाव ही बन जायेगा।

ॐ—इति—ॐ

卐卐

ॐ

आध्यात्मिक जीवन पद्यावली भाग–१ व भाग–२ (व्याख्या सहित) के प्रवर्धित एवं संशोधित चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन एवं निःशुल्क वितरणार्थ निम्नलिखित सेवापरायण धर्मप्रेमियों का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ :–
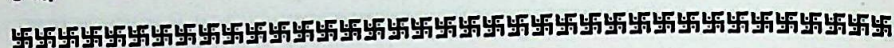
क्र॰	शुभ नाम	रसीद नं॰	राशि (रू॰)
1.	श्री धर्मवीर बेदी बुरला (उड़ीसा)	28	11000–00
2.	स्व॰ श्रीमती छन्नो देवी धर्मपत्नी श्री कली राम (राजपाल व भाईजन अपनी माता जी की पुण्य स्मृति में) निठारी, दिल्ली	45	11000–00
3.	श्री धर्मवीर बेदी (उड़ीसा)	338	7500–00
4.	डा॰ रामप्रकाश शर्मा अम्बाला कैंट	344	5101–00
5.	श्रीमती बिमला भनोट दिल्ली	301	5100–00
6.	श्री आर॰ सी॰ शर्मा जी, पंचकूला	312	5100–00
7.	मै॰ मंगत राम, राम करण चूडियों वाले अ॰ शहर	38	5100–00
8.	स्व॰ श्री चौधरी राम एवं स्व॰ श्रीमती कृष्णा देवी, जगाधरी	39	5100–00
9.	श्री 108 श्री शील जी महाराज अध्यक्षा श्री अनन्त प्रेम मन्दिर, श्री जीवन मुक्त ट्रस्ट, अम्बाला शहर	67	5100–00
10.	डा॰ महेश मनोचा अम्बाला शहर	68	5100–00
11.	श्री प्रेम सिंह सुपुत्र श्री धारा सिंह गांव बरवाला दिल्ली	119	5100–00
12.	सेठ पन्ना लाल जी अम्बाला कैंट	124	5100–00
13.	श्री धर्मवीर बेदी, बुरला (उड़ीसा)	336	5000–00
14.	श्रीमती बिमला भनोट–दिल्ली	36	5000–00
15.	श्री नरेन्द्र कुमार शास्त्री सुपुत्र श्री जय नारायण कराला, दिल्ली	44	5000–00
16.	संगत, रायकोट राजगढ़ बर्मी गाँव ज़िला लुधियाणा (पंजाब)	105	4500–00
17.	श्री वी॰ पी॰ शर्मा व उर्वशी शर्मा हांगकांग	343	4000–00
18.	श्री मेहर राठौर जी कनेड़ा	5	3900–00
19.	श्री एस॰ डी॰ शर्मा कृष्णा नगर होशियारपुर (पंजाब)	47	3100–00
20.	श्रीमती रेशमी देवी धर्मपत्नी श्री रामेशवर प्रसाद, अग्रवाल (तम्बाकू वाले) अम्बाला शहर	48	3100–00

卐卐

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं०	राशि (रू०)
21.	श्री धर्मवीर बेदी बुरला (उड़ीसा) अपनी धर्मपत्नी स्व० श्रीमती राज कुमारी की स्मृति में	108	3100—00
22.	श्री बालागोपालन एवं उर्वशी शर्मा हांगकांग	295	2500—00
23.	श्री धर्मवीर बेदी, बुरला, उड़ीसा	317	2500—00
24.	सुश्री मीरा बाई जी महाराज अम्बाला शहर	56	2101—00
25.	श्रीमती सुहागवन्ती वशिष्ट धर्मपत्नी स्व० श्री सोमनाथ (अपने पति की स्मृति में) अम्बाला शहर	294	2100—00
26.	श्री अशोक शर्मा नंगल (पंजाब)	302	2100—00
27.	श्रीमती स्वर्ण कान्ता (स्व० मेजर श्री ओम प्रकाश रणदेव व स्व० त्रिभुवन प्रकाश रणदेव की स्मृति में) चण्डीगढ़	49	2100—00
28.	मास्टर श्री सोमनाथ खुराना अम्बाला शहर	57	2100—00
29.	श्री अशोक शर्मा व श्रीमती कुन्ती देवी नंगल टाऊनशिप (पंजाब)	102	2100—00
30.	पं० मोहन लाल अम्बाला शहर	71	2100—00
31.	श्री ऐच० सी० मदान इन्द्र नगर अम्बाला शहर	34	2100—00
32.	श्री धर्मवीर बेदी, बुरला, उड़ीसा	330	2000—00
33.	श्री जगराम सिंह त्यागी भगवानपुर (उ०प्र०)	321	1900—00
34.	श्री देश बन्धु गुप्ता लुधियाणा	37	1500—00
35.	स्व० पं० कुशल दत्त शर्मा सुपुत्र पं० नन्द लाल शर्मा	345	1125—00
36.	श्री बलराम सिंह सुपुत्र श्री चन्दगी राम कराला (दिल्ली)	347	1125—00
37.	श्री सुरजन भगत सुपुत्र श्री बदलूराम कराला, दिल्ली	9	1125—00
38.	श्री जय प्रकाश सुपुत्र श्री सूरत सिंह मजरी, दिल्ली	13	1125—00
39.	श्री कर्मवीर सुपुत्र श्री सरदार सिंह कराला, दिल्ली	121	1111—00
40.	श्री गोर्धन सिंह सुपुत्र श्री प्यारे लाल कराला, दिल्ली	22	1110—00
41.	श्री बलवन्त सिंह माथुर सुपुत्र श्री सरदार सिंह कराला—दिल्ली	42	1105—00
42.	श्री आर० के० गुप्ता अम्बाला शहर	58	1101—00
43.	श्री योग राज गर्ग अम्बाला शहर	32	1101—00
44.	श्री राम प्रकाश दुआ, नारायणगढ़	299	1100—00

卐卐

क्र.	शुभ नाम	रसीद नं.	राशि (रू.)
45.	श्री दयानन्द सुपुत्र श्री सूरत सिंह मजरी, दिल्ली	346	1100—00
46.	श्री प्रमोद कक्कड़ कनेड़ा	6	1100—00
47.	श्रीमती पन्नादेवी धर्मपत्नी श्री राधा कृष्ण (श्री रामेश्वर दास के द्वारा) अम्बाला शहर	33	1100—00
48.	श्री वी० पी० अग्रवाल चण्डीगढ़	104	1100—00
49.	श्रीमती सुमन लता धर्मपत्नी श्री सुदर्शन कुमार गोयल पटियाला (पंजाब)	109	1100—00
50.	पं० सुखबीर सिंह सुपुत्र पं० जय प्रकाश गाँव बरवाला, दिल्ली	110	1100—00
51.	पं० अशोक पहलवान सुपुत्र स्व० पं० गोबिन्द राम बरवाला, दिल्ली	111	1100—00
52.	श्री लाल चन्द भगत गांव निठारी, दिल्ली	115	1100—00
53.	प्रो० के० एल० गोगिया अम्बाला शहर	120	1100—00
54.	श्री राकेश गुप्ता अम्बाला शहर	70	1100—00
55.	श्री चन्द्र मोहन शर्मा पिन्जोर	59	1100—00
56.	सूर्यांशु पौत्र श्री हरि राम मजरी, दिल्ली	40	1100—00
57.	श्री इन्द्र देव शर्मा व श्रीमती मीना काशनी शर्मा कुरुक्षेत्र	61	1100—00
58.	श्री ज्ञान चन्द गर्ग अम्बाला शहर	75	1100—00
59.	डा० गौरव सुपुत्र मास्टर राम कुमार कराला दिल्ली	128	1100—00
60.	श्री प्रदीप व श्री संदीप सुपुत्र श्री मेहर चन्द कराला (दिल्ली)	41	1100—00
61.	श्रीमती ममता सहगल चण्डीगढ़	21	1000—00
62.	श्री गोर्धन सुपुत्र चौ० प्यारे लाल कराला दिल्ली	129	801—00
63.	गुप्त दान प्रो० सहगल जी के द्वारा दिया गया	23	700—00
64.	श्री डी० आर० महता कृते संत सेवा ट्रस्ट, मुम्बई	328	558—00
65.	श्रीमती राज नागपाल	54	551—00
66.	श्री सुरजीत नागपाल	55	551—00
67.	श्री जय प्रकाश सुपुत्र श्री सूरत सिंह मजरी दिल्ली	51	505—00
68.	श्री बलराम सिंह कराला, दिल्ली	310	505—00
69.	गुप्त दान कराला, दिल्ली	8	505—00
70.	श्री चरण सिंह सुपुत्र चौ० दरियाव सिंह कराला, दिल्ली	16	505—00

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं०	राशि (रू०)
71.	डा० गौरव माथुर सुपुत्र श्री राम कुमार कराला, दिल्ली	17	505—00
72.	श्री बस्ती राम सुपुत्र चौ० गुगन सिंह कराला, दिल्ली	112	505—00
73.	श्री बलराम सिंह सुपुत्र श्री चन्दगी राम कराला, दिल्ली	113	505—00
74.	कुमारी वँशिका सुपौत्री डा० बस्ती राम कराला दिल्ली	127	502—00
75.	गुप्त दान मल्होत्रा साहिब, ऊना (हि०प्र०)	14	501—00
76.	श्री सीता राम सुपुत्र चौ० लाल चन्द भगत निठारी, दिल्ली	15	501—00
77.	गुप्त दान	340	501—00
78.	श्री गिरधारी लाल वर्मा सरहिन्द (पंजाब)	313	501—00
79.	श्री सच्चिदानन्द हसीजा, दिल्ली	316	501—00
80.	श्री सुरेश वर्मा, महेन्द्रगढ़	319	501—00
81.	डा० वी० के० त्रिवेदी वैज्ञानिक, नई दिल्ली	20	501—00
82.	श्री ओम प्रकाश कालिया कुरुक्षेत्र	31	501—00
83.	श्री श्रीराम बतरा मुलतान नगर दिल्ली	46	501—00
84.	श्री विवेक कुमार तिवारी चण्डीगढ़	50	501—00
85.	श्री दर्शन लाल अरोड़ा अम्बाला शहर	52	501—00
86.	प्रो० मोहन लाल अम्बाला शहर	53	501—00
87.	लाला शिव प्रशाद गुप्ता सरहिन्द (पंजाब)	60	501—00
88.	श्री बलदेव छाबड़ा अम्बाला शहर	65	501—00
89.	श्री सी० ऐल० पुरी अम्बाला कैंट	123	501—00
90.	मै० विज़ मैडीकल हाल अम्बाला कैंट	125	501—00
91.	बहिन सुश्री साधना जी प्रेम मन्दिर अम्बाला शहर	130	501—00
92.	श्री सुरिन्द्र सचदेवा अम्बाला शहर	73	501—00
93.	स्व० श्री ओम प्रकाश प्रभाकर डिडवाना (राज०)	101	501—00
94.	श्री नरेश रामपाल नयोड़ा (उ०प्र०)	103	501—00
95.	श्री जगदीश जैलदार कराला, दिल्ली	132	501—00
96.	श्री सूरज भान राणा गाँव मुंगेशपुर, दिल्ली	133	501—00
97.	रिटायर्ड प्रिन्सिपल श्री रामफल कराला, दिल्ली	134	501—00
98.	श्री दयानन्द सुपुत्र श्री चौ० सूरत सिंह गुड़गाँवा	43	500—00
99.	गुप्त दान टांगरी साहिब अम्बाला शहर	126	500—00
100.	श्री ओम प्रकाश सुपुत्र श्री सरदार सिंह पूठकलां, दिल्ली	118	500—00
101.	गुप्त दान पच्छिम विहार, दिल्ली	10	500—00

卐卐卐

क्र॰	शुभ नाम	रसीद नं॰	राशि (रू॰)
102.	श्री बलराम सिंह कराला, दिल्ली	296	500—00
103.	श्री ओम प्रकाश कालिया, कुरुक्षेत्र	300	500—00
104.	श्री ऐच॰ सी॰ मदान इन्द्रनगर अ॰ शहर	311	500—00
105.	श्री हरप्रशाद, फरीदाबाद	329	500—00
106.	श्री अशवनी कुमार पंचकूला	308	400—00
107.	श्री सुरजीत नागपाल अ॰ शहर	309	400—00
108.	श्री मदन लाल शास्त्री अम्बाला शहर	303	300—00
109.	गुप्त दान डा॰ सुलतान सिंह अम्बाला शहर	69	301—00
110.	श्री जोगिन्द्र वर्मा अम्बाला शहर	66	251—00
111.	श्री पी॰ के॰ पुरी अम्बाला शहर	62	251—00
112.	गुप्त दान डा॰ सतपाल शर्मा अम्बाला शहर	35	251—00
113.	श्री के॰ के॰ अग्रवाल, इलाहाबाद (उ॰प्र॰)	339	251—00
114.	श्री रमेश चन्द्र सचदेवा, यमुनानगर	106	250—00
115.	श्री ज्ञान सिंह, यमुनानगर	107	250—00
116.	श्री कुलभूषण हरदोखानपुर (होशियारपुर), पंजाब	24	250—00
117.	श्री अतर सिंह कराला, दिल्ली	326	250—00
118.	प्रो॰ पी॰ एस॰ पठानिया अम्बाला शहर	74	205—00
119.	श्री चन्द्र सिंह निठारी, दिल्ली	18	202—00
120.	श्री बनवारी लाल गधौली चिट्टा मन्दिर (यमुनानगर)	27	201—00
121.	श्रीमती सुधा बंसल अम्बाला शहर	29	201—00
122.	श्री संजय सुपुत्र श्री मोहन लाल यमुनानगर	72	201—00
123.	श्री दुली चन्द भगत कराला, दिल्ली	135	201—00
124.	गुप्त दान कराला, दिल्ली	117	200—00
125.	स्वामी श्री गोबिन्दानन्द जी महाराज गाँव, अम्बोटा (ऊना, हि॰ प्र॰)	293	200—00
126.	श्री एन॰ अपासवानी गिरिपुरम, तिरूपती (तामिलनाडू)	307	200—00
127.	श्री गिरधारी लाल सुपुत्र श्री डाल चन्द भगवानूपुर (उ॰प्र॰)	333	151—00
128.	श्री नारायण दत्त शर्मा मंगेशपुर, दिल्ली	298	151—00
129.	श्री सुखवीर सिंह सुपुत्र श्री भूपन सिंह कराला, दिल्ली	122	102—00
130.	श्री रणजीत सिंह सुपुत्र श्री जोत राम मजरी—दिल्ली	349	102—00
131.	श्री जगराम त्यागी भगवानूपुर (उ॰प्र॰)	331	101—00

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं.	राशि (रू०)
132.	कुमारी सुवी सुपुत्री श्री बलराज एटाजुरासी (हरि०)	136	101—00
133.	श्री कृष्ण सुपुत्र श्री सुलतान सिंह कराला—दिल्ली	11	101—00
134.	श्री सुखबीर सिंह सुपुत्र श्री सूबे सिंह	12	101—00
135.	श्री कृष्ण कुमार वालिया अम्बाला शहर	30	101—00
136.	श्री धर्मवीर अम्बाला शहर	63	101—00
137.	श्री बलवन्त वर्मा अम्बाला शहर	64	101—00
138.	श्री जलदीप गांव निठारी, दिल्ली	116	101—00
139.	श्री सुरेश कुमार सुपुत्र श्री लखमी चन्द, कराला	19	101—00
140.	श्री रनवीर भगत शेखपुरा जिला सोनीपत	341	101—00
141.	श्री दरिया सिंह सुपुत्र श्री कंवर लाल कराला (दिल्ली)	348	101—00
142.	श्री मनोज कुमार सुपुत्र श्री किशन चन्द कराला (दिल्ली)	350	101—00
143.	श्री अनूप सिंह सुपुत्र श्री चूनी लाल मजरी—दिल्ली	1	101—00
144.	श्री श्रीभगवान् रामा विहार, दिल्ली	2	101—00
145.	श्री महेन्द्र सिंह शिखावत रामा विहार, दिल्ली	3	101—00
146.	श्री ज्ञान चन्द हल्वाई सुपुत्र पं० साधु राम कराला (दिल्ली)	4	101—00
147.	श्री रविदत्त सुपुत्र पं० रिसाल सिहं मुबारिकपुर, दिल्ली	7	100—00
148.	श्री आर० सी० मल्होत्रा कृष्ण नगर, दिल्ली	26	100—00
149.	श्री शिशपाल सुपुत्र श्री राम सिंह मजरी, दिल्ली	131	100—00
150.	श्री जगराम सिंह त्यागी गांव भगवान्पुर (उ०प्र०)	314	100—00
151.	श्री राम चन्द्र शर्मा कलकत्ता	305	100—00
152.	श्री एम० पी० रंगवानी गांव उलहासनगर (महाराष्ट्र)	306	100—00
153.	श्री जोगेश बक्शी, मुम्बई (महाराष्ट्र)	323	100—00
154.	श्री शंकर लाल माथुर बीकानेर	342	100—00
155.	श्री जे० सी० शर्मा अम्बाला शहर	297	70—00
156.	श्री आर० एस० तिवारी, कोलकाता	335	70—00
157.	श्री एस० एल० सभरवाल, दिल्ली	320	52—00
158.	श्री नारायण दास गौड़ गांव मनूरी (उ०प्र०)	304	51—00
159.	श्री अरूण कुमार जयपुरिया गाँव सुनाबेदा (उड़ीसा)	324	51—00
160.	श्री सुरेश कुमार कौशिक गाँव डुन्डूखेड़ा (लक्ष्मी नगर) (उ०प्र०)	25	51—00

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

क्र॰	शुभ नाम	रसीद नं॰	राशि (रू॰)
161.	श्रीमति कान्ता शर्मा जी, भिलाई (छत्तीसगढ़)	137	1100—00
162.	श्री रवि कुमार मंगला, अम्बाला शहर	139	501—00
163.	श्री सुधीर कुमार गर्ग, सपुत्र श्री ज्ञान चन्द गर्ग अम्बाला शहर	140	501—00
164.	श्री बैजनाथ, दुर्गा नगर, अम्बाला कैंट	141	500—00
165.	श्री अनिल कुमार व श्री रवि कुमार, दिल्ली—६	138	500—00
166.	श्री बृज मोहन भाटिया रोहिणी, दिल्ली—६	315	50—00
167.	श्री वाई॰ डी॰ कुरूदगी वागीशनगर, (कर्नाटक)	337	50—00
168.	श्री एस॰ एम॰ पाटिल ओसमानाबाद (महाराष्ट्र)	322	45—00
169.	श्री एस॰ एन॰ मूरजानी नई दिल्ली	327	30—00
170.	श्री जगदीश प्रशाद गुप्ता कृष्णा नगर, दिल्ली	114	30—00
171.	श्री एन॰ सी॰ मोहन, पालमपुर (आंध्र प्रदेश)	325	25—00
172.	श्री एस॰ जी॰ सुखलातकर, मुम्बई	332	25—00
173.	डा॰ तरसेम चन्द गर्ग रिवाड़ी (हरि॰)	334	25—00
(a)	पिछला बकाया (अंग्रेजी की धर्म पुस्तक छपने के बाद)		15827—00
(b)	ब्याज मार्च 2001 से सितम्बर, 2002 तक (पी॰ एन॰ बी॰ बैंक मॉडल टाऊन, अम्बाला शहर)		2996—00
	कुल योग		222440—00
(c)	धर्म प्रेमियों को निःशुल्क धर्म ग्रन्थ डाक द्वारा प्रेषित करने का कुल खर्चा, (18 नवम्बर, 2000 से 20 जनवरी, 2003 तक)		— 21117—00
	शेष		201323—00

卐卐

छपाई का खर्चा

(आध्यात्मिक जीवन पद्यावली भाग–1 व भाग–2)

क्र.	विवरण	राशि (रु.)
1.	टाईटल डिज़ाईन (भाग–1 व भाग–2)	2000.00
2.	लेज़र टाईपसैटिंग (भाग–1 व भाग–2)	800.00
3.	डस्ट कवर के पौज़ेटिव, दो–सैट (भाग–1 व भाग–2)	900.00
4.	105 पेजों के नये नैगेटिव (भाग–1 व भाग–2)	850.00
5.	4 रिम आर्ट पेपर, डस्ट कवर तथा फोटो के लिये (भाग–1 व भाग–2)	10,600.00
6.	135 (77+58) रिम, 18.6 किलो भार मैपलिथो पेपर @ 742 रु प्रति रिम (भाग–1 व भाग–2)	100170.00
7.	दिल्ली में 135 रिम पेपर का प्रैस तक ट्रांसपोर्टेशन	650.00
8.	गल्तियों की भाग–1 व भाग–2 के नैगेटिवों में पेस्टिंग	800.00
9.	2300 भाग–1 व 2100 भाग–2 धर्म ग्रन्थों की छपाई	11690.00
10.	पूज्य स्वामी जी के चित्र व डस्ट कवर की छपाई (भाग–1 व भाग–2)	6000.00
11.	टाईटल (डस्ट कवर) व फोटो की लैमीनेशन (भाग–1 व भाग–2)	3300.00
12.	2300 भाग–1 व 2100 भाग–2 धर्म ग्रन्थों की कलाथ बाईडिंग अस्तर का पेपर लगाकर (@ 11.50 रु. प्रति ग्रन्थ)	50,600.00
13.	दो पेज भाग–1 व एक पेज भाग–2 की अलग से छपाई व पेपर	600.00
	कुल खर्चा :	188960.00
—	दान दाताओं से प्राप्त कुल धन राशि (धर्म प्रेमियों को निःशुल्क धर्म ग्रन्थ डाक द्वारा प्रेषित करने का खर्चा निकाल कर)	201323.00
	शेष : 201323 - 188960 =	12363.00

नोट : श्री एस० आर० बतरा प्रो० बतरा टैम्पू ट्रांसपोर्ट सर्विस नारायना, दिल्ली–28 ने दिल्ली से अम्बाला शहर तक भाग–1 व भाग–2 धर्म ग्रन्थों [illegible] के ट्रांसपोर्टेशन की निःशुल्क सेवा की।

"..........चेतन तो ज्ञान रूप से शुद्ध है परन्तु इसके साथ बसी माया का मार्ग सब उल्टा ही है। ज्ञान रूप से तो ईश्वर सब का प्रिय (प्यारा) है ही, परन्तु इसके भुलाने के भाव और जोशों में जो अपने को जगा सका, बोध रूप ज्ञान द्वारा अपना सच्चा हित समझ कर चेत सका अर्थात् अचानक अपने को सम्भालने में प्रस्तुत (तैयार) हो गया तो वह इस माया से मुक्ति पा लेगा; नहीं तो जैसा कुछ बालपन, यौवन और वृद्धावस्था आदि के समय (काल) का है, उसके अनुसार जीव में न जाने क्या-क्या भाव, इच्छायें, संकल्प और उत्तेजनायें (जोश) इसको रात्रि के अन्धकार के समान अज्ञान में डालकर किधर-किधर की ठोकरें खिलाते हैं। इस काल की रात्रि में केवल चेतन रहने वाला पुरुष ही जग सकेगा अर्थात् जो बोध को जगाकर सत्य को पहचानेगा वही इससे मुक्ति पायेगा। यह चेतन या ज्ञानमात्र माया की भूल-भुलैया में कभी भी नहीं बुझता।

इसी ज्ञानमात्र में सदा स्थित माया से परे चेतन हुआ कोई भी, कभी ईश्वर स्वरूप में जगत् में प्रकट हुआ जिसने वास्तव (असल) धर्म को मनुष्य के लिये दर्शाया। उस भगवान् का हमें साक्षात्कार न भी हो, उसे हम अपनी आँखों से न भी देख पायें तो भी वह अपने आप में चेतन (सदा अपने चित् या ज्ञान स्वरूप में बसा), सब कालों में जागने वाला, काल की रात्रि से भी परे है। हमें उसी का ध्यान करना है; माया के सब दोषों से विपरीत उसके गुणों को समझ-समझ कर अपने अन्दर धारण करना है; ऐसी उसकी भक्ति करने से कोई भी पुरुष इस भगवान् के मार्ग से माया से मुक्ति पा सकेगा।"

– आध्यात्मिक जीवन पद्यावली